श्रीगुरुजी व्यक्ति और कार्य

एकपंचाशत्तम जन्मदिवस पर प्रकाशित

श्री गुरुजी

व्यक्ति और कार्य

श्रीगुरुजी : व्यक्ति और कार्य

श्रीगुरुजी : व्यक्ति और कार्य

[मराठी से अनूदित]

लेखक :
ना. ह. पालकर

आवरण–सज्जा
मनोहर

श्रीगुरुजी के एकपंचाशत्तम जन्मदिवस पर प्रकाशित
माघ कृष्ण एकादशी, संवत् २०१२

卐

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम संस्करण,
३ हजार

मूल्य ४ रुपया

卐

-: मुद्रक :-
वा. वा. देवघरे
व्यवस्थापक, गोपाल प्रिंटिंग प्रेस,
नागपुर.

-: प्रकाशक :-
ना. ह. पालकर
डॉ. हेडगेवार भवन,
नागपुर २.

दो शब्द

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्रीगुरुजी (श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर) के ५१ वें जन्म-दिवस (८ मार्च, १९५६ : माघ कृष्ण एकादशी) के शुभ पर्व पर उनका जीवन-चरित्र पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है।

विगत १६ वर्षों में श्रीगुरुजी के गतिमान तथा कर्मयोगी जीवन का, अल्प सा ही क्यों न हो, परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य असंख्य देशबान्धवों को प्राप्त हुआ है। देश के लाखों युवकों को उनके प्रेरक एवं उल्लासपूर्ण सहवास का लाभ मिला है। उनके महनीय जीवन का अधिक परिचय देशवासियों को कराने का यह सुनम्र प्रयास है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अभिवृद्धि के लिए सन् १९४० से ही श्रीगुरुजी निरन्तर अथक परिश्रम करते आ रहे हैं और भविष्य में भारतवर्ष संघ की ओर आत्मीयता एवं आशा से देख सके, ऐसी प्रतिष्ठा उन्होंने संघ–कार्य को प्राप्त करा दी है। संघकार्यार्थ उनका सम्पूर्ण देश में निरंतर भ्रमण जारी रहता है। इस संचार में उनका प्रभावी व्यक्तित्व असंख्य व्यक्तियों को बरबस उनकी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता। इस महान् व्यक्तित्व ने देश में देशभक्ति से प्रभावित विशुद्ध वातावरण निर्माण कर दिखाया है और समाज को यह अनुभूति प्राप्त करा दी है कि संघ के मार्ग का अनुसरण करने से ही सामान्य जनता के चारित्र्य एवं कर्तृत्व का स्तर उंचा उठ सकता है।

श्रीगुरुजी के अलौकिक व्यक्तित्व, संग्राहक वृत्ति तथा शुद्ध मार्गदर्शन के प्रभाव का यद्यपि सहज ही में अनुभव किया जा सकता है, परंतु उनके व्यापक एवं विशाल कर्तृत्व के विकासक्रम का आकलन इस अल्प सहवास से होना कठिन है। श्रीगुरुजी अपने विषय में सहसा कुछ नहीं कहते। अतः उनके पावन सहवास में कुछ क्षण व्यतीत करने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ

है, ऐसे स्वकीयों, स्नेहियों और सहकारियों से प्राप्त जानकारी के आधार पर ही मैं यह चरित्र लिखने में समर्थ हो सका हूं ।

श्रीगुरुजी द्वारा समय समय पर अत्यन्त आत्मीयता एवं निर्भीकता से प्रकट किये जानेवाले विशुद्ध तथा सजीव विचार सुनने और पढने का अवसर प्राय: सभी को प्राप्त होता रहता है। अतएव उनके विचारों की रूपरेखा मात्र ही इस पुस्तक में दी गयी है।

उनके विचारों की मौलिकता, ओजस्विता और उनसे प्रकट होनेवाला प्रचंड आत्मविश्वास स्वामी विवेकानन्द का ही स्मरण दिलाता है। उनकी विचारधारा के विस्तृत विवरण के लिए स्वतंत्र वृहद् ग्रन्थ की ही आवश्यकता होगी।

देश के सम्मुख आज अनेक समस्याएं मुंह बाये खडी हैं। उनका समाधानकारक हल हो और वह भी शीघ्रातिशीघ्र, यही प्रत्येक भारतीय की आंतरिक इच्छा है। परन्तु यह प्रतिभासम्पन्न, कर्तृत्वशाली व्यक्तियों के देशव्यापी सुदृढ संघटन के बिना कैसे सम्भव है ?

गत पीढी के एक प्रमुख क्रान्तिकारी नेता को यह कहने के लिए विवश होना पड़ा था कि – "मेरा जीवन हिन्दू समाज की करुण पुकार है"। इसलिए, जिस जाग्रत संघटना के कारण समाज का प्रत्येक घटक साभिमान कह सके कि "मेरा जीवन त्रिभुवन में निनादित हो उठनेवाला जयनाद है"—ऐसी भव्योदात्त समाज–रचना के हेतु ही श्रीगुरुजी के अनन्यसाधारण नेतृत्व में संघ का महाप्रयास जारी है।

श्रीगुरुजी का जीवन उस गौरवमय महाकाव्य का एक स्फूर्तिदायी सर्ग है, जिसे संघ अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से भविष्य-पट पर अंकित कर रहा है।

इस पुस्तक की रचना एवं प्रकाशन में जिन महानुभावों ने सहायता प्रदान की है, उन सबको मेरा हार्दिक धन्यवाद।

ना. ह. पालकर

अनुक्रम

क	प्रवेश	...	१
१	वंश तथा परिवार	...	३
२	बाल्यजीवन	...	१३
३	अध्ययन तथा अध्यापन	...	२२
४	अध्यात्म की ओर	...	४८
५	जीवन–कार्य का निर्धारण	...	७०
६	संघ का नेतृत्व	...	८९
७	संघ–कार्य का विस्तार	...	१०४
८	श्रीगुरुजी की कार्यपद्धति	...	११४
९	भारत–विभाजन के समय	...	१२३
१०	संघ पर प्रतिबंध	...	१५१
११	कारा–पर्व	...	१७२
१२	संघ का सत्याग्रह	...	१९०
१३	सत्कार–पर्व	...	२१०
१४	निर्वाचन से पूर्व	...	२३१
१५	गोवधनिषेध आन्दोलन	...	२४३
१६	आधुनिक काल	...	२६१
१७	गुरुजी की विचारधारा	...	२७९
१८	गुरुजी का व्यक्तित्व	...	३०४
ख	परिशिष्ट	...	१–३२

★

आर्ट प्लेट्स १
सादा प्लेट्स ४

पृष्ठ संख्या :
३२०+३२+८ = ३६०

★

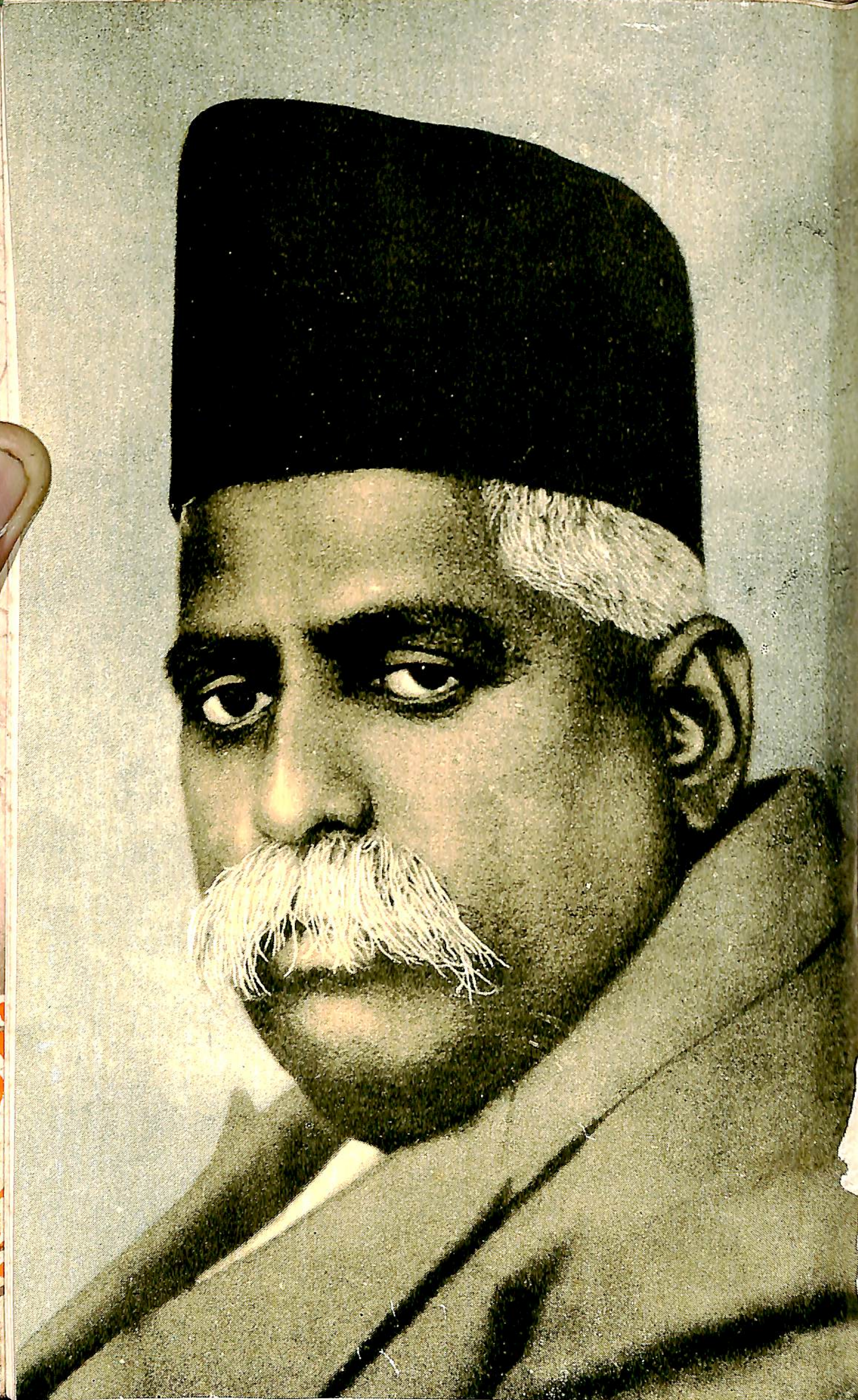

प्रवेश

"कहिये, आज इधर कैसे आना हुआ ?" उदार दल के नेता श्री टी. आर. वेंकटराम शास्त्री ने मद्रास प्रांत के संघचालक श्री वी. राजगोपालाचारी से, जो उनसे मिलने आये थे, प्रश्न किया।

श्रीराजगोपालाचारी ने उत्तर देते हुए कहा, "अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मद्रास शाखा का उत्सव हो रहा है। उसकी अध्यक्षता के लिए आपसे निवेदन करने आया हूँ।"

"लेकिन मैं तो संघ के सिद्धांतों से सहमत नहीं। मेरी राय में संघ साम्प्रदायिक है।"

"फिर भी हम चाहते हैं कि आप आयें और संघ के कार्य को अपनी आँखों से देखें।"

"आपका आग्रह है तो आऊँगा अवश्य, परंतु मुझे जो कहना उचित लगेगा, वही कहूँगा।"

"आप अवश्य अपनी बात कहें। आपके विचार सुनने को मिलें, यही हमारी इच्छा है।"

श्रीवेंकटराम शास्त्री ने अध्यक्ष बनना स्वीकार किया और प्रांतसंघचालक श्रीराजगोपालाचारी ने उनसे विदा ली।

त्यागरायनगर मुहल्ले में स्थित श्रीरामकृष्ण विद्यालय के प्रांगण में नियत समयपर उत्सव प्रारंभ हुआ, जिसमें ५०० गणवेशधारी स्वयंसेवक तथा सैकडों नागरिक उपस्थित थे। उत्सव के प्रारंभ में ध्वजोत्तोलन हुआ, पवित्र भगवा ध्वज को प्रणाम किया गया तथा गणवेशधारी स्वयंसेवकों ने विविध शारीरिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। तत्पश्चात् संघ की भूमिका को स्पष्ट करनेवाला ओजपूर्ण प्रास्ताविक भाषण हुआ, जिसमें

1

वक्ता की विनयशीलता ने अनायास सबका ध्यान आकृष्ट कर लिया।

"मेरे प्रपितातुल्य एक वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध महानुभाव की अध्यक्षता में आज का यह उत्सव संपन्न हो रहा है--" यह था उनके भाषण का प्रारंभिक वाक्य।

लगभग ४५ मिनट का यह भाषण जब समाप्त हुआ, तब सभी श्रोता उसमें व्यक्त तर्कशुद्ध और ओजस्वी विचारों तथा आत्मविश्वास से मंत्रमुग्ध हुए दिखायी दिये।

अंत में अध्यक्ष श्रीवेंकटराम शास्त्री भाषण देने खडे हुए और उन्होंने कहा, "बहुत कुछ कहने का निश्चय करके मैं यहाँ आया था। किन्तु जिन धारणाओं को स्वीकार कर मैं जीवन भर चलता आया हूँ, उन सभी को जडमूल से हिलाने तथा पुर्नविचार के लिए बाध्य करनेवाला भाषण मैंने आज सुना है। अब मेरे पास कहनेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रहा है। मैं आपसे यही कहता हूँ कि इस भाषण पर गंभीरता से विचार करें। श्रीस्वामीजी का यह भाषण ऐसा ही था, जिसपर विचार अवश्य करना चाहिए।"

कहना न होगा कि "स्वामीजी" नाम से अभिहित ये वक्ता रा. स्व. संघ के सरसंघचालक श्रीगुरुजी ही थे। श्री. टी. आर. वेंकटराम शास्त्री से उनकी प्रथम भेंट की यह कहानी सन् १९४६ की है। श्रीवेंकटराम शास्त्री ने गुरुजी की आकृति-प्रकृति के कारण ही उन्हें "स्वामीजी" कहकर संबोधित किया था।

जिस महामहिम के चरित्र और विचार से प्रभावित होकर श्रीवेंकटराम शास्त्रीने उपर्युक्त अर्थपूर्ण शब्द कहे, उनके पावन और कर्मयोगी जीवन की गाथा प्रस्तुत करने का अल्प सा प्रयास इन पृष्ठों में किया जा रहा है। × ×

वंश तथा परिवार

व्यक्ति का नामकरण उसके माता – पिता, सगे – संबंधियों तथा इष्टमित्रों की रुचि और चयन के अनुसार किया जाता है एवं कुल या वंश के नामकरण में गत अनेक पीढियोंका इतिहास तथा परंपरा निहित रहती है। वस्तुतः यह एक मालिका होती है, जिसके मोती भूतकाल में एक दूसरे से जुडे होते हैं तथा जिनकी आब पूर्वजों की तपस्या से प्राप्त होती है। "गोळवलकर" वंश-नाम के पीछे भी एक ऐसी ही उज्ज्वल परंपरा तथा तपस्या विद्यमान है।

भारत के पश्चवर्ती इतिहास में विजयनगर साम्राज्य और उसका इतिहास अत्यंत गौरव तथा ऐश्वर्य से संपन्न माना जाता है। सन् १३३६ में इसकी स्थापना हुई तथा इसका वैभव और विस्तार क्रमशः बढता ही गया। इस साम्राज्य–विस्तार के सहारे कुछ कर्तृत्वसंपन्न परिवारों का आगे आना स्वाभाविक ही था। इस अनुकूल वातावरण में महाराष्ट्र के सरदेसाई, पाध्ये आदि कर्हाडे ब्राह्मण वंशों के आदिपुरुष सह्याद्रि की पर्वत–मालाएं पारकर कोंकण प्रदेश में गये। वे पर्वतमाला के पश्चिमी भाग में, प्रकृति से संघर्ष करते हुए, नये गाँव बसाने में संलग्न हुए। पाध्ये वंश का आदिपुरुष रत्नागिरि जिले के संगमेश्वर भाग में जाकर बसा। पाध्ये वंश का मूल निवासस्थान संगमेश्वर-चिपलूण राजपथ पर, संगमेश्वर से उत्तर की ओर साढे चार तथा चिपलूण से दक्षिण की ओर साढे पच्चीस मील की दूरी पर स्थित एक पहाडी पर था। इसी बस्ती का नाम "गोळवली" है। "गोळवली" शब्द संस्कृत के "गुणवल्ली" या "गुणावली" का प्राकृत रूप हो

सकता है, परंतु इस विषय पर माथापच्ची करना निरर्थक ही होगा। आज सुपारी और आम के घने वृक्षों की ओट में छिपा गोळवली गाँव उपर्युक्त पहाडी की दक्षिणी तलहटी में है, किन्तु पाध्ये वंश के चार चबूतरोंवाले मूल बाडे की दो नींव भरी दीवारें पहाडी पर बनी हैं, जिन्हें कोंकण में गृहबंध कहा जाता है। इन दोनों नींवभरी दीवारों की लंबाई लगभग ६० फीट होगी। आज मूल गृहबंध पर अनेक प्रकार की लताएं बुरी तरह उलझ गयी हैं और इस गृहबंध के पश्चिमी चढान पर, लगभग एक फर्लांग की दूरी पर खडे दूसरे गृहबंध के चारों ओर पीपल, आम और अन्य वृक्ष भीड लगाये खडे हैं।

एक पुराने निर्णय के आधार पर, जो संस्कृत में लिखा हुआ प्राप्त है, यह अनुमान किया जाता है कि इस क्षेत्र में पाध्ये वंश के लोग सन् १३६३ से पहले ही आ बसे होंगे, परंतु अन्य प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती। फिर भी सत्य यही प्रतीत होता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के मध्य में ही कोंकण में आये होंगे।

इस वंश का "पाध्ये" नाम वस्तुत: उसके व्यवसाय का ही निदर्शक था। "पाध्ये" शब्द संस्कृत के "उपाध्याय" शब्द का प्राकृत और लघु रूप है। जैसे जैसे गोळवली के आसपास गाँव बसते गये, पाध्ये वंश को उन गाँवों में धर्माधिकरण, पौरोहित्य, अष्टादिकरण आदि के अधिकार मिलते गये। सन् १६०० के लगभग इस वंश के अधिकार में प्राय: १८५ गाँव थे। पुराने कागज़-पत्रों में यह उल्लेख पाया जाता है कि "पौरोहित्य के गाँव तो बहुत थे, परंतु उसे निभानेवाले पुरुषों की संख्या कम थी।"

इस कारण पौरोहित्य चलाने के लिये कुछ अन्य लोगों की भी सहायता लेनी पड़ती थी। समय बीतने पर ये सहायक पुरोहित उस पौरोहित्य पर अपना स्थायी अधिकार जमाने लगते और उनमें इसी बात को लेकर झगडे आरंभ हो जाते थे। कई बार तो

इनको निबटाने के लिए पूना के पेशवाओं के ही पास ले जाना पड़ता था। इन झगडों का इतना जोर हुआ कि अनेक व्यक्ति इनसे ऊबकर पंढरपुर चले गये और वहीं बस गये। यह स्थान–परिवर्तन संभवत: अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ होगा। ४ अक्तूबर १७२५ को श्रीछत्रपति शाहू महाराज के जलसेनापति, सरखेल कान्होजी आंग्रे ने गोळवलीकर काशी पाध्ये को गोळवली गाँव दान में दे दिया। इस दानपत्र में लिखा है, "ये लोग अग्निहोत्र आदि धार्मिक षट्कर्मों को विधिपूर्वक करते हैं और राजश्रीस्वामी (अर्थात् छत्रपति) के राज्य का कल्याण चाहते हैं। अत: इनका निर्वाह चलाने के लिए गोळवली गाँव इन्हें दान में दिया जाता है, जिसका उपभोग इनके पुत्र–पौत्रादि भी करते रहेंगे।"

इसके बाद घर के झगडों से ऊबकर घाट के इस पार आ बसे पाध्ये पुरुषों ने अच्छा नाम कमाया। काशी पाध्ये के नाती बाबा पाध्ये ने सन् १७६१ के लगभग "धर्मसिंधु" नामक ग्रंथ की रचना कर विशेष सम्मान प्राप्त किया। वे पंढरपुर में रहते थे। स्थान–परिवर्तन कर आने के बाद अपने मूल गाँव के संबंध में व्यक्ति का प्रेम अधिक बढ जाता है और किसी को अपना परिचय देते समय "मैं अमुक गाँव का हूँ," कहने में अतीव संतोष प्रतीत होता है। इसी वृत्ति से प्रेरित होकर पाध्ये वंश के लोगों ने अपने आपको " गोळवलकर पाध्ये " कहना शुरू किया। कालान्तर में इसका " पाध्ये " लुप्त हो गया तथा केवल "गोळवलकर" का ही प्रयोग शेष रह गया।

तदनंतर घाट के इस पार आकर बसे लोग भी इधर–उधर बिखर गये। उनमें से कुछ गोदावरी के किनारे स्थित प्रसिद्ध तीर्थ, पैठण में जा बसे। श्रीसदाशिवराव अर्थात् भाऊजी गोळवलकर इसी शाखा में से एक थे। भाऊजी के दादा, श्रीसखारामपंत गोळवलकर पैठण से सर्वप्रथम नागपुर आये और तभी से नागपुर,

रायपुर, रामटेक आदि के भाग में गोळवलकर वंश की यह शाखा स्थापित हुई। श्रीगुरुजी के वंश का यह संक्षिप्त इतिहास है।

श्रीगुरुजी के पिता, श्रीसदाशिवराव गोळवलकर ने सन् १९०१ में, नागपुर से १० मील दूर स्थित कामठी नामक स्थान में नौकरी शुरू की। वे डाक–तार विभाग के कार्यालय में साधारण लिपिक के नाते काम करते थे। उस समय उनकी गृहस्थी मध्यम श्रेणी की भी सीमा से नीचे उतरकर गरीबी और दुःख का ही जीवन बिता रही थी। नस–नस में तरुण रक्त लहराता हो और मन में आशा–आकांक्षाओं का पार न हो, उस समय यदि नियति विपदा के समुद्र में डुबा दे, तो मनुष्य के लिए इससे बढकर आघात और क्या हो सकता है ? श्रीसदाशिवराव की इस समय ऐसी ही अवस्था थी।

उनके पिता श्रीबालकृष्णपंत अर्थात् बाबाजी कवर्धा रियासत के न्यायालय में रीडर थे। एक बार वे अंग्रेज न्यायाधीश के साथ दौरे पर जा रहे थे। उस दौरे में घोडे पर बैठकर जंगल में होकर जाना पडा। दोनों के घोडे सकरी राह पर सरपट दौडे जा रहे थे कि एक वृक्ष की नीचे तक झुकी डाल पर लगे ततैयों के छत्ते को साहब के टोप का धक्का लग गया। क्षण भर में बौखलायी हुई ततैयों ने बदला लेने के लिए इन लोगों पर जबरदस्त हमला कर दिया। आगे होने के कारण साहब तो निकल गये, सारा हमला बाबाजी को ही झेलना पड़ा। वे चारों ओर से होनेवाले इस भयंकर आक्रमण को सह न सकने के कारण घोडे से नीचे गिर पडे और तत्काल वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। यह कुछ ऐसा ही हुआ मानो चोर को छोड़कर सन्यासी को दण्ड दिया गया हो। लेकिन विधि का विधान यही था और श्रीसदाशिवराव को इसका परिणाम भोगना था। उस समय वे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, परंतु उसे अधूरी ही छोड़कर उन्हें दो वर्ष तक पिताजी के

ही स्थान पर नौकरी करने को बाध्य होना पड़ा। वहीं से सन् १९०१ में वे कामठी आये। इस नयी नौकरी में उनको गृहस्थी के बहुत कष्ट उठाने पडे। फिर भी उन्होंने साहस नहीं छोडा और अपने भाई की शिक्षा जारी रखी।

उनका विवाह आयु के पंद्रहवें वर्ष में ही हो चुका था। उस समय उनकी पत्नी की अवस्था केवल ९ वर्ष की थी। उनके मायके का नाम रायकर था। ससुराल में उनका नाम लक्ष्मीबाई रखा गया। उन्होंने जब अपनी आरंभिक शिक्षा शुरू की, तभी उन्हें ससुराल आना पडा। सन् १९०० के लगभग इस दंपति के पहली संतान हुई परंतु साल भर बाद ही वह जाती रही। उसके पश्चात् हुआ दूसरा बच्चा भी इसी भाँति अल्पायु सिद्ध हुआ। आर्थिक कठिनाइयों के काल में गृहस्थी के लिए संतान एक प्रकार के सुख का केन्द्र बन जाती है, जो अपनी बाल-क्रीडाओं से माता-पिता का दु:ख हरती रहती है। किन्तु इस दंपति को ईश्वर ने यह सुख भी नहीं दिया। सन् १९०३ में जब उनको तीसरा बच्चा हुआ, तो उन्होंने उसका नाम "अमृत" रखा। यह नाम रखकर मानो उन्होंने पुत्र की दीर्घायु की ही एकांत कामना की। इसके तीन वर्ष पश्चात् हमारे चरितनायक के रूप में, इस "अमृत"मय गृहस्थी में "मधु"ने प्रवेश किया।

वह विक्रम संवत् १९६२ की माघ कृष्ण एकादशी (१९ फरवरी १९०६) का प्रातःकाल था। दिन उदय हो रहा था और इस नवोदय की कांति चारों दिशाओं में फैल रही थी। भोंसलों के राजप्रासाद में नगाडे बज रहे थे। वे नगाडे स्वतंत्रता के पुरातन वैभव की मानो याद दिला रहे थे। उनकी मंगल-ध्वनि को सुनते हुए ठीक इसी समय श्रीबालकृष्णपंत रायकर के घर में सकलसौभाग्यमंडित श्रीमती लक्ष्मीबाईने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। इस बालक का नाम यद्यपि माधव रखा गया,

परंतु घर पर उसे प्यार से "मधु" कहकर ही पुकारते थे। आगे चलकर यही नाम रूढ भी हो गया। माधव के जन्म के बाद उनके मामा रायकर के घर की दशा धीरे २ सुधरने लगी, जिसे देखकर उसकी स्नेहमयी मौसी इसका सारा श्रेय माधव को ही देते हुए दुलार भरे अभिमान से कहती, "घर में यह सवाई माधवराव* ही पैदा हुआ है।" अमृत और माधव की यह जोडी राम और लक्ष्मण जैसी ही सुहावनी थी और उनकी बाल-लीला तथा खेलकूद से घर भर में उत्साह छा जाता था। इसी समय सन् १९०८ में श्रीसदाशिवराव को डाक-तार विभाग की नौकरी छोडकर अपनी रुचि के अध्यापन-कार्य में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ।

महाकोशल प्रांत के रायपुर जिले में सरायपाली नामक एक छोटा सा कस्बा है। यहाँ सरकार की ओर से हाल ही में एक मिडिल स्कूल खोला गया था परंतु कोई भी अध्यापक वहाँ जाने को तैयार नहीं होता था। इसका कारण यह था कि यह कस्बा रायपुर से ९० मील तथा रायगढ से ६० मील पर स्थित था और पहुँचने के लिए पगडंडी के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं था। इससे पूर्व सन् १९०७ के लगभग श्रीभाऊजी गोळवलकर ने शिक्षा विभाग में अध्यापकी के लिए आवेदन-पत्र दिया था। जब यह स्कूल खुला, तब अधिकारियों ने इन्हें लिखा कि यदि आप सराय-पाली में रहने के लिए तैयार हों, तो आपको तुरंत नौकरी मिल सकती है। भाऊजी तो किसी भाँति शिक्षा के क्षेत्र में जाना ही चाहते थे। उन्होंने स्वीकृति दे दी तथा बडी ही प्रसन्नता से सरायपाली की राह ली। इस प्रकार वे अंग्रेजी विद्यालय में अध्यापक हो गये।

* हिन्दूपदपातशाही का सर्वोत्तम उत्कर्ष पेशवा सवाई माधवराव के ही काल में हुआ। उसके जन्म के समय पेशवा-शासन बडे संकट में था परंतु बाद में वह उन सबको पारकर गौरव के पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

' भाऊजी '
गुरुजी के पिता

' ताई '
गुरुजी की माता

' दाढी क्यों रखते हैं ? '

कामठी की नौकरी छोडकर ऐसे कष्टदायक गाँव में जाने के लिए भाऊजी को एक विशेष प्रेरणा ने उद्यत किया। उन्होंने सोचा कि शिक्षण के क्षेत्र में रहकर अपनी अधूरी शिक्षा को भी पूर्ण किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त अध्यापन–कार्य के प्रति भी उनमें कम आकर्षण नहीं था। अध्ययन और अध्यापन, दोनों के ही खिचाव के कारण भाऊजी अध्यापक बने और सन् १९२९ तक, जबतक उन्होंने इस क्षेत्र में काम किया, उन्होंने अध्यापक के रूप में अच्छा नाम कमाया। उन्होंने अध्ययन का कार्य भी बडी दृढता से आरंभ कर दिया। एक बार पढ़ाई में बाधा पड़ जाने पर उसे पुनः आरंभ करना बहुत कठिन होता है, परंतु भाऊजी ने मैट्रिक पास करने के पूरे बीस वर्ष बाद इंटर और उसके भी सात वर्ष बाद बी. ए. कर ही लिया। इस दृढ़निश्चय तथा उसके कारण प्राप्त सफलता ने उन्हें बहुत प्रसिद्धि दिलायी। इधर उनकी गृहस्थी भी सँभलने लगी थी तथा दोनों बालक शैशव को पार कर रहे थे।

भाऊजी अध्यापक हो गये। लेकिन पदवृद्धि के लिए अफसरों की जैसी जी-हुजूरी करना आवश्यक होता है, वह उनके स्वाभिमानी स्वभाव के विपरीत थी। उन्होंने न तो कभी सिफ़ारिश करायी और न कभी खुद अफसरों की लल्लो–चप्पो ही की। उनका मूल स्वभाव कुछ उग्र था। इस कारण उन्हें अनेक बार कष्ट भी सहने पडे परंतु उन्होंने उन कष्टों को सहर्ष स्वीकार किया। यदि वे अधिकारियों को प्रसन्न रखने की कला में पटु होते, तो जीवन भर अपनी रुचि के किसी स्थान में रहे आते और बार बार स्थान-परिवर्तन की मुसीबत न झेलनी पडती। लेकिन २१ वर्षो के अध्यापन–काल में उन्हें दुर्ग, रायपुर, चांदा, भंडारा, खंडवा, बालाघाट, नरसिंहपुर, होशंगाबाद आदि स्थानों में अनेक बार मारा-मारा फिरना पडा। गृहस्थी को साथ लेकर

घूमने में स्थान-परिवर्तन कितने कष्टप्रद होते हैं, इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। भाऊजी तो दो वर्ष भी एक स्थान पर जमकर नहीं रह पाते थे कि डंडा–डेरा उखाड़कर अन्यत्र ले जाने की आज्ञा हो जाती थी।

भाऊजी स्कूल में तो वेतन लेकर पढ़ाते थे, क्योंकि इसके बिना अन्य उपाय नहीं था, परंतु विद्यादान की पवित्रता के रक्षार्थ वे घर पर बहुत से विद्यार्थियों को, जिनमें अधिकांश गरीब होते थे, निःशुल्क ही पढ़ाया करते थे। वे सर्वत्र अपनी इस निस्पृहता के कारण ही सर्वप्रिय हुए। उनमें भारतीय गुरु का आदर्श मूर्तिमान हुआ था।

भाऊजी की स्पष्टवादिता कहावत का विषय बन गयी थी। इस संबंध में सन् १९२१ की एक घटना उल्लेखनीय है, जो चाँदा में घटित हुई थी। एक दिन की बात है, वे अपने किसी मित्र के यहाँ गप्पें लड़ाने गये हुए थे। उसी समय मध्य प्रदेश शिक्षा विभाग के एक उच्च अधिकारी भी वहाँ आ पहुँचे। ये अधिकारी महोदय अपनी क्षुद्रतापूर्ण आदतों के लिए सर्वविदित थे। गप्पें जब अपने पूरे रंग में थीं, ये महाशय यों कहते हुए कि "अब तो बहुत विलंब होगया, आज्ञा दीजिये," उठ खड़े हुए और फुर्ती से सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आँगन में पहुँच गये। वहाँ रखे जूतों में से एक बढ़िया लाल रंग का पूना छाप जूता पहिनकर वे चलने भी लगे। उस समय बिना किसी मुरव्वत के, कि इतनी सी बात के लिए इतने बड़े अधिकारी को क्यों लज्जित किया जाय, भाऊजी तुरंत वहाँ पहुँच गये और बोले, "महाशय, यह काम आप जैसों के लिए उचित नहीं। यह नया जूता मेरा है।" इस-पर वे सज्जन "भूल हो गयी," कहते हुए अपना पुराना जूता ही पहिनकर चले तो गये, परंतु उनका मुख झेंप और लज्जा से लाल हो उठा।

गुरुजी की माता, श्रीमती लक्ष्मीबाई को साधारणतया "ताई" के नाम से जाना जाता है। उनकी स्कूली शिक्षा अक्षरों की पहिचान से आगे नहीं बढ सकी, परंतु घरेलू शिक्षा के फलस्वरूप वे रामायण, महाभारत आदि भारतीय कथा–पुराणों की अच्छी जानकार बन गयीं। भाऊजी की नौकरी का अधिकांश महाकोशल में बीतने के कारण उनसे हिन्दी भी भली-भाँति आती है। सहज, प्रेमिल स्वभाव तथा भावुकता ताईजी के विशेष गुण हैं। वे अत्यंत मिलनसार हैं तथा अतिथियों के सत्कार में अतिशय रुचि लेती हैं।

श्रीमती ताई सदा से धार्मिक वृत्ति की रही हैं। गृहस्थी का कारबार सँभालते हुए भी उनका ध्यान तीर्थयात्राओं की ओर बना रहता है तथा इस निमित्त प्राप्त होनेवाले किसी भी अवसर को वे यथासंभव हाथ से नहीं जाने देतीं। सन् १९३४ में महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत गुलाबराव महाराज के शिष्य, श्रीबाबाजी महाराज के नेतृत्व में एक जत्था तीर्थयात्रा करने निकला था। ताईजी भी इसके साथ थीं। पहले तो यह जत्था रेल से हरिद्वार, गंगोत्री, यमुनोत्री मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर, काशी, प्रयाग आदि स्थानों की यात्रा करता रहा। बाद में यह तय हुआ कि अन्य लोग तो रेल से ही वापस लौट जायं परंतु कुछ लोग संगम का पवित्र गंगाजल लेकर पैदल ही संत ज्ञानेश्वर के पावन समाधि–स्थल, आळंदी तक जायँ। यह पद–यात्रा लगभग एक हजार मील की थी। बहुत थोडे ही यात्री इसके लिए तैयार हुए और ताईजी भी उनमें एक थीं। आरंभ में दस मील प्रतिदिन के हिसाब से चलना तय हुआ, परंतु बाद में यात्रा की गति बढ़ती ही गयी। ताईजी ने अत्यंत साहसपूर्वक यह संकल्प पूरा किया। ढाई मास के पश्चात् उन्होंने आळंदी पहुँचकर संत ज्ञानेश्वर की समाधि पर जल चढाया। उस पद–यात्रा में एक स्थान पर किसी ने भूल से ताईजी की पीठ पर गरमागरम दाल लुढका दी। फलत: उनकी पीठ जल गयी और

उस पर फफोले पड गये। यह घटना अनजान में ही हुई थी, अतः ताईजी ने विना कराहे अथवा किसी प्रकार का शोर किये, साधारण दवादारू जारी रखकर ही, अपनी यात्रा पूर्ण की। ऐसी अविचल निष्ठा के साथ उन्होंने यात्राएं की हैं तथा आज भी करती रहती हैं।

कुछ दिन पूर्व भाऊजी ने भी पाशुपतेश्वर, सोनपुर आदि की यात्राएं की थीं, परंतु इससे पूर्व उन्होंने इन बातों में विशेष उत्साह नहीं दिखाया। अवकाश ग्रहण करने के बाद वे सन् १९३४ में आळंदी से पंढरपुर जानेवाली पालकी* के साथ हो लिये तथा "ज्ञानेश्वरी" (गीता पर संत ज्ञानेश्वर का भाष्य) का अध्ययन करने के लिए श्रीसाखरे बाबा के मठ में चार मास तक रहे।

श्रीमती ताई के कुल नौ संतानें हुई। उनमें से श्रीगुरुजी को छोडकर अन्य कोई जीवित नहीं बचा। अमृत भी पंद्रह वर्ष की आयु में सन्निपात का शिकार हो गया। ऐसे करुण दुःख को ईश्वर की इच्छा समझकर इस दंपति ने सहन किया। सन् १९४६ में वयोवृद्ध भाऊजी ने भुसावल में कहा था, 'मेरे कई लडके हुए। उनमें से एक मधु को छोड़कर कोई जीवित नहीं बचा, किन्तु उसने उन सभो की कमी पूर्ण कर दी है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा, "बच्चों की आवश्यकता प्रेम के लिए ही हुआ करती है। संघ के रूप में हमें अखंड और अपार प्रेम का स्थान मिला है, इस बात का मुझे बहुत आनंद होता है।" यह कहते हुए ७८ वर्षीय वयोवृद्ध भाऊजी के नेत्रों से अननुभूत आनंद के अश्रु बह निकले।

इन आनंदाश्रुओं का उद्‌गम-स्थान है, अखिल राष्ट्र में नवजीवन और मंगल का विस्तार करनेवाला, परमपूजनीय सरसंघचालक श्रीमाधवराव गोळवलकर का तपस्वी चरित्र !

---

* यह पालकी प्रतिवर्ष जाती है। इसमें संत ज्ञानेश्वर के खडाऊँ तथा चित्र होते हैं। ढाई सौ मील की इस पैदल यात्रा में हजारों व्यक्ति भाग लेते हैं।

बाल्यजीवन

श्रीमाधवराव का बचपन यद्यपि अन्य बालकों की भाँति सामान्य ही था, परंतु उस समय भी उनकी बुद्धि की कुशाग्रता दर्शनीय थी। छुटपन में बहुत दिन तक उनके बाल कटवाना शुरू नहीं किया गया था। उनका कद मँझोला और शरीर-यष्टि यद्यपि बहुत मजबूत नहीं थी, परंतु उन्हें स्वास्थ्य की शिकायत प्रायः नहीं होती थी। प्रातःकाल भाऊजी के देवार्चन के लिए बैठते ही वे भी स्वतः उनके समीप आकर बैठ जाते तथा भाऊजी द्वारा बोले जानेवाले श्लोकों को रुचिपूर्वक कंठस्थ किया करते थे। उनका उच्चारण स्पष्ट तथा धारणा-शक्ति उत्तम थी। कहते हैं कि सन् १९०८ में, जब वे केवल दो वर्ष के थे, तभी उन्होंने अनेक श्लोक सीख लिये थे। इस अवस्था में भी उनमें यह बुद्धि आगयी थी कि प्रसाद में मिलनेवाली थोडी सी चीनी भी घर के सब लोगों में बाँटकर खानी चाहिए।

सरायपाली तथा दुर्ग में रहते समय तो केवल अक्षरों से ही उनकी पहिचान हो पायी थी। उस समय उनकी आयु कठिनाई से तीन वर्ष की रही होगी। इसके पश्चात् भाऊजी का स्थान–परिवर्तन रायपुर के लिए होगया तथा रायपुर में अमृत के साथ माधव ने भी पाठशाला जाना प्रारंभ कर दिया। इस अवस्था में लड़का यदि स्वेच्छा से पाठशाला जाना शुरू कर देता है और घरवालों से कोई लडाई–झगडा नहीं करता, तो उसकी प्रशंसा और दुलार, दोनों ही किया जाता है। माधवराव भी स्वेच्छा से पाठशाला जाने लगे, परंतु इसका एक कारण जहाँ पढाई-लिखाई

के प्रति आकर्षण था, वहाँ दूसरा कारण रोज सबेरे–शाम गोलियाँ खेलना भी था। स्कूल लगने से पहले तथा अवकाश के समय वे नियमित रूप से गोलियों में जा डटते थे।

अक्षर–ज्ञान कराने के साथ-साथ भाऊजी उनको कुछ न कुछ कंठस्थ कराते रहने की ओर भी विशेष ध्यान दिया करते थे। छठे वर्ष में ही उन्होंने माधवराव को "श्रीरामरक्षास्तोत्र" की पुस्तक लाकर दी। तब उसके संयुक्ताक्षरयुक्त संस्कृत श्लोकों को वे ठीक से पढ नहीं पाते थे। अतः उन्होंने पिताजी से कहा, "आप मुझे रामरक्षा पढकर सुनाइये तथा सुनकर मैं इसे याद कर लूँगा।" इस पर भाऊजी ने स्पष्ट उच्चारण के साथ रामरक्षा के श्लोक उन्हें पढकर सुनाये और कुछ बार सुनकर ही बालक माधव ने उन्हें कंठस्थ कर लिया। इस असामान्य स्मरण–शक्ति के कारण "मधु एकपाठी है" कहकर उनकी प्रशंसा की जाने लगी।

पिताजी के यदा-कदा होनेवाले स्थान-परिवर्तन के कारण माधवराव को बचपन में ही महाकोशल के अनेक स्थान देखने का अवसर मिलता रहा। इस कारण वे स्थान-स्थान के रीति–रिवाजों को समझ सके तथा उनके साथ एकात्मता स्थापित कर सके। उनमें जिज्ञासु–वृत्ति का विकास हुआ तथा उनका दृष्टिकोण उदार बना। इस कारण उन्हें मराठी के साथ हिंदी की शिक्षा भी आवश्यक रूप से मिलती गयी, क्योंकि इन स्थानों में शिक्षा का माध्यम हिंदी ही था। उन्हें जो अध्यापक मिले, उनमें कुछ बंगाल, उडीसा आदि के भी थे। इस कारण उनमें भाषा और प्रांत–भेद की भावना कभी उत्पन्न न हो सकी। उनके आजकल के अखिल भारतीय दृष्टिकोण में शैशव के ही ये संस्कार मूल रूप में कार्य कर रहे हों, तो आश्चर्य की बात नहीं।

भाऊजी माधवराव को स्कूल के अतिरिक्त घर पर भी सदा पढाते रहे। स्वयं अध्यापक होने के कारण इसमें उनको

कठिनाई भी नहीं होती थी। कुशाग्र-बुद्धि माधव प्रत्येक नयी शिक्षा को तत्काल ग्रहण कर लेते थे। कक्षा में पाठ दिया जाने पर वे उसे मौखिक ही हल कर लेते तथा उत्तर देने के लिए उतावली दर्शाते थे। उनके जोर से उत्तर देने पर अन्य विद्यार्थी उसी की नकल कर लेंगे, इस भय से अध्यापक उन्हें हाथपर उत्तर लिखकर दिखाने को कहते थे। बडी कक्षाओं के कठिन सवालों को भी वे तुरंत हल कर दिया करते थे। अतएव उन कक्षाओं के निकम्मे छात्रों को झेंपाकर सही मार्ग पर लाने के लिए अध्यापकगण उनको बुला भेजते तथा समग्र कक्षा के सामने उनसे प्रश्न पूछते थे। लडके को पढाने का भाऊजी का ढंग निराला ही था। वे भोजन के समय माधवराव से गणित के प्रश्न पूछते और माधवराव भी भोजन करते-करते उनके उत्तर देते जाते थे। इतना अवश्य है कि उनका लेख सुंदर नहीं था और इसलिए उन्हें अक्सर डाँट-डपट सुननी पड़ती थी।

एक बार अकस्मात् ही ज्ञात हुआ कि शिक्षा विभाग के निरीक्षक पाठशाला को देखने आ रहे हैं। उस दिन स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण माधवराव घर में ही पडे थे। ऐसे मेधावी छात्र को इतने महत्व के दिन अनुपस्थित पाकर अध्यापकों ने, अन्य छात्रों के द्वारा, उन्हें अक्षरशः उठवाकर ही पाठशाला में लाकर खडा कर दिया। माधवराव ने भी अध्यापकों की आशा पूर्ण करते हुए निरीक्षक के प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर दिया तथा उनकी दृष्टि में पाठशाला की प्रतिष्ठा बढ़ायी। सन् १९१५ में माधवराव ने चौथी कक्षा उत्तीर्ण की और सर्वाधिक अंक पाकर एक छात्रवृत्ति भी प्राप्त की।

प्राथमिक शिक्षा के समय ही भाऊजी ने उन्हें घर पर अंग्रेजी पढाना आरंभ कर दिया था। वे अपने मामाजी को प्रायः अंग्रेजी में ही पत्र लिखा करते तथा छोटी २ किताबें भी मजे में

पढ लिया करते थे। एक बार ब्लेकी की "बहिन-भाई" नामक कहानी की पुस्तक उनके हाथ लगी। इसमें बहिन-भाई की एक जोडी जंगल में भटकती फिरती है और घूमकर थक जाने पर उसे प्यास लगती है। पास की नदी से भाई पानी पी लेता है और उस जल के चमत्कार के कारण मृग बन जाता है। इस अकल्पित घटना से बहिन दुःखी हो उठती है तथा उसके दुःख का वर्णन करते हुए ही कहानी का अंत होता है। माधवराव यह कहानी पढ़ते-पढ़ते उसके साथ इतने समरस हो उठे कि बहिन के साथ वे भी फूटकर रो उठे और कहानी की पुस्तक पूर्ण होने से पहले ही बंद हो गयी। बुद्ध जैसी यह करुणा और शंकराचार्य जैसी एकाग्रता आज भी उनके समस्त जीवन में अनुस्यूत दिखाई देती है।

जब उनकी प्राथमिक शिक्षा समाप्त हो रही थी, तभी खंडवा में उनका उपनयन-संस्कार संपन्न हुआ। तब से वे स्नान, संध्या तथा सूर्य-नमस्कार का कार्यक्रम और भी अधिक दक्षता से करने लगे। वे आलसी की तरह कभी नहीं बैठे रहते थे। सदा ही पढना-लिखना, खेलकूद, गप्पाष्टक या साथी मित्रों में किस्से-कहानी सुनने-सुनाने में लगे रहते थे। भोजन बनाने में ताईजी की सहायता करने में भी उन्हें बहुत आनंद आता था। सभी जगह उनकी वृत्ति कुछ नयी बात सीखने की ओर रहती थी। महाराष्ट्रीय परिवारों में मकर-संक्रमण के पर्व पर तिल पर चीनी चढ़ाकर एक खाद्यपदार्थ तैयार किया जाता है और इसे 'हलवा' कहते हैं। घर में संक्रमण के लिए हलवा बनना प्रारंभ होते ही माधवराव घंटों वहाँ बैठे रहते और, तिल के छोटे २ दानों पर चीनी किस प्रकार चढती जाती है, इसका निरीक्षण करते रहते। एक बार तो उन्होंने स्वयं बडे शौक से हलवा बनाकर ताईजी को दिखाया था। ताईजी के कहीं बाहर

चली जाने पर वे चौके में घुसने का कोई अवसर नहीं छोडते थे। ऐसे ही छोटे-मोटे अवसरों पर पाकशास्त्र के पाठ सीखकर वे उसमें भी पारंगत बन बैठे। नागपुर में अपने मामा के यहाँ रहते समय भी, मामी के कहीं बाहर चली जाने पर वे स्वयं ही भोजन बनाते थे। महाराष्ट्रीय पाकशास्त्र में "पुरण पोली" नाम का एक खाद्य पदार्थ है, जिसको बनाना विशेष कुशलता का काम माना जाता है। रोटी को पतली बेलना, बिना तोडे उसे तवे पर रखना, पलटना और खस्ता सेककर नीचे उतार लेना आदि सभी काम अत्यंत सतर्कता और हलके हाथ से करने पडते हैं। ये सब कार्य उन्होंने अत्यंत कुशलता से सीख लिये थे।

ओजस्वी भाषण देने की कला उन्होंने अपने विद्यालय-जीवन में ही विकसित कर ली थी। सन् १९१७ में वेनगंगा नदी के किनारे छात्रों का एक सम्मेलन होने जा रहा था। उसमें इनके विद्यालय की ओर से भी कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये थे। इन्होंने भी निश्चित विषय पर भाषण देना तय किया और पिताजी की सहायता से उसे तैयार भी कर लिया। सम्मेलन की प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार उन्हें ही प्राप्त हुआ। बैरिस्टर मुलना नामक जो सज्जन इस प्रतियोगिता के अध्यक्ष थे, वे एक बार फिर घूमते हुए इनके विद्यालय में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माधवराव को पहिचान लिया और दूसरी बार उनसे आग्रहपूर्वक वही भाषण सुना। वक्तृता की उनकी यही कला आज अनेक गुना बढ़कर देश के लाखों सुधी श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करती रहती है।

अंग्रेजी स्कूल में प्रविष्ट होने के बाद माधवराव ने अन्य विषयों का अध्ययन करना भी शुरू कर दिया। स्कूल का कोर्स वे घर पर ही तैयार कर लेते थे, इस कारण कक्षा में बैठकर फिर से उसी विषय पर मगज मारना उन्हें बिलकुल नहीं रुचता

था। वे अन्य विषयों की पुस्तकें कक्षा में लाकर पढा करते थे। फिर भी उनका ध्यान निरंतर अध्यापक की ओर ही लगा रहता था, क्योंकि अध्यापक प्राय: परीक्षा लेने के लिए पूछ बैठते थे कि "अच्छा माधव ! अभी यह छात्र जो पाठ पढ़कर सुना रहा था, उसके आगे का भाग तो पढ़कर सुनाओ।" ऐसे समय वे बिना गडबडाये शांतचित्त से उठ खडे होते और ठीक स्थान से पढना शुरू कर देते। इससे इनके कान उमेठने की तैयारी मे खडे अध्यापक विवश हो जाते थे। अध्यापक के यह पूछने पर कि तुम कक्षा में दूसरी पुस्तकें क्यों पढते रहते हो, वे स्पष्ट परंतु संतुलित उत्तर देते, " आप जो विषय पढ़ा रहे हैं, वह मैं पहले ही पढ़ चुका हूँ। अतः समय बरबाद न करने की दृष्टि से मैं अन्य पुस्तक पढ रहा हूँ।" आरंभ में तो इस उत्तर से अध्यापक का समाधान न होता परंतु माधवराव जब उनके प्रश्नों का समुचित उत्तर दे देते, तब वे माधवराव से स्नेह करने लगते थे।

इस प्रकार वे जो पुस्तकें पढा करते, उनके उद्बोधक प्रसंग बाद में अपने मित्रों को सुनाते। शेक्सपियर के नाटक उन्होंने इसी प्रकार पढ डाले थे। उस समय आज की तरह समाचार-पत्र विशेष नहीं निकलते थे, न उनकी ओर माधवराव का ध्यान ही था। विद्यालय से घर लौटकर वे पढाई में कमजोर तथा पिछडे हुए मित्रों को पढाया करते थे। स्वार्थ की भावना से अपना ज्ञान किसी को न बताने तथा इस प्रकार प्रथम उत्तीर्ण होने की संकुचित वृत्ति उन्हें कभी स्पर्श न कर सकी। पिताजी के लगातार होनेवाले स्थान-परिवर्तनों के कारण उनका मित्र-समुदाय निरंतर बदलता रहता था। इस पर भी वे अपने पुराने मित्रों को कभी नहीं भूलते थे और पुरानी मैत्री को प्रत्येक परिस्थिति में निभाने के लिए सचेष्ट रहते थे।

सन् १९१९ में उन्होंने मिडिल की परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की और छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। उस समय वे बालाघाट में थे। उसके पश्चात् क्रमशः उत्तीर्ण होते हुए सन् १९२२ में उन्होंने चाँदा के जुबिली हाईस्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। मैट्रिक में पढते समय वहाँ के व्यायामप्रेमी अध्यापक के मार्गदर्शन में उन्होंने अनेक प्रकार की शारीरिक कसरतों को सीखा और उनमें विशेष रुचि ली। यह अभ्यास उनके शरीर के लिए अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुआ और वह पहले से अधिक स्वस्थ हो गये। वे विभिन्न प्रकार की कसरतों तथा उनके प्रदर्शन में अत्यंत कुशल थे और इस कारण उनके अध्यापक उन्हें मैट्रिक के बाद भी एक वर्ष और उसी नगर में रखना चाहते थे। उन्होंने भाऊजी से इस आशय की प्रार्थना भी की थी।

भाऊजी अपने पुत्र को मैट्रिक की शिक्षा के बाद डॉक्टरी पढने के लिए भेजना चाहते थे। उनकी हार्दिक आकांक्षा माधवराव को डॉक्टर बनाने की थी। कहते हैं कि उस समय एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने भी माधवराव की जन्मकुंडली देखकर यह बताया कि उनकी कुंडली में डॉक्टर बनने का योग विद्यमान है। इस कारण भी भाऊजी की इच्छा को बल मिला। सन् १९२२ के जून मास में उन्हें पूना के सुप्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज में पढ़ने भेजा गया। वहाँ एकादश विज्ञान में उनका नाम लिखाया गया। विचार यह था कि विज्ञान से इंटरमीजियेट कर लेने के बाद वे डाक्टरी पढना शुरू करेंगे। उस समय भाऊजी की आय लगभग १०००) वार्षिक थी। इतनी कम आय में भी वे माधवराव की पूना की पढ़ाई का खर्चा निकालते थे।

माधवराव पूना आ तो गये परंतु विधि को उनका यहाँ रहकर पढना स्वीकार नहीं था। उसी समय बंबई राज्य की सरकार ने यह आदेश जारी किया कि राज्य के कॉलेजों में वे ही

विद्यार्थी प्रवेश पा सकेंगे, जो राज्य के स्थायी निवासी होंगे। इस नये नियम के कारण पूना आने के तीन ही मास के भीतर माधवराव को उसे छोडने के लिए भी विवश होना पडा। वे नागपुर वापस आगये और उन्होंने मिशनरियों द्वारा संचालित हिस्लॉप कॉलेज में प्रवेश लिया। नियति की योजना अत्यंत विचित्र होती है। माधवराव के नागपुर वापस जाते ही बंबई सरकार ने अपने आदेश को वापस ले लिया, मानो नियति ने माधवराव को ही पूना से हटाने के लिए यह जाल रचा हो।

कॉलेज–जीवन में भी माधवराव के अतिरिक्त पठन–पाठन में कोई खंड नहीं पडा। यह तो स्वाभाविक ही था कि विद्यालय की अपेक्षा यहाँ उन्हें अधिक स्वतंत्रता मिलती। उससे लाभ उठाकर वे प्राय: कक्षा से अनुपस्थित रहते तथा किसी मित्र के यहाँ बैठकर पढते रहते। किंतु इसके कारण उन्होंने अपनी नियमित शिक्षा की कभी उपेक्षा नहीं की। यदि कोई उनसे पूछता कि "कक्षा से गायब रहकर क्या करते रहते हो", तो वे उत्तर देते—"वही, जो कक्षा के भीतर किया जाता है।"

इन्हीं दिनों नागपुर के विख्यात गायक और वंशीवादक श्री सावळाराम से उनका परिचय हुआ। इस परिचय के कारण उनकी अंतर्मुखी कलात्मक प्रवृत्ति का विकास हुआ और बाँसुरी बजाने में उन्हें रुचि हुई। कोमल और तीव्र स्वरों का ज्ञान, कला के कौशल को आत्मसात करने की दृष्टि तथा सफलता प्राप्त होने तक जुटे रहने की प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अल्पकाल में ही दक्षतापूर्वक वंशी बजाना भी शुरू कर दिया। वे उसमें घंटों रमे रहते तथा सुननेवालों को मुग्ध कर देते।

हिस्लॉप कॉलेज के संचालक मिशनरी थे। इस कारण वहां बाइबिल का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता था। इस विषय की ओर भी माधवराव का पूर्ण ध्यान रहता था। एक बार प्रोफेसर गार्डिनर ने एक पाठ पढाते समय बाइबिल का कुछ हवाला दिया, परंतु वह गलत था। माधवराव चट खडे होगये और कहने लगे, "यह संदर्भ ठीक नहीं है। वस्तुतः बाइ-बिल में इस प्रकार कहा गया है कि......" और उन्होंने वह पूरा उद्धरण कह सुनाया। इस पर बाइबिल की शुद्ध प्रति वहाँ लायी गयी और उसे देखने पर ज्ञात हुआ कि माधवराव का ही कथन सही है। असंख्य बार बाइबिल का पाठ कर चुकनेवाले प्रोफेसर गार्डिनरने घंटा खत्म होने के बाद, अलग बुलाकर माधवराव की पीठ ठोकी। माधवराव किसी भी विषय का अध्ययन केवल परीक्षा के लिए नहीं करते थे। वे ज्ञान के विविध क्षेत्रों में, उसे भलीभाँति आत्मसात करते हुए ही, प्रवेश करते थे। उनके मन में यह विचार नहीं आया कि कलम घिसकर पेट भरने के लिए किसी भी तरह ग्रैजुएटी की सनद हासिल कर डाली जाय। वे तो अधिकाधिक ज्ञानार्जन की धुन में सदा लगे रहते थे। इसी धुन के कारण उन्होंने १९३७–३८ तक अबाध गति से ग्रंथ–पठन किया।

विद्यालय-जीवन से ही यद्यपि उनमें हॉकी आदि खेलों की रुचि थी, परंतु कॉलेज-जीवन में उन्होंने इस क्षेत्र में भी पर्याप्त यश प्राप्त किया। उनका व्यायाम भी जारी था ही। इस प्रकार विविध विषयों में प्रगति करते हुए उन्होंने इंटरमीजियेट के दो वर्ष बिता दिये। १९२४ में उन्होंने इंटर की परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की। वे विद्यार्थी विज्ञान के थे, परंतु अंग्रेजी में उन्होंने इतनी पारंगतता प्राप्त कर ली थी कि उन्हें अंग्रेजी के ही लिए पारितोषिक मिला। × ×

अध्ययन तथा अध्यापन

अंततोगत्वा माधवराव काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय की बी. एससी. कक्षा में प्रविष्ट हुए। इससे पूर्व उन्होंने लखनऊ के मेडीकल कॉलेज में प्रवेश पाने की चेष्टा की थी, किन्तु अनेक कारणों से वह सफल न हो सकी। माधवराव का काशी जाना उनके जीवन की अतिशय महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुआ। यदि वे काशी न जाकर कहीं अन्यत्र शिक्षा प्राप्त करते, तो आज वे कुछ और ही होते। काशी में ही उन्होंने जीवन का वह पाठ पढा जिसके कारण वे राष्ट्रकल्याणार्थ सर्वस्व–समर्पण कर सके।

काशी नगरी भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की मूर्द्धा है। महामना मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापनाकर इसके महत्व को और भी ऊँचा कर दिया। महामनाके गंगासदृश पावन चरित्र की सुगंधि से इस विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ। सन् १९१६ में स्थापित इस विश्वविद्यालय ने भारतीय विद्या तथा ज्ञान की ज्योति जगाने का संकल्प लिया। दो मील लंबे और सवा मील चौडे भूप्रदेश में, देशी स्थापत्य के अनुसार बने विद्यामंदिरों, ग्रंथालयों, वसतिगृहों, प्रयोगशालाओं तथा व्यायामकेन्द्रों के लगभग १५० गगनचुंबी भवन खडे किये गये। संपूर्ण प्रदेश में लगभग २१ मील लंबी सडकें बनायी गयीं तथा २५ हजार वृक्षों से उसकी शोभावृद्धि की गयी। गंगातट की स्वास्थ्यप्रद हवा, सर्वत्र व्याप्त स्वच्छता तथा बिजली और जल की उत्कृष्ट व्यवस्था ने इन सहस्त्रों विद्यार्थियों लए

ज्ञानार्जन का आदर्श वातावरण तथा सुविधा प्रदान की। इसे वस्तुतः केवल ज्ञानप्राप्ति के उद्देश्य से निर्मित आश्रम का ही रूप प्रदान किया गया। यह भारत का महान् शिक्षाकेन्द्र बन गया, जिसमें सहस्त्रों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे तथा जो वन-प्रदेश में बडे २ पक्के भवन बनाकर निर्मित किया गया था। एक लाख ग्रंथों के पुस्तकालय, सहस्त्रों दुर्लभ चित्रों की चित्रशाला, विशाल क्रीडांगण तथा अन्य साधनों से युक्त यह विश्वविद्यालय महामना मालवीयजी के कर्तृत्व का परिचायक था।

ऐसे महामहिम विश्वविद्यालय में माधवरावजी ने प्रवेश किया। यथाक्रम परीक्षाएं उत्तीर्णकर वे सन् १९२६ में बी. एस्सी. तथा १९२८ में एम. एससी. हो गये। उन्होंने प्राणिशास्त्र विषय लिया था। उसके पश्चात् इसी विषय में विशेष अध्ययन तथा शोध करने के लिए वे मद्रास के मत्स्यालय में एक वर्ष तक रहे। उन्होंने मत्स्य-जीवन को ही अपनी शोध का विषय चुना था। उनका शोध-कार्य पूर्ण न हो सका, क्योंकि इसी समय उनके पिताजी नौकरी से निवृत्त हुए और उन्हें धन का अभाव हो गया।

मद्रास से वे नागपुर लौट आये और कुछ दिन वहीं रहने के पश्चात् सन् १९३० में प्राध्यापक बनकर पुनः काशी विश्व-विद्यालय चले गये। तीन वर्ष तक वे इस पद पर कार्य करते रहे। इस प्रकार उन्होंने विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों की हैसियत से काशी में कुल सात वर्ष व्यतीत किये। इसी काल में उनके जीवन का महत्वपूर्ण आध्यात्मिक मोड आया, अतः उनके इस काल के जीवन को धीमी गति से देखना ही उचित है। परंतु इसका विस्तृत वर्णन करने से पूर्व हम उनके मद्रास में व्यतीत किये जीवन पर एक दृष्टिपात किये लेते हैं।

मद्रास में वे ट्रिप्लीकेन में रहते थे। यह स्थान मत्स्यालय से आधे मील की दूरी पर है। पिताजी से मिलनेवाले पचास रुपयों में ही व्यय पूरा करने के लिए उन्हें हाथ से अपना भोजन बनाना पड़ता था। मद्रास में रहते समय उन्होंने तीन विशेष लाभ प्राप्त किये। पहला यह कि वह शीतज्वर, जो स्थायी रूप से उन्हें घेरे रहता था, एक डाक्टर की चिकित्सा से दूर हो गया। दूसरा यह कि कडी मेहनत करने के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत उत्तम हो गया। तीसरा यह कि भाषा की कठिनाई के कारण उन्हें निरंतर अंग्रेजी का प्रयोग करना पडता था, जिससे अंग्रेजी पर उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त हो गया। ये तीनों ही बातें भावी जीवन की दृष्टि से अत्यंत महत्व की थीं।

मद्रास में माधवरावजी के स्वास्थ्योन्नति की दृष्टि से एक घटना, मनोरंजक होते हुए भी, उल्लेखनीय है। वे प्रायः मित्रों के साथ एक उपाहारगृह में जाया करते थे। उपाहारगृह के मैनेजर से उनका परिचय भी हो गया था। एक बार की बात है कि वे अपनी मंडली के साथ वहाँ बैठे हुए थे। मेज पर लगे काच को देखकर उन्होंने कहा," यहाँ की धकापेल में यह काच कबतक अपनी खैर मनायेगा ?" पास ही खडे मैनेजर ने उनकी बात सुन ली और आगे बढकर कहा," यह काच बहुत मोटा है, इतनी आसानी से टूटनेवाला नहीं है।" इस पर माधवरावजी ने जैसे चुनौती स्वीकार करते हुए पूछा—" क्या आप इस काच की मजबूती देखने को तैयार हैं?" मैनेजर भला इतने लोगों के सामने, जो आसपास की मेजों से उठकर चारों ओर खडे हो गये थे, कैसे पीछे हटता ! उसने कहा," हाँ, हाँ, मै तैयार हूँ। आप अपना करतब दिखाइये तो।" एक क्षण में माधवरावजीने मुक्का उठाया और काच का ढेर कर दिया। बेचारा मैनेजर देखता ही रह गया।

इन्हीं दिनों माधवराव की निर्भीकता तथा विचार की सुस्पष्टता प्रकट करनेवाली एक घटना हैदराबाद के निजाम के मद्रास-आगमन के समय घटी। निजाम राज्य के अतिथि बनकर आये थे तथा मत्स्यालय देखने गये थे। मत्स्यालय दिखाने की व्यवस्था छात्रों को ही करनी पडती थी। निजाम जब सपरिवार द्वार पर आये, तब छात्र इस उलझन में पड गये कि उनसे टिकट कैसे लिया जाय। माधवरावजी ने कहा, "नियम सबके लिए होते हैं, बडे आदमियों को तो उनका स्वतः पालन करना चाहिए।" फिर उन्होंने प्रवेशपत्र खरीदकर ही अंदर जाने के लिए निजाम तथा उनके साथियों से कहा। ऐसा ही हुआ परंतु इस घटना से मत्स्यालय के अधिकारीगण घबडा गये। उन्हें चिंता हुई कि कहीं संस्था को सरकार का कोप-भाजन न बनना पडे। लेकिन माधवराव शांत रहे और उन्होंने उत्तर दिया, "यह शिक्षण–संस्था है। ऐसे स्थान पर तो निजाम को स्वतः ही अधिक धन देकर प्रवेश करना चाहिए था। उनके गौरव को यही शोभा देता। यदि रियायत देनी ही हो तो धनिकों के स्थान पर गरीबों को क्यों न दी जाय?" ऐसी सुस्पष्ट विचारणा तथा निडरता उनके परवर्ती जीवन में भी प्रकट होती है।

मद्रास में माधवराव का नियम था तडके ही साढे चार बजे उठकर काम में जुट जाना। स्नान, संध्या, अध्ययन तथा आध्यात्मिक ग्रंथों का वाचन-मनन उनके दैनिक कार्यक्रम के आवश्यक अंग थे। इन सब कार्यों में विश्राम के लिए उनके पास बहुत ही कम समय बच पाता था। उषःकाल से मध्यरात्रि तक वे अव्याहत रूप से कार्य में जुटे रहते थे। जो थोडा सा अवकाश कभी २ मिल पाता, उसमें वे मित्रों के पत्रों के उत्तर लिखा करते थे। उस समय उनके पत्र १४-१४ पृष्ठों के हुआ करते थे। उनमें साहित्य, दर्शन, अध्यात्म आदि अनेक विषयों

का प्रतिपादन हुआ करता था। ऐसे पत्र लिखने में वे सप्ताह भर तक लगा देते थे और प्रत्येक दिन के लेखन के साथ उस दिन की तारीख पडी रहती थी।

मद्रास जाने से ५–६ वर्ष पूर्व से ही माधवराव का मन वैराग्य की ओर झुक गया था। फिर भी यह असंभव था कि यौवनसुलभ आकांक्षाएं उन्हें चैन लेने देतीं। उनमें शारीरिक शक्ति, बुद्धिसंपदा, कर्तृत्व-चेतना तथा आत्मविश्वास आदि वे सभी बातें थीं, जिनके कारण मनुष्य भौतिक जगत् में अपूर्व सफलता प्राप्त करने में समर्थ होता है। फलस्वरूप एक ओर उनमें देशकाल के अनुसार उत्पन्न होनेवाले विचारों का संघर्ष होता और दूसरी ओर आत्मचिंतन तथा संसार से विरक्ति के भाव जगते। उनके मनोजगत् में इन दोनों की रस्साकशी तीव्रता से चलती रहती थी।

जिस समय सुखदेव, भगतसिंह और राजगुरु ने लाहौर का सॉन्डर्स काण्ड किया, उस समय माधवराव मद्रास में ही थे। इस घटना से उनके मन में जो प्रतिक्रिया हुई, वह एक मित्र को लिखे गये उनके एक पत्र में अंकित है। उसमें वे लिखते हैं, "लाहौर का विस्फोट सुनाई पड़ा। धन्य, धन्य, अनेक बार धन्य। इस बात से संतोष हुआ कि कम से कम आंशिक परिमार्जन तो किया जा सका।'

आगे उन्होंने लिखा, "मैंने आपके साथ अनेक बार विश्व-बंधुत्व, समता, शांति इत्यादि विषयों पर बातें की हैं। मारपीट, दंगाफसाद, बदला, विद्वेष आदि सभी के विरुद्ध आपसे झगडा हूँ और आपको दोष भी दिया है। वही मैं यह लिख रहा हूँ, इस पर शायद आपको विस्मय होगा। ......एक ओर प्रतिशोध तथा यौवन की शक्तिशाली लहर और दूसरी ओर वेदांत की शांत परंतु अडिग् चट्टान। दोनों में उस समय ऐसा प्रबल संघर्ष

हुआ कि मैं बहुत ही असमंजस में पड गया। चित्त सदा ही विचलित रहता था। ऐसी ही अवस्था में काफी दिन बिताने पडने के कारण दो तीन बार बुखार आया, खाँसी चल पडी, दुबला हो गया, आँखें धँस गयीं। मैं इतना बदल गया कि मत्स्यालय का निरीक्षक मुझे जबरदस्ती डाक्टर के पास ले गया। नागपुर में पर्याप्त ज्वर और खाँसी की मार सहकर जर्जर बने शरीर के लिए यह नया ज्वर असह्य हो उठा और डाक्टर ने भी कह दिया कि अच्छी तरह स्वास्थ्य की चिंता न करने पर यह बीमारी दिक में बदल सकती है। इससे विशेष घबडाया नहीं, परंतु तुरंत ही प्रतिबंधक उपायों का अवलंबनकर इंजेक्शन लेना शुरू कर दिया।"

इस संघर्ष से सही सलामत पार हो जाने में माधवराव को दो मास का समय लग गया। तबतक उनके मन में उठा तूफान भी शांत हो चुका था, क्योंकि उन्होंने मन ही मन कार्य की दिशा तय कर डाली थी। वे लिखते हैं, "लोगों में राष्ट्रीय चैतन्य उत्पन्न करना है, हिन्दू और मुसलमानों के असली संबंध क्या हैं, यह दिखा देना है और ब्राह्मण-अब्राह्मण-विवाद समाप्त करना है। यह नहीं कि मैं कोई बड़ा नेता या कार्यकर्ता हूँ, परंतु प्रत्येक को इसमें योगदान देना चाहिए।"

यहाँ यह दर्शनीय है कि संघ के संस्थापक परमपूजनीय डॉक्टर हेडगेवारजी से प्रत्यक्ष रूप में विशेष सम्बन्ध न होते हुए भी इसी समय से माधवराव के मन की भावनाओं के तार डॉ. हेडगेवारजी की हृद्तंत्री के साथ किस भाँति समान रूप में झंकृत होते थे। सन् १९२९ में लिखे गये उपर्युक्त पत्र में पायी जाने-वाली कर्तव्य की अनुभूति और विनय यह बताने में समर्थ है कि आज दिखायी देनेवाला इनका जीवन–प्रवाह किस प्रकार प्रारंभ से ही शुद्ध रहा है।

मद्रास में वे विविध जातियों के जलचरों का सूक्ष्म निरीक्षण तथा अध्ययन करने गये थे। दुर्दैववश यह अध्ययन तो पूरा हो नहीं सका, इसके स्थान पर उन्होंने अंतरंग की गुहा में गहराई तक उतरकर अपनी मनोभावनाओं का सूक्ष्मतम निरीक्षण करने तथा उनको विवेक से नियंत्रित करने में अधिक सफलता प्राप्त की। उस समय घर–गृहस्थी बसाने की तो कल्पना भी उनके मन की देहली को नहीं लाँघ सकती थी। इसके विपरीत वे ही घर की देहली को लांघकर हिमालय के एकांत में जाकर अपने जीवन को अखंड आनंदमय बनाने को तैयार बैठे थे। उस समय की अपनी मन:स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा था, "……यहाँ यह कह देना चाहता हूँ कि केवल क्षुद्र मानवी जीवन के तार के साथ अपना तार भी मिलाने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं। मैं तो चाहता हूँ कि उससे भी अधिक शुद्ध स्वर में विलीन करने के लिए हो सके उतना उसे तान दूँ। इसके लिए तनाव को तो सहना ही पडेगा। इस तानने का अर्थ यह है कि सर्वसाधारण दुनिया से बेतुकापन हो जाय, तो भी उसमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु जीवन का तार उस स्वर्गीय संगीत से बेसुरा न हो।"

वह समझ गये थे कि सुख की ओर ले जानेवाला यह मार्ग कंटकाकीर्ण तथा विकट है और उनका भरपूर यौवन उस औघड मार्ग को भी बडे धैर्य तथा जीवट के साथ पार कर जाने के लिए उन्हें प्रोत्साहन दे रहा था। यह सोचकर कि इस मार्ग पर चलते हुए असफलता ही हाथ लगेगी, आरंभ में ही हिम्मत हार जाने-वाला लचर मन उनका नहीं था। पानी में उतरते ही गोता खाकर डूब जाने की आशंका के कारण, तैरना ठीक से न आने तक पानी को स्पर्श भी न करने की भीरुता माधवराव के पास कभी फटक नहीं सकी। "मारूँगा या मरूँगा" वाला अतिवादी पर्याय

भी उनके मन में सहसा उत्पन्न नहीं होता। परंतु यदि कभी इस प्रकार का पर्याय प्रकट करने का अवसर आ ही जाय, तो उसका भी स्वागत करने की सिद्धता वे व्यक्त कर देते हैं। उसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा है, "सुख की ओर ले जानेवाली राह इसी तरह पथरीली, काँटोंभरी और फिसलनयुक्त होती है। निकल गया तो एकदम उपर के सिरे पर पहुँच जाऊँगा और कहीं फिसल गया तो नीचे की गर्त में गिरकर बिलकुल चकनाचूर हो जाना पडेगा। इस अनिश्चित और खतरनाक राह के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। रंभा को मात देकर कोई विजयी शुक ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है और उसी राह पर चलनेवाला एकाध विश्वामित्र मेनका से हारकर अधःपतित हो जाता है। यह मामला ऐसा ही है। किन्तु केवल इतने मात्र से इस मार्ग को छोडकर यह कहना कि मैं जनसाधारण के कीचडवाले मार्ग से ही चलूंगा, भीरुता होगी। अन्तिम सुख के लिये, उसी के साथ अनिवार्य रूप से अपने हिस्से मे आनेवाले दुःखों का सामना करने और उनपर विजय पाने के लिये, कम से कम आग्रहपूर्वक उसके साथ दो-दो हाथ करने के लिए भी सिद्ध रहना चाहिये। दूसरा कम खतरेवाला मार्ग ही नहीं है।"

ऐहिक बातों से चित्तवृत्तियों को हटा लेने के प्रयास में बार बार उनके मन में सभी बंधन तोडकर सीधे हिमालय चले जाने का विचार आता था। परंतु दूसरों के दुःख से घुल जानेवाला उनका मन उन्हें इस बात के लिए धिक्कारता हुआ कहता, "अकेले अपने ही सुख के लिए सबको दुःखों में छोडकर तुम यह कहाँ जा रहे हो ?" उनके भविष्य के जीवन से प्रतीत होता है कि यही भावना, सबका परित्याग करके हिमालय चले जाने के उनके मार्ग में, बाधा बनकर खडी हो गयी। दि. २८ फरवरी १९२९ के एक पत्र में वे कहते हैं, "मैं संन्यास की दीक्षा तो ले

चुका हूँ परंतु अभी वह पूर्ण नहीं हुई। हिमालय चले जाने का मेरा पहले का विचार कदाचित् शुद्ध नहीं था। इस संसार में रहकर ही, दुनियादारी के व्याघातों को सहते हुये तथा उसके सभी कर्तव्य–कर्मों को व्यवस्थित रूप से निभाते हुए, अब अपने कण–कण में नित्य संन्यस्त मनोवृत्ति को व्याप्त करने का प्रयास कर रहा हूँ। अब मैं हिमालय नहीं जाऊंगा, हिमालय ही स्वयं मेरे पास आयेगा, उसकी शांत नीरवता मेरे ही भीतर रहेगी। उसे प्राप्त करने के लिए अब कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।"

मद्रास में माधवराव के कमरे पर एक बार तीन संन्यासी आकर रहे थे। उनका सारा प्रबंध माधवराव ने स्वतः ही किया था। उनमें से एक काफी पहुंची हुई अवस्था प्राप्त कर चुके थे। उनके प्रति माधवराव का विशेष आदर-भाव था। उनके साथ आने के कारण माधवराव ने अन्य दोनों संन्यासियों का भी अत्यंत सत्कार किया। इन तीनों संन्यासियों में जो प्रमुख थे, वे सदा सत्य बोलते, भगवदुपासना में लगे रहते तथा सेवा के व्रत का पालन करते थे। अपने पूर्वाश्रम में, मद्रास में एक बार वे गलत स्थान पर पेशाब करने के कारण पकडे गये। पुलिस-वाले ने उनके कान में कहा, " कुछ दक्षिणा दो तो तुम्हें छोड दूं या फिर न्यायालय में ही सोलह आने झूठ कहकर रिहाई पा लेना।" यह सुनना था कि उन्होंने अपने लौहसदृश हाथों से, रक्त निकल आने तक, उसकी खबर ली। फलतः एक के बजाय दो चालान किये गये। किन्तु वहां भी लीपापोती करने का तो प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने न्यायाधीश से निडरतापूर्वक कहा, " यह सच है कि मैंने इसे मारा है। यह मुझे झूठ बोलने का उपदेश दे रहा था।" उनपर जुरमाना हुआ, परंतु उसे देने के बजाय उन्होंने कुछ दिन जेल में रहना ज्यादा पसंद किया। यही सज्जन संन्यासी बनकर गुरुजी के घर आये और गुरुजी

उनके संपर्क से कृतार्थ हुए। गुरुजी ने उनकी सत्यनिष्ठा का ही सत्कार किया था। ऐसे युग में, जब लोग एक क्षण में भगवान् का नाम लेकर दूसरे ही क्षण झूठ बोलने और सब भाँति की बेईमानी करने के लिए तैयार हो जाते हैं, ऐसी अखंड निष्ठा दुर्लभ ही कही जायगी।

उन दिनों माधवराव अपने मित्रों से दूर थे, इस कारण उनके पत्र ही उन्हें प्रोत्साहन देते थे। माधवराव इन पत्रों की अत्यंत आतुरता से प्रतीक्षा करते थे। उनके एक मित्र ने एक बार दूसरे के द्वारा उन्हें लिखवाया, "सर्दी में सिकुड़कर जम जाने के कारण पत्र नहीं भेजा जा सका।" इसपर माधवराव ने विनोद करते हुए लिखा, "...उनसे कह देना कि जिस तरह सर्दी के कारण वे बर्फ बन गये हैं, उसी तरह गर्मी के कारण यहाँ मैं भाप बन गया हूँ। अब जम जाने के कारण रक्त-माँस व्यवस्थित होने तक या तो उन्हें प्रतीक्षा करनी चाहिए और यदि वे उतावले हो गये हों, तो उनको अपने पत्र की शीतल चंद्रिका से मेरे ऊपर इतनी वर्षा करनी चाहिए, जिससे पत्र लिखने के लिए आवश्यक कडापन मुझमें आ जाय।"

अकृत्रिम, निर्मल और निर्हेतुक प्रेम आरंभ से ही गुरुजी की विशेषता रही है और सौभाग्य से उन्हें वैसा ही स्नेह प्रदान करनेवाले मित्र भी मिले हैं। जिस प्रकार ध्वनि को प्रतिध्वनि मिलती है अथवा बिंब को प्रतिबिंब मिलता है, उसी प्रकार माधवराव का अपने मित्रों से संबंध रहा है। उनकी मैत्री के प्रत्येक व्यवहार में उत्कटता दिखाई देती है। एक पत्र के अंत में उन्होंने लिखा है, "पत्र समाप्त हुआ। अब एक ही इच्छा से विदा चाहता हूँ। वह यह कि मेरा यह पत्र तुम्हें अपने पूर्ण स्वास्थ्य, सुख तथा आनंद की अवस्था में प्राप्त हो। यहाँ यह भी कहे देता हूँ कि तुम्हारे हिस्से में आनवाला बुखार, दुःख, संकट

आदि जो भी अनिष्ट हो, उसे सहने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ, बशर्ते वह तुम्हें छोड़कर मेरी तरफ आ जाय। परमेश्वर साक्षी है, चाहे तो परीक्षा ले ले।"

मद्रास आये एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि माधवराव को शोध-कार्य छोड़कर नागपुर वापस जाना पड़ा। इसका कारण यह था कि भाऊजी ने अवकाश ग्रहण कर लिया था तथा भविष्य में भी पैसा भेजते रहना उनके लिए असंभव हो गया था। भारी हृदय से मद्रास से विदा लेकर सन् १९२९ के अप्रैल मास में वे नागपुर वापस आगये। इंटर के बाद लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में प्रवेश न पा सकने के कारण चिकित्सक की दृष्टि से 'डॉक्टर' बनने का उनका इरादा सफल न हो सका था और अब प्राणि-शास्त्रविषयक शोध कर विज्ञान के 'डॉक्टर' बनने का उनका प्रयत्न भी व्यर्थ रहा। उनको दो बार डॉक्टर बनने का अवसर मिला परंतु विधि की विडंबना से एक बार भी वे उसका लाभ न उठा सके। किन्तु कुछ वर्षों के बाद सरसंघचालक बनकर उन्होंने अपनी दो बार असफल इच्छा पूरी कर ली। वे राष्ट्रीय महारोग के 'डॉक्टर' बन गये और इस रूप में देशसेवा का व्रत भी उन्होंने साध लिया।

मद्रास से लौटने के बाद वे वर्ष भर नागपुर में ही रहे। इस समय वे अपने मामा रायकरजी के यहाँ रहते थे। काशी में रहते समय अध्यात्म की ओर उनकी प्रवृत्ति झुकने लगी थी। यह झुकाव इस एक वर्ष में और भी पक्का तथा स्थिर हो गया। उनके मामा के बाडे में श्रीवासुदेवराव मुळे नामक एक सज्जन रहते थे। नागपुर के नीलसिटी हाई स्कूल में हेडमास्टर रहकर वे अब अवकाश ग्रहण कर चुके थे। उनके यहाँ वेदांतविषयक ग्रंथों का अच्छा संग्रह था। माधवराव श्रीमुळे के साथ बैठकर वेदांत के सिद्धांतों पर चर्चा करते और कभी २ अंग्रेजी, संस्कृत

या मराठी में लिखे इन ग्रंथों में से एकाध श्रीवासुदेवराव को पढ़कर सुनाते थे ।

अबतक उनकी जागरूक दृष्टि को देश की विविध विकट समस्याएं भलीभाँति दिखायी देने लगी थीं । उनका हल करने के संबंध में भी उनके मन में तरह २ के विचार और कल्पनाएं उठने लगी थीं । कभी २ वे बडी देरतक इन विचारों की तंद्रा में डूबे रहते थे । नागपुर के धंतोली मुहल्ले में श्रीरामकृष्ण मिशन का आश्रम है । उसके साथ इसी समय माधवराव का संबंध आया । प्राध्यायक के नाते उनके द्वारा स्थानीय हिस्लाप कॉलेज में पंद्रह दिनतक की गयी नौकरी को यदि छोड़ दिया जाय, तो कहना पडेगा कि उनका यह सारा समय लौकिक दृष्टि से निरुद्योगी ही बीता ।

१९३० के मई मास के बाद उन्हें काशी विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया गया । जहाँ उनकी शिक्षा हुई थी, वहीं वे प्राध्यापक बनकर गये । यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे स्थान में पुनः वापस जाने और फिर से उसी पुराने वातावरण में रहने पर उन्हें प्रसन्नता हुई हो ।

काशी पहुँचते ही उनकी विविध गतिविधियाँ पुनः आरंभ हो गयीं । यहाँ बिताये गये छात्रजीवन के दिनों में पढाई के कारण उनकी गतिविधियाँ इतनी विविध और व्यापक नहीं रह पाती थीं, जितनी अब रह सकती थीं । फिर भी उस समय उन्होंने कॉलेज की किताबों को ही अपना सारसर्वस्व नहीं माना था । वे परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चिंता रखते थे और उसके अतिरिक्त समय को अन्य कार्यों में लगाते थे । इस अवधि में उन्होंने संस्कृत के महाकाव्य, पाश्चात्य दर्शन, श्रीरामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद का ओजस्वी साहित्य, विभिन्न धर्मों के

आधार–ग्रंथ आदि पढ़ डाले थे और शास्त्रीय ग्रंथों का भी अध्ययन किया था। अध्ययन का यह शौक इतना जबरदस्त था कि एक बार कोई पुस्तक पढना प्रारंभ करने के बाद वे उसे आद्योपांत समाप्त करके ही नीचे रखते थे। कभी २ शाम को हॉकी या टेनिस खेल आने के बाद वे चाय पीकर या भोजन करके पढने बैठ जाते और प्रातःकाल पौ फटने तक पढते रहते। इतनी देर तक जागते रहने के बाद भी वे सुबह दो–तीन घंटे की नींद लेकर अपने काम में लग जाते। उनके अध्यपन–काल में कभी २ उनके कमरे पर आनेवाले एक सज्जन कहा करते हैं, "उनके कमरे का वातावरण एकदम निराला था। जिधर देखिये, उधर किताबें ही किताबें नजर आती थीं।"

पढने के इस शौक के कारण उन्हें अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रहता था। बी. एससी. के दिनों में वे मोतीझरे के बुखार में ४० दिन पडे रहे थे। सामान्यतः देखा यह जाता है कि इतने दीर्घकाल की बीमारी के बाद लोगों में उठकर बैठने की शक्ति भी नहीं रह जाती और कुछ लोग तो दुर्बलता के कारण होश भी खो बैठते हैं। किन्तु माधवराव उन ४० दिनों में तथा उसके बाद भी अव्याहत रूप से किताबें पढते रहे। उस समय के उनके मित्र बताते हैं कि मराठी के विख्यात लेखक स्व. हरिनारायण आप्टे के दो मोटे मोटे उपन्यास वे एक ही दिन में पढकर अलग कर देते थे। किसी मित्र द्वारा मना करने पर कि "इतने बुखार में क्यों पढ रहे हो," वे कहते– "बुखार अपना काम कर रहा है, मुझे अपना काम करने दो।" सन् १९३१ में उनके अंधमित्र श्रीवामनराव वाडेगांवकर का बंबई में आपरेशन किया गया था। उस समय माधवराव उनकी सुश्रूषा के लिए उनके पास थे। वहाँ भी उन्होंने अवकाश के समय में गॉल्सवर्दी का बहुत छोटे टाईप में छपा चार भागों का "Forsyte Saga"

नामक उपन्यास तीन दिन में खत्म कर डाला था। इतनी तीव्र गति से वे किताबें पढा करते थे।

जो पुस्तकें किसी कारणवश उनके पास ज्यादा देर के लिए नहीं आती थीं, उनको भी उतनीं ही देर में उलटपुलटकर, परंतु पूरी तरह देख डालने की कला भी उन्हें आती थी। इस प्रकार पढी गयी पुस्तकें तथा उनका ज्ञान बेमौसम हुई वर्षा की तरह व्यर्थ नहीं जाता था। उन दिनों अध्यात्म में रुचि रखनेवाले कुछ सहाध्यायी उनके मित्र थे। उनके पास कभी कभी माधवराव थियॉसॉफी तथा वेदांत की चर्चा करते पाये जाते थे। इतना अध्ययन करने के कारण उनकी मनोवृत्ति व्यष्टि से समष्टि तथा ऐहिकता से आध्यात्मिकता की ओर झुक गयी। विचारों में शुद्धता आते हीं उसका प्रतिबिंब आचारों में भी दिखायी देता है। माधवराव के आचरण में भी धीरे धीरे परिवर्तन आने लगा और कुछ समय वे ध्यान–धारणा, आसन–प्राणायाम में भी व्यय करने लगे। परतंत्रता, स्वधर्म तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थान के संबंध में स्वामी विवेकानंद के विचारों ने उनको बहुत प्रभावित किया था। इस कारण उनकी धारणा हो गयी थी कि व्यक्तिगत सुखभोग छोड़कर अपना संपूर्ण जीवन राष्ट्रार्पित करने से ही देश के लिए कुछ किया जा सकता है। फलतः यह स्वाभाविक ही था कि उनके मन में अपने जीवन की रचना–विषयक विचार उत्पन्न होने लगे हों। उनके व्यवहार से इस प्रकार की चिंतनशीलता प्रायः प्रकट भी होने लगी थी।

काशी में उनकी छात्रावस्था के पहले चार वर्ष तो आर्थिक कठिनाइयों में बीते ही, प्राध्यापक बनने के पश्चात् भी, जब उन्हें स्वतंत्र और पर्याप्त वेतन मिलने लगा, उनकी ये आर्थिक कठिनाइयाँ दूर नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उनका वेतन अपने छात्रों तथा मित्रों की सहायता में लग जाता था। यद्यपि उनके अध्यापन का विषय प्राणिशास्त्र था, तथापि वे आवश्यकता

पडने पर अपने छात्रों तथा मित्रों को अन्य विषय भी, यथा अंग्रेजी गणित, अर्थशास्त्र, दर्शन इत्यादि पढाने को भी तत्पर रहते थे। ऊँची कक्षाओं में ये विषय पढाने के लिए उन्हें स्वतः इनका अध्ययन करना पडता। किन्तु इस कारण वे इसे एक झंझट समझकर कभी टालाटूली नहीं करते थे अपितु किसी भी भांति पुस्तकें उपलब्धकर, यदि वे पुस्तकालय से मिल गयीं तो वहाँ से लेकर अन्यथा खरीदकर, उनका विधिपूर्वक अध्ययन करते थे। इसके अतिरिक्त अपने होनहार छात्र-मित्रों की बकाया फीस भर देने अथवा उनकी पुस्तकें खरीद देने में उनके वेतन का बहुलांश निकल जाता था। यह सहृदयता ही उनकी आर्थिक तंगी का प्रमुख कारण थी। उनका छात्र-वर्ग उन्हें एक अत्यंत मिलनसार, कठिनाइयों को समझने और समवेदना अनुभव करने-वाले तथा सहायतार्थ सर्वदा तत्पर रहनेवाले प्राध्यापक के रूप में जानता था। उनका प्रगाढ विद्या-व्यासंग कभी छिपता नहीं था। इन्हीं गुणों के कारण उनको अपने छात्रों का अत्यंत स्नेहादर-पूर्ण "गुरुजी" संबोधन प्राप्त हुआ। अपनी सार्थकता के कारण उनका यह नामाभिधान कालान्तर में समग्र भारतवर्ष में व्याप्त हो गया और जहाँ पहले केवल कुछ ही युवकों को इस नाम के उच्चारण का आनंद मिलता था, वहाँ अब यह आनंद राष्ट्रव्यापी हो गया और लक्षावधि युवकहृदयों को प्राप्त होने लगा।

उस समय गुरुजी अपने कमरे में बैठकर बाँसुरी बजाने अथवा सितार छेडने में भी बहुत आनंद लेते थे। सितार के प्रति यद्यपि आज भी उनके मन में रुचि है, परंतु संघ में आजाने के बाद यह समझकर, कि उसके लिए उन्हें जरा भी अवकाश नहीं मिल सकेगा, उन्होंने अपना सितार एक मित्र को दे दिया। उस समय उन्होंने कहा, "अब मैंने जीवन-वीणा के नये ही तार छेडने का निश्चय कर लिया है।"

काशी में श्रीगुरुजी की वेशभूषा अत्यंत सादी और स्वच्छ रहा करती थी। उन्होंने वस्त्रों की अस्वच्छता कभी स्वीकार नहीं की। एक बार रात के समय जब वे मित्रों से मिल-कर अपने कमरे में वापस आये तब उनका पजामा मैला हो गया था। उन्होंने तुरंत ही उसे उतारकर एक नया धुला हुआ और लोहा किया पजामा पहन लिया। इस पर उनके साथी ने पूछा कि " इस समय, जब सोने का ही काम शेष रह गया है, पजामा बदलने की क्या जरूरत है ?" उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, " कपडा मैला होते ही उसे बदलना चाहिए। फिर चाहे दिन हो या रात।"

इस संबंध में एक और घटना भी उल्लेखनीय है, जिससे पता चलता है कि कपडों के दास बनना भी उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। एक बार, जब वे सैर करने गये थे, वर्षा हुई और वे पूरी तरह भीग गये। व्यर्थ दाँत बजाते रहना बेकार समझकर वे समीप के ही छात्रालय में अपने एक मित्र के यहाँ चले गये। मित्र ने उन्हें भीगा देखकर साफ और धुले हुये कपडे उनके लिए निकाल दिये। उनमें से एक पैंट पहिनकर वे सहज ही पालथी मारकर जमीन पर बैठ गये। किन्तु उनके इस प्रकार बैठने से पैंट की क्रीज बिगड गयी, जिससे मित्र को रोष हुआ। इस पर गुरुजीने " ले भाई, सँभाल तू अपनी पैंट और उसकी क्रीज," कहते हुए तुरंत उसे उतार डाला और जाँघिया पहने ही अपने छात्रावास की ओर दौड पडे। अपने कमरे में आकर उन्होंने कपडे पहने और अगले काम में लगे। उनका कहना था कि कपडे साफ धुले और लोहा किये हुए तो होने ही चाहिए, परंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कपडे ही हमारे लिए हैं, हम कपडे के लिए नहीं।

विश्वविद्यालय के समीप ही गंगाजी की धारा होने के कारण वे प्राय: उधर घूमने या तैरने के लिए जाते थे। अनेक

बार वे अपने मित्रोंसहित वहाँ जाकर व्यायाम तथा खेल-कूद भी करते थे। फिर भी शीतज्वर उनका पीछा नहीं छोडता था तथा विद्यार्थी-जीवन में प्राय: उनको पीडित करता रहता था। काशी के अपने विद्यार्थी-काल में उन्हें सदा स्वास्थ्य की कोई न कोई शिकायत बनी रहती थी। परंतु इस कारण वे रात्रि में जागते रहकर देर तक पढना तथा काम करना बन्द नहीं कर सके। बुखार आता और कुछ दिन रहकर चला जाता। जिस प्रकार कोई रईस अपने यहाँ आनेवाले किसी सामान्य व्यक्ति की अधिक चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार गुरुजी इस रोज के मेहमान की ओर अधिक ध्यान नहीं देते थे। ज्वर आने के समय भी वे प्रसन्न तथा कार्य-व्यस्त रहते। आसन और व्यायाम के द्वारा उन्होंने अपने शरीर को मजबूत तथा सहिष्णु बनाया था और संकल्प-शक्ति पर अपना स्थायी अधिकार प्राप्त कर लिया था।

ऐसे समय, जब समस्त आकाश में काले कजरारे घन घिरे हों, कडकडाती बिजली से दिक्‌मंडल व्याप्त हो तथा गर्जनामय आँधी और मूसलाधार वर्षा से मेदिनी की सौंधी सुगंध चारों ओर फैल रही हो, गुरुजी मजे में सैर करने निकल पडते और प्रकृति के रौद्र तांडव का आनंद लेते। साहस के कार्यों में वे सदा अग्रणी रहते थे। सन् १९३२ में अपने कुछ मित्रों के साथ वे नागपुर जाते हुए जबलपुर में रुके। वे समीप ही स्थित भेडाघाट जाकर नर्मदा का उग्र रूप देखना चाहते थे। अत: मित्रोंसहित वे बंदरकुदी पहुंचे तथा संगमरमर और संजीरा जाति की विकट चट्टानों को पार करके महामंथनकारी नर्मदा का तूफानी परंतु मनोरम दृश्य देखने लगे। इसी समय उनकी इच्छा हुई कि जिस चट्टान पर खडे हैं, उससे नीचे उतरा जाय। यह उतराई बहुत उबड-खाबड और भयंकर थी तथा इसे संपन्न करने के लिए

विकट साहस की आवश्यकता थी। उन्होंने अपने मित्रों को यह इच्छा बतायी परंतु उनमें से आगे बढने की सहमति प्रायः किसी ने प्रकट नहीं की। लेकिन इतने में गुरुजी तो नीचे उतरे ही जा रहे थे। उनकी देखा-देखी ५-६ मित्र उनके पीछे नीचे उतरने लगे। वे सकुशल नीचे पहुँच गये और देरतक बिलकुल समीप से नर्मदा का आनंद लेते रहे। फिर जब वे चढने को तत्पर हुए तब उन्होंने पाया कि यह तो उतराई से भी कठिन है। इसका कारण यह था कि चट्टान प्रायः सीधी ही खडी थी, चिकनी होने के कारण उसपर फिसलन थी और बीच में पैर रखने की सुविधा नहीं थी। इस बार भी गुरुजी सबसे आगे थे। जब वे ऊपर पहुँच गये, तो उन्होंने देखा कि उनके दो साथी बीच ही में अटक गये हैं और बिना किसी सहारे के ऊपर आ पाना उनके लिए संभव नहीं है। यह देखकर गुरुजी फिर नीचे उतरे और उन दोनों को सहारा देते हुए धीरे-धीरे ऊपर ले आये। प्रकृति के रुद्र रूप का छककर आस्वाद लेने के बाद वे वहाँ से चलने को तैयार हुए और चलते समय उन्होंने कहा, " मरना हो तो यहीं आकर मरना चाहिए।"

काशी के अपने निवास में गुरुजी ने थियॉसॉफी के ग्रंथों का विशेष अध्ययन किया था। कुछ मेधावी छात्र भी थियॉसॉफी के अध्येता थे और इस विषय में रुचि लेते थे। देसाई नामक एक छात्र से, जो थियॉसॉफी के अच्छे ज्ञाता थे, उनकी घनिष्टता इसी समय स्थापित हुई। पहले तो श्रीदेसाई विश्वविद्यालय से बाहर रहते थे परंतु बाद में वे गुरुजी के कमरे में आकर रहने लगे। वे उत्तम कवि तथा गायक थे। उन्हें विभिन्न वाद्यों का अच्छा अभ्यास था तथा समय-समय पर वे कीर्तन भी करते थे। उनकी बुद्धि अत्यंत प्रखर परंतु दिखने में अत्यंत सरल थे। वे अपने से छोटे विद्यार्थियों की सहायता करने के लिए सदैव तत्पर

रहते थे। उनका आचरण शुद्ध, अध्यात्म–ज्ञान गहरा तथा अंत.करण भक्तिपूर्ण था। इन सब कारणों से गुरुजी के मन में उनके लिए विशेष स्नेह और आदर था। मद्रास जाने के बाद भी उन्होंने पत्र–व्यवहार के द्वारा श्रीदेसाई से संबंध बनाये रखा। उनके सहावास तथा संपर्क से गुरुजी को अत्यंत आनंद होता था। गुरुजी के मित्र बताते हैं कि थियॉसॉफिकल सोसायटी का प्रभाव उनकी वेशभूषा पर भी हुआ था। सोसायटी के सदस्यों में लंबे, ढीले और गले तथा गर्दन पर बटनवाले दुग्धश्वेत कुर्ते का चलन था और गुरुजी ने भी ऐसा ही कुर्ता पहिनना आरंभ कर दिया था।

इसी काल में उन्होंने आसन लगाकर ध्यान–धारणा करने का भी अभ्यास आरंभ किया। स्नान करके वे अपने लोहे के पलंग पर ही बैठ जाते और देरतक ध्यान में निमग्न रहते। एकांत के समय वे प्रायः चिंतन किया करते थे और विश्व तथा जीवन की गूढ पहेलियाँ सुलझाने में लगे रहते। उनका मन प्रत्यक्ष घटित होनेवाली घटनाओं से संतुष्ट नहीं होता था अपितु उनके मर्म तक की शोध कर डालना चाहता था। सायंकाल रोशनी जलाते समय जब पतंगे इधर–उधर से आकर उसके चारों ओर एकत्र हो जाते तथा फिर कोई छिपकली आकर उनको अपना खाद्य बनाना शुरू कर देती, तब उनका मन इन कोमल कीटाणुओं की व्यथा से द्रवित हो जाता था। उनकी बुद्धि इसके दर्शन की मीमांसा में लग जाती थी। कुछ समय बाद लिखे गये, अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है, "एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी का भक्षण ईश्वर की ही निर्मिति है। शेर हिरन को मारकर खा जाय, यही नियति की व्यवस्था है। अब यदि अहिंसा की श्रेष्ठ प्रेरणा से हम इन भक्ष्यों को बचाने लग जायँ, तो क्या उन भक्षकों को भूखा मारने की हिंसा पल्ले

नहीं पडेगी ? यह ठीक है कि चिडिया के लिए कीडे–मकोडे ही एकमात्र भोजन नहीं हैं और वह अन्य वस्तुओं से भी अपना पेट भर सकती है, किन्तु तबतक भूख की पीडा और परोसी हुई थाली छिन जाने की वेदना तो उसे सहन करनी ही पडेगी। किसी के मन को दुखाने से भी तो हिंसा होती है। ऐसी दशा में क्या किया जाय ? क्या उसे कीडे–मकोडों को खाने दिया जाय ? और कर भी क्या सकते हैं ? किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः। हम भी किस खेत की मूली हैं ?...... बनारस में जब छिपकली कीडे–मकोडों का संहार करने में जुट जाती, तब ऐसे ही विचार मन को सताते थे। उस समय मैं उन्हें चार–पाँच पतंगों को खाने देता। तबतक मैं उसके भोजन में कोई बाधा नहीं पहुँचाता था। परंतु यदि वह इसके बाद भी, अच्छा माल हाथ लगा समझकर उनका अमर्याद सफाया करने में लगी रहती, तो मैं उसे भगा देता था। लेकिन यह भी कब-तक ? जबतक मेरा ध्यान उधर हो तभी तक न ? बाद में मेरे पीछे क्या होता था, इसे मैं कैसे जानता ? इसलिए मानना पडा कि यही ईश्वर की व्यवस्था है––' जीवो जीवस्य जीवनम् '।" पाठक देखें कि जीवन–दर्शन के इस विश्लेषण में कितना संतुलन है।

अपने मित्र, प्राध्यापक पवार के साथ श्रीगुरुजी जब एक ही स्थान पर रहते थे, तब उन्होंने रामसेवक नामक एक नौकर रखा था। वे उसकी इतनी चिंता तथा देखभाल करते कि आगुन्तकों को रामसेवक के नौकर होने की कल्पना भी न होती थी। वे उसे खाने–पीने तथा रहने–सहने की सुविधाएँ अपने समान ही देते थे। एक बार चाय की ट्रे लेकर बाहर आते समय रामसेवक के हाथ से ट्रे छूट गयी और चाय तो बह ही गयी, कुछ प्याले आदि भी फूट गये। यह आवाज सुनते ही गुरुजी

दौडकर उसके पास पहुँचे और पहली बात यह पूछी, "गरम चाय के कारण तुम्हारा शरीर जला तो नहीं ?" इस आत्मीयता से जब रामसेवक की झिझक समाप्त होगयी, तब उन्होंने मजाक करते हुए उससे दूसरी बात वह कही, "मैं नहीं समझता था कि तुम इतने कमजोर होगे ? तुम तो कई प्यालियाँ नहीं फोड सके।" इस प्रकार उन्होंने अत्यंत मधुर ढंग से उसे सावधानी बरतने की शिक्षा भी दे दी। दूसरे की भावनाओं से समरस होने का स्वभाव उन्होंने आरंभ से ही पाया है तथा स्वेच्छित सुधार करवा लेने का कौशल उन्होंने अभ्यासपूर्वक प्राप्त कर लिया है। उनके इसी गुण में से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की हार्दिक अभिन्नता तथा अनुशासन की चेतना प्रकट हुई है।

गुरुजी के मित्र बताते हैं कि उनके स्नेह की मधुरता आरंभ से ही अपूर्व रही है। इस स्नेह में आडंबर तथा प्रदर्शन नहीं है अपितु मित्र के लाभ की हार्दिक कामना होती है। अपने किसी मित्र में कोई दोष दिखायी देने पर वे उसे कुशलतापूर्वक दूर करने की चेष्टा करते हैं। इस पर भी वे ऐसा व्यवहार कभी नहीं करते, जो दूसरे को सहन न हो सके। वे यह कभी नहीं कहते कि अमुक बात करनी ही होगी। वे अपने ही आचरण से दूसरे को संशोधन कर लेने के लिए बाध्य कर देते हैं। यदि वे पाते कि उनका कोई मित्र टमाटर, प्याज, हरी मिर्च और चटनी के बिना भोजन नहीं कर सकता, तो वे उसके कमरे में पहुंचकर, इच्छा न रहने पर भी, ये सब चीजें खुद खा जाते और कहते, "अमुक वस्तु के बिना खाना नहीं हो सकता, यह आसक्ति क्यों होनी चाहिए ?"

नियमित व्यायाम के कारण उनका आहार भी अच्छा था। जिस मेस में एक दिन के भोजन के लिए तीन आने के लगभग व्यय होता था, वहाँ एक अन्य मित्र के साथ पहुंचने पर

यह व्यय साढे चार आने तक पहुंच गया। इस पर से उनके आहार की कल्पना की जा सकती है। गुरुजी के यौवनसुलभ सामर्थ्य, साहस और सहनशीलता का अनुभव उनके मित्र प्रायः किया करते थे। एक बार होड लगने पर वे पांच सेर तक दूध पी गये थे और दूसरे अवसर पर उन्होंने ८-१० दिनतक केवल जल लेकर ही समय बिताया और अपना दैनंदिन व्यवहार भी नियमित रूप से जारी रखा। इसी समय जोरों से पढाई करते समय उनके पैर को बिच्छू ने काट खाया था, किंतु दंश-स्थान पर दवा लगाकर उन्होंने शांतचित्त तथा एकाग्रतापूर्वक अपना अध्ययन जारी रखा था। यह पूछा जाने पर कि, "तुम्हें बिच्छू ने काट लिया, फिर भी क्यों पढे जा रहे हो," उन्होंने उत्तर दिया कि, "बिच्छू ने पैर को काटा है, सिर को तो नहीं।"

लगभग इन्हीं दिनों, जब श्रीगुरुजी काशी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बने, आद्यसरसंघचालक परमपूजनीय डॉक्टर केशवरावजी हेडगेवार की प्रेरणा से कुछ छात्रों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक शाखा स्थापित की थी। काशी भारत में विद्या का एक प्रमुख केन्द्र होने के कारण डॉक्टरजी का यह सोचना स्वाभाविक था कि प्रांत-प्रांत से विविध विषयों की स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए आनेवाले यहां के मेधावी तथा होनहार छात्रों तक संघ की विचारधारा पहुंचायी जाय। सन् १९३०-३१ के आसपास का यह काल संघ के शैशव का ही था। उस समय की दशा ऐसी नहीं थी कि शाखा खोलने से ही संघ की विचारधारा प्रसृत हो जाय। व्यक्ति से कई बार भेंट करने तथा अपने सौजन्य और स्नेह से आकृष्ट करने के बाद ही वह विचारधारा सुनने को तैयार होता था। पश्चिम से प्रभावित, स्वार्थ में रत तथा प्रसिद्धि के लिए लालायित आज के नेतागण भी जहाँ संघ की विचारधारा को त्रेतायुगीन और कार्यपद्धति को

लडके–बच्चों के लिए ही निर्मित मानते हैं; वहाँ उन दिनों, जब कि आज जैसा लक्षावधि ध्येयनिष्ठ युवकों का संघटन इस विशाल रूप में उपस्थित नहीं था, संघ में आनेवाले युवकों की समाज ने कितनी उपेक्षा की होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। फिर भी इन उपेक्षितों के अंतरंग को समझ सकनेवाले कुछ सुज्ञ व्यक्ति भी समाज में विद्यमान थे। इसी कारण उस समय की उपेक्षा आज दिन–अपेक्षा में बदल गयी है।

संघ की काशी शाखा में जानेवाले अधिकांश युवकों से श्रीगुरुजी का न केवल अच्छा परिचय ही था, अपितु उनके साथ पारस्परिक सौहार्द का संबंध भी स्थापित हो गया था। मद्रास से लौटने के बाद गुरुजी जब एक वर्ष के लिए नागपुर में रहे थे, तब वे प्रसिद्धिपराङ्मुख रहकर शांतिपूर्वक काम करनेवाले डॉक्टर हेडगेवारजी के नाम से परिचित हो चुके थे। काशी में उनके विद्यार्थी मित्रों ने संघ के साथ हुए उनके परिचय को और भी घनिष्ट बनाने का प्रयत्न किया तथा इसमें उनको पर्याप्त सफलता भी मिली।

संघकार्य में सततता, बिना ढोल पीटे कार्य करते रहने की पद्धति तथा इस प्रकार व्यक्ति को क्रमशः समष्टि में विलीन कर देने की जीवनदृष्टि आदि कुछ ऐसी बातें थीं, जो किसी भी सात्विक वृत्तिसंपन्न व्यक्ति को अपनी ओर सहज आकृष्ट कर लेतीं। गुरुजी किसी भी वस्तु का बाह्य रूप देखकर कभी कोई धारणा नहीं बनाते थे। अबतक के संस्कारों और विचारों के फलस्वरूप वे प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करने से पूर्व जीवन की मूलभूत आध्यात्मिक कसौटी पर कसते थे। इस दृष्टि से जब उन्हें संघ–कार्य में विशेषता प्रतीत होने लगी, तब वे टेनिस का रैकेट या हॉकी की स्टिक एक ओर रखकर संघ–शाखा में जाने लग गये। अपने विद्याव्यासंग, योगासन और ध्यान–धारणा के

कारण आरंभ में वे अनियमित ही थे। किंतु संघ के तत्वज्ञान, स्वयंसेवकों के जीवट तथा कार्यक्रमों के आकर्षण के कारण वे सन् १९३३ के पूर्व से ही काशी–शाखा पर व्यक्तिगत ध्यान देने लगे। उनके व्यवहार के कारण स्वयंसेवक अनजाने ही उनको संघचालक के नाते देखने लगे। गुरुजी जैसे छात्रप्रिय प्राध्यापक द्वारा काशी–शाखा की ओर ध्यान दिया जाना आरंभ करते ही डॉक्टरजी ने उन्हें तथा श्रीसद्गोपालजी को नागपुर–शाखा के विजयादशमी महोत्सव में भाग लेने के लिए निमंत्रित कर दिया तथा उन्होंने यह निमंत्रण स्वीकार भी कर लिया। इस नागपुर–यात्रा में डॉक्टरजी उन्हें भंडारा भी घुमा लाये और इस प्रकार अपने व्यक्तिगत सहवास में उन्हें संघ की सुस्पष्ट कल्पना करा दी। नागपुर से वापस लौटकर गुरुजी ने काशी–शाखा की ओर पहले से अधिक ध्यान देना आरंभ कर दिया।

श्रीगुरुजी का संघ में जाना आरंभ होने पर उनके प्राध्यापक मित्रों में भी प्रायः संघविषयक चर्चा चलने लगी। उनमें जो प्रचलित वादों के समर्थक थे, वे गुरुजी से पूछते, "संघ का किस वाद में विश्वास है ? उसका अपना वाद कौनसा है ?" कुछ लोग उनको नयी नयी बातें भी सुझाते थे। वे कहते, "आप अपने संघ में अमुक बात सिखाइये।" इसपर गुरुजी आत्मविश्वासपूर्वक कहते, "आज मैं जो 'संघ' सिखा रहा हूँ, उसी 'संघिज्म' का अध्ययनकर आप लोगों को वह छात्रों को पढाना पडेगा।" इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय भी, जब संघ से गुरुजी का संबंध आरंभिक अवस्था में ही था, उन्हें संघ की विचारधारा की सफलता का दृढ विश्वास था।

शाखा में आकर सभी कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए गुरुजी धीरे धीरे योजनापूर्वक समय निकालने लगे। शाखा में कार्यक्रम कराने के लिए यदि उन्हें किसी कमी की पूर्ति आव-

श्यक प्रतीत होती, तो वे बिना ढोल पीटे स्वत. उसे पूरा करा दिया करते थे। शिविर या ट्रिप के लिए जानेवाले स्वयंसेवकों को वे कभी कभी कुलपति महामना मालवीयजी के पास ले जाते और उन्हें महामना का आशीर्वाद दिलाते, जिससे उनके कार्यक्रम में स्फूर्ति की मात्रा द्विगुणित हो जाती थी। निवास के समक्ष स्वयंसेवकों के एकत्र होते ही निर्मलचरित्र, शुभ्रवेशी महामना बाहर आते और वेदमंत्रों से उनपर आशीर्वाद की वर्षा करते। यह बात नहीं कि महामना संघ की सभी बातों से सहमत थे। यही नहीं, उन्हें अपने प्रचंड उद्योग के सामने संघ का उन दिनों का स्वरूप अत्यंत लघु ही प्रतीत होता था। किन्तु संघ का सदा ही यह तंत्र रहा है कि विवाद तथा चर्चा से नहीं, अपितु शुद्धाचार और सद्भावना से ही व्यक्तियों के हृदय जीते जायँ। इस तंत्र में समाज के महान् व्यक्तियों तथा नेताओं को यथायोग्य सम्मान प्रदानकर उन्हें अपना बना लेना भी शीर्षस्थानीय है। यह कैसे संभव था कि मालवीयजी जैसे सात्विकमना और पूतजीवन व्यक्ति पर संघ के स्वयंसेवकों का प्रभाव न होता ? परिणाम यह हुआ कि वे भी क्रमश: संघ के सच्चे रूप को समझने लगे और स्वयंसेवकों को हार्दिक आशीर्वाद देने लगे। उन्होंने शाखा के लिए विश्वविद्यालय में पृथक् स्थान तथा कार्यालय के लिए कमरे की व्यवस्था कर दी।

इस आयु में श्रीगुरुजी अपने पिताजी के समान ही नियमपालक तथा उग्र थे। उनका मत था कि क्या कक्षा में और क्या बाहर, प्रत्येक जगह छोटे–बडे सब व्यक्तियों को निर्धारित नियमों का पालन करना ही चाहिए। कक्षा में वे अपने छात्रों को कडे अनुशासन में रखते थे। एक बार " ओल्ड बॉयज एसोसियेशन " के सभाग्रह में एक कार्यक्रम था। उसका प्रबंध अनुशासनदक्ष स्वयंसेवकों को सौंपा गया था। व्यवस्था–

प्रमुख की हैसियत से श्रीगुरुजी ने स्वत. ध्यान देकर प्रत्येक प्रकार के लोगों के लिए पृथक् प्रवेश-द्वार निर्धारित कर दिये। द्वारों पर स्वयंसेवक खडे होगये और लोगों का आगमन प्रारंभ होगया। ऐसे अवसरों पर कुछ बडे लोग नियम-भंग को ही अपने बडप्पन का चिह्न मानकर आचरण करते दिखायी देते हैं। इसी वृत्ति से जब एक ज्येष्ठ प्राध्यापक महिलाओं के लिए सुरक्षित मार्ग से भीतर जाने लगे और मना करने पर भी माने नहीं, तो स्वयंसेवकों ने उन्हें भवन से बाहर कर दिया। कार्यक्रम समाप्त होने पर प्राध्यापक-वर्ग में इस घटना पर चर्चा चली और उनमें से अनेकों ने ऐसा करनेवाले विद्यार्थियों को निकाल, तक देने का सुझाव दिया। श्रीगुरुजी जब उनके बीच पहुँचे, तब उन्होंने इतनी बेमुरव्वती से स्वयंसेवकों के कार्य का समर्थन किया कि दूसरी बार यह सुझाव सामने लाने का साहस किसी को नहीं हुआ। सन् १९३३ के प्रारंभ में श्रीगुरुजी के प्राध्यापन संबंधी निर्धारित अवधि समाप्त होगयी और वे नागपुर चले गये।

अध्यात्म की ओर

श्रीगुरुजी जब नागपुर वापस आये, तब उनके माता-पिता रामटेक में रहते थे। सन् १९३१ में अर्थात् अवकाश ग्रहण करने के लगभग दो वर्ष पश्चात् उन्होंने वहां एक छोटा सा घर खरीद लिया था। रामटेक की जलवायु तो अच्छी है ही, वहां का प्राकृतिक सौंदर्य भी अत्यंत मोहक तथा मनोहर है। समाज के सामान्य व्यक्तियों की यह इच्छा स्वाभाविक ही है कि अवकाश ग्रहण करने के बाद नगर के कोलाहल से दूर किसी एकांत स्थान में भगवान् का नाम लेते हुए शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाय। श्रीगुरुजी के माता-पिता भी इसी इच्छा से प्रेरित होकर रामटेक के, जो "मेघदूत" में कालिदास द्वारा वर्णित सुप्रसिद्ध रामगिरि ही है, श्रीराममंदिर के समीप जाकर रहे थे।

गुरुजी के वापस लौटने पर ताईजी ने इच्छा प्रकट की कि वे वकालत की शिक्षा ग्रहण करें। ताईजी के इस सुझाव में मातृहृदय की यह भोली आकांक्षा छिपी थी कि शादी-ब्याह करके घर-गृहस्थी बसाने के बदले ध्यान-धारणा जैसी बातों की ओर खिची बेटे की रुचि वकालत से सुस्थिर होगी और ठीक राह पर चलने लगेगी। ताईजी की इच्छा के अनुसार गुरुजी एल. एल. बी. की पढ़ाई करने लगे। उस समय भी वे अपने मामा श्रीरायकर के यहां रहते थे।

सन् १९३३ के बाद के दो वर्षों में, जब वे वकालत की शिक्षा पा रहे थे, वे प्रायः नियमपूर्वक कॉलेज में उपस्थित रहते और वहां पढाया जानेवाला प्रत्येक विषय दत्तचित्त होकर समझ लेने का प्रयास करते थे। काशी के सदृश यहां भी वे अपने

अनेक मित्रों को दर्शन, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र आदि पढाते तथा स्वत: उनके विविधविषयक ग्रंथ-पठन का कार्य भी अबाध गति से जारी रहा। उनसे शिक्षा पाकर उत्तीर्ण एक सज्जन कृतज्ञता-पूर्वक आज भी कहा करते हैं, " अरे भाई, वाचनालय से गुरुजी के लिए पुस्तकें लाना तथा उन्हें वापस पहुंचाना उन दिनों मेरे दैनिक कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण भाग ही होगया था।"

इस समय गुरुजी की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। किन्तु इस कारण उनकी मानसिक प्रसन्नता, कार्यक्षमता तथा पारस्परिक सौहार्दता में कोई खंड नहीं आ पाया। सायंकाल वे प्राय: मित्रमंडली में रमे रहते। लगभग ३०-४० युवक एक स्थान पर आते तथा गपशप, चाय, चर्चा तथा गायन-वादन आदि चला करते। उन दिनों उनके मामाजी " मॉडेल कोचिंग क्लास " चलाते थे। श्रीगुरुजी यहां भी दिन में २-३ घंटे पढाते और एकाध बार, तथा कभी कभी दो बार भी, धन्तोलीस्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम का चक्कर लगा आते। उनकी आध्यात्मिक वृत्ति, जिसका बीजारोपण काशी में हुआ था, अब अधिकाधिक प्रखर हो चली थी। दिन का अन्य कामों से बचा सारा समय ध्यान-धारणा तथा तत्वचिंतन में ही बीतता था तथा आश्रम में जानेपर वहाँ के साधकों तथा स्वामी भास्करेश्वरानंदजी के साथ इस विषय की चर्चा होती थी।

काशी में संघ के साथ आया उनका संबंध यद्यपि बहुत कम नहीं हुआ था, परंतु इसमें संदेह नहीं कि नागपुर आने के बाद उनका ध्यान रामकृष्ण आश्रम और वैराग्य की ही ओर खिंचता जा रहा था। सन् १९३४ में उनको तुलसीबागस्थित केन्द्रीय संघ-शाखा का कार्यवाह नियुक्त किया गया तथा उन्हीं दिनों वे परमपूजनीय डॉक्टर हेडगेवार के प्रभाव के कारण कुछ दिन के लिए संघ के प्रचारक बनकर बंबई रह आये। यही नहीं, उसी

वर्ष अकोला में हुए संघ–शिक्षा–शिविर के वे सर्वाधिकारी भी रहे।

एक बार जिससे मित्रता हो जाय, उसकी सब प्रकार सहायता करना गुरुजी का स्वभाव है। वस्तुत: नि:स्वार्थ वृत्ति तथा निरहंकारिता से ही दूसरों के सुख–दु:ख को समझने की क्षमता प्राप्त होती है। गुरुजी में यह समरसता अत्यंत उत्कट रूप में पायी जाती है। नागपुर के अंध विद्यालय के एक संस्थापक श्रीवामनराव वाडेगाँवकर से उनकी घनिष्टता बहुत पहले से थी। श्रीवाडेगाँवकर अपनी आयु के दसवें वर्ष से ही अंधे हो गये थे। फलस्वरूप गुरुजी के नवनीतकोमल हृदय में उनके लिए सहज अनुकम्पा थी। वे प्राय: उनसे मिलने जाते तथा उनके अंध विद्यालय के लिए निधि एकत्र करने के निमित्त उनका हाथ अपने हाथ में पकडकर या उन्हें साइकिल पर आगे बिठाकर शहर भर में घुमा लाते थे। उन्हें इस रूप में देखकर कौन क्या कहेगा, इसकी उन्होंने कभी चिंता नहीं की। सच्ची सेवा एक ऐसी पवित्र और स्वयंस्फूर्त भावना है, जिसके सम्मुख निंदा–स्तुति की चेतना नष्ट हो जाती है। इसी सेवाभाव की प्रेरणा से पंद्रह अध्यायों का वेदांतविषयक "पंचदशी" नामक ग्रंथ उन्होंने श्रीवाडेगाँवकर को टीका के साथ पढकर सुनाया था।

श्रीभाऊजी तथा श्रीमतीताई यद्यपि नागपुर से दूर, रामटेक में रहते थे, फिर भी वे गुरुजी के विवाह तथा गृहस्थी के विविध कल्पनाचित्र बनाते रहते थे। गुरुजी के एम. एससी. होने के समय से उनकी यह चिंता आरंभ हो गयी थी। कार्तिक सुदी द्वादशी को तुलसी-विवाह के पश्चात् जब चारों ओर शादी–ब्याह की धूमधाम शुरू हो जाती, तब ताईजी भी गुरुजी से विवाह का जिक्र छेडा करतीं। वे जब यह कहकर कि आज अमुक सज्जन तुम्हारे विवाह के विषय में पूछताछ कर रहे थे अथवा परसों

अमुक व्यक्ति अपनी कन्या की जन्मपत्री दे गये हैं, उनसे यह चर्चा चलातीं, तब गुरुजी सदा हँसकर बात टाल देते। उनके मन में ईश्वर और देश के प्रति कर्तव्य की जो भावना जाग उठी थी, उसने विवाह के संबंध में विचार तक करने की गुंजायश नहीं छोडी थी। भारतमाता के कष्ट दूर करना, एक सच्चे सुपुत्र के नाते उन्हें अपना कर्तव्य प्रतीत होता तथा वे सोचते कि यदि यह कार्य करना है, तो व्यक्तिगत जीवन की ओर ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ ? आजीवन ब्रह्मचारी रहकर राष्ट्रोत्थान तथा ज्ञानोदय के लिए संन्यस्तवृत्ति से अपना जीवन-सर्वस्व माता के चरणों पर समर्पित करने का धीरोदात्त संदेश देनेवाले ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानंद का आदर्श उन्हें अपनी ओर निरंतर आकृष्ट कर रहा था। किन्तु हँसकर बात टाल देनेवाले गुरुजी के व्यवहार में ताईजी का सुकोमल मातृहृदय इस बडी बात का आकलन कैसे कर पाता ?

एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक वृद्ध तथा निःसंतान अंधे पर प्रसन्न होकर किसी देवता ने एक वर माँगने को कहा। वृद्ध ने चतुराईपूर्वक देवता से कहा कि मुझे पौत्र के सिर पर रत्नजटित छत्र और चँवर देखने का सौभाग्य दो। वृद्ध की इस माँग में अपने वंश को फलता-फूलता देखने की ही आकांक्षा छिपी थी, जो इस समस्त सृष्टि की एक शाश्वत और सनातन भावना है। इस पुत्रेषणा के कारण ही मनुष्य घर-गृहस्थी के झंझटों को हँसते-हँसते सह लेता है। पुत्रप्राप्ति के लिए वह विविध देवी-देवताओं की मनौतियाँ करता है, तंत्र-मंत्र की सहायता लेता है तथा सब भाँति असफल होनेपर दूसरे की ही संतान को गोद ले लेता है। अतः यह अत्यंत स्वाभाविक था कि गुरुजी जैसे विद्या-विभूषित तथा इकलौते पुत्र को भाऊजी तथा ताई अपने बस भर अविवाहित न रहने देते। जब गुरुजी के माता-पिता उन्हें

घर-गृहस्थी की ओर खींचने का प्रयत्न कर रहे थे, तब वे उससे उलटी दिशा में तीव्रगति से बढते जा रहे थे।

सन् १९३५ में रामटेक के घर की दीवार ढह गयी। जब उसकी मरम्मत का प्रश्न आया, तब पुत्र की विरक्ति से दु:खित ताईजी ने कहा, "घर बाँधने पर अब व्यर्थ ही व्यय करने की क्या आवश्यकता है?" इस पर भाऊजी कहते, "अरे, अब मधु वकील हुआ जा रहा है। वही आकर रहेगा इसमें।" और इस आशा में उन्होंने वह दीवार ही नहीं, सारा मकान ही नये सिरे से ठीक करा लिया। एक बार वकालत का अध्ययन करते समय, अवसर देखकर गुरुजी ने पिताजी से कहलवा ही दिया, "विवाह करने का मेरा इरादा नहीं है। उसमें मुझे कतई कोई सुख प्राप्त न होगा। परंतु यदि आपकी आज्ञा ही होगी, तो कर लूंगा।" वकील बनने से पहले ही अपने इस निग्रही पुत्र की, वकालत के ढंग से दी हुई अस्वीकृति का सही अर्थ समझने में भाऊजी को देर न लगी। फिर भी वे गुरुजी के सारगाछी आश्रम में जाने के समय तक आशा से उनकी ओर देखते रहे।

वकालत पढते समय डिस्ट्रिक्ट एंड सेशंस जज श्रीवाडेगांवकर उनकी सहायता करते थे। वे अंध विद्यालय के संस्थापक श्री. वामनराव वाडेगाँवकर के संबंधी थे और गुरुजी से बडा स्नेह करते थे। गुरुजी के एक मौसेरे भाई हस्तसामुद्रिक के अच्छे जानकार थे। उनके संपर्क में रहकर गुरुजी ने इस विद्या का भी भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे होमियोपैथी भी पढते थे तथा कभी कभी अपने मित्रों से इस विषय की चर्चा करते हुए पाये जाते थे। कहने को तो वे अपने मामा के घर रहते थे परंतु भोजन के अतिरिक्त उनका सारा समय बाहर ही व्यतीत होता था। वे साधारणत: कुर्ता और पाजामा ही पहिनते थे। किन्तु कभी २ उनके सिर पर काली गोल टोपी भी, जो नागपुर

में विशेष रूप से पहनी जाती है, दिखायी देती थी। रामकृष्ण आश्रम के साथ निकट संपर्क स्थापित होने के पश्चात् उन्होंने दाढी बढाना भी आरंभ कर दिया था।

कॉलेज के दो वर्ष बीत गये और सन् १९३५ में गुरुजी वकील बने। वकालत की दूसरी परीक्षा के समय उनके अध्ययन का ढंग बाह्यत: विचित्र प्रतीत होता था, परंतु ध्यानपूर्वक देखने पर उससे उनके मन की एकाग्रता ही प्रकट होती थी। उन्हें हिन्दू लॉ का अध्ययन करना था। उसी समय उन्हें कार्यवश रामटेक भी जाना था। इसलिए वे किताब साथ लेकर ही मोटर पर बैठे। मोटर जब रामटेक पहुँची तब वे पढने में इतने निमग्न थे कि उन्हें रामटेक के आने का पता भी न लगा। पडोसी ने जब उन्हें हिलाकर बताया, तब उन्हें ध्यान आया कि मोटर पर बैठा हूँ और रामटेक में उतरना भी है। अपने इस आवागमन में ही उन्होंने हिन्दू लॉ का यह ग्रंथ पूरा पढ डाला।

नागपूर के बडकस चौक में श्रीदेव के बाडे पर यद्यपि श्रीगुरुजी के नाम की वकील–पदवीधारी तख्ती लगा दी गयी, परंतु उन्होंने वकालत की ओर प्राय: बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वकालत का उद्देश्य कितना भी शुद्ध क्यों न हो, परंतु अपने मुवक्किल को जिताने के लिए झूठी गवाहियाँ तैयार कराना तथा धोखेबाजी से सबूत एकत्र करना उनके स्वभाव से मेल नहीं खाता था। इस व्यवसाय में पदार्पण करने के ४-५ मास पश्चात् उन्होंने अपने मित्र श्रीदत्तोपंत देशपांडे के साथ मिलकर काम करने का निश्चय किया और वाकर रोड पर स्थित श्रीसाधु के बाडे में अपना दफ्तर भी खोल दिया। यह संयुक्त मोर्चा गुरुजी को कुछ भाया। वे गवाह-सबूत आदि के काम श्रीदेशपांडे पर छोड देते और स्वत: केवल वरिष्ठ न्यायालय में पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले प्रार्थना-पत्रों (अपीलों) का काम हाथ में

लेते। अपीलों की सफलता कानून के गहरे अध्ययन तथा तीक्ष्ण बुद्धि पर ही निर्भर करती है। इस कार्य में श्रीगुरुजी ने अपनी कुशाग्रता भली भाँति प्रकट की। कई मामलों में न्यायाधीशों ने भी उनकी विश्लेषण तथा प्रतिपादन-शैली की प्रशंसा की। नागपुर के प्रसिद्ध वकील श्रीविश्वनाथराव केळकर, जो पहले क्रांतिकारी भी रहे थे, उनके प्रशंसकों में से थे तथा अपने यहाँ आनेवाला बहुत सा काम उनकी तरफ भी भेज देते थे। परंतु वकालत में विशेष रुचि न होने के कारण गुरुजी उतना ही कमाते, जितना उनके भरणपोषण के लिए पर्याप्त होता।

उन दिनों श्रीरामकृष्ण आश्रम में उनका जाना बहुत बढ गया था। वकालत, अध्ययन तथा संघ से बचनेवाला सारा समय ध्यान-धारणा में ही बीतता था। उसी समय डॉ. हेडगेवारजी ने वकीलों की एक साप्ताहिक बैठक आरंभ की थी। वह प्रति मंगलवार को तथा हर बार एक नये स्थान पर होती थी। श्रीगुरुजी इन बैठकों में उपस्थित रहते तथा उनमें संघ की रीति-नीति संबंधी प्रश्नोत्तरों तथा चर्चा आदि कार्यक्रमों में भाग लेते थे। इन बैठकों में उनकी विवादपटुता का परिचय मिलता और फलस्वरूप उनकी ओर डॉक्टरजी का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट होता। विचार प्रस्तुत करने की उनकी रचनात्मक शैली, उसकी शुद्धता तथा प्रतिपादन में व्यक्त होनेवाले आग्रहपूर्ण आत्मविश्वास से डॉक्टरजी प्रभावित होते थे। किंतु अध्यात्म की ओर उनका झुकाव देखकर डॉक्टरजी को बेचैनी भी होती थी। वे सोचते थे कि आज जब करोडों देशबंधु दासता के नरक में सड रहे हैं, तब उनको उससे मुक्त करने का कार्य व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति से अधिक आवश्यक तथा उदात्त है। राष्ट्रीय नवनिर्माण के पवित्र कार्य की तुलना में केवल व्यक्तिगत मोक्ष की साधना को वे गौण मानते थे। किंतु गुरुजी के मन में अध्यात्म का आकर्षण इतना प्रबल हो उठा था कि उनके मन पर इन

विचारों का परिणाम जल पर खींची जानेवाली लकीर के ही समान अल्पजीवी होता था।

अंत में एक दिन अकस्मात् उनके सब परिचितों को पता चला कि वे साधना करने के लिए कहीं चले गये हैं। केवल उनके दो-चार घनिष्ट मित्रों को ही यह ज्ञात था कि वे सारगाछी गये हैं। जब अन्य लोग उनसे गुरुजी के विषय में जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता प्रकट करते, तब वे भी, बताने के बजाय, यही कहते कि, "हमें भी पता नहीं कि गुरुजी अकस्मात् कहां चले गये।"

इधर जब उनके मित्रों पर प्रश्नों की बौछार हो रही थी, गुरुजी सारगाछी आश्रम पहुंच भी गये थे। सारगाछी नामक यह छोटा सा कस्बा बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में है। इस आश्रम के संस्थापक स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई स्वामी अखंडानंदजी थे। स्वामी अखंडानंदजी वेदांत के अच्छे पंडित तथा साक्षात्कारी पुरुष थे। उनकी सेवा में रहकर अध्यात्म की प्रत्यक्ष साधना करने का उद्देश्य लेकर श्रीगुरुजी सारगाछी पहुंचे थे। वकालत की शिक्षा प्राप्त करने के समय से ही रामकृष्ण मिशन से गुरुजी का अच्छा संबंध था। वे मिशन की नागपुर-स्थित शाखा में, जिसके अध्यक्ष स्वामी भास्करेश्वरानंदजी थे, प्रायः जाया करते थे।

सन् १९३६ में रामकृष्ण मठ एंड मिशन के अध्यक्ष स्वामी अखंडानंदजी कलकत्ता से बंबई जाते हुए एक दिन के लिए नागपुर में रुके थे। उस अवसर से लाभ उठाकर कुछ लोगों ने स्वामीजी से दीक्षा देने की इच्छा प्रकट की, जिसपर उन्होंने सभी साधकों को सारगाछी आने के लिए कहा। अखंडानंदजी के इस आदेश के अनुसार नागपुर से पांच साधक सारगाछी

गये थे । उनमें श्रीगुरुजी के एक मित्र भी थे । उन्होंने सारगाछी जाने से पूर्व नागपुर-आश्रम के स्वामी अमूर्तानंदजी से गुरुजी की चर्चा की थी । स्वामी अमूर्तानंदजी भी श्रेष्ठ अध्यात्मवेत्ता थे । उन्हें साधारणतया सभी लोग स्वामी अमिताभ कहते थे । श्रीगुरुजी ने जब उनसे भेंट की, तब वे गुरुजी के व्यक्तित्व तथा जिज्ञासा से प्रभावित हुए । इस भेंट का वर्णन करते हुए उन्होंने बाद में कहा, " उनको देखकर मुझे लगा कि मेरे सामने एक अग्निपुंज खडा है, जिसपर केवल कुछ राख जमी है । " फिर तो दोनों में अच्छी घनिष्टता होगयी । गुरुजी समय-असमय उनके यहां जाते तथा कभी कभी रात को दो बजे तक उनके पास रहते । लौटते समय कभी वह स्वामी अमिताभजी की साइकिल ले आते तथा कभी स्वामीजी स्वतः ही उनको धन्तोली से महाल तक पहुंचा जाते ।

इन दिनों गुरुजी अपने मामा रायकरजी के घर के ऊपर वाले कमरे में ध्यान का अभ्यास करते थे । प्रायः स्वामी अमिताभ ही उनसे कहते, "अब आपके माता-पिता वृद्ध हो चले हैं, इसलिए आपको वकालत में परिश्रम करना चाहिए ।" किन्तु गुरुजी यह बात भी हँसकर टाल देते । यह भलीभाँति जान लेनेपर कि गुरुजी को अपने व्यवसाय में जरा भी रुचि नहीं है, स्वामी अमिताभ को यही उचित प्रतीत हुआ कि वे उन्हें सारगाछी जाने का परामर्श दें । स्वामी भास्करेश्वरानंदजी भी इससे सहमत हुए । अतः उन्होंने गुरुजी को इसके लिए सिद्ध किया तथा सारगाछी को लिखा कि श्रीमाधवराव गोळवलकर एम. एससी., एल. एल. बी. नामक सज्जन साधना के लिए आना चाहते हैं । शीघ्र ही सारगाछी से अनुमति आगयी तथा उसके तुरंत बाद गुरुजी ने प्रस्थान कर दिया । यह घटना सन् १९३६ के मध्य की है ।

सारगाछी जाने से पूर्व गुरुजी ने अपने सहयोगी वकील श्रीदत्तोपंत देशपांडे के घर से अपने माता-पिता को एक विस्तृत

आध्यात्मिक गुरु

'साधना-स्थल', सारगाछी

विद्यार्थीदशा – मद्रास...

पत्र लिखा। यह पत्र उनके प्रस्थान के दो-तीन दिन बाद डाक में छोडा गया। उनकी वकालत तथा भावी घर-गृहस्थी की ओर आशाभरी दृष्टि से देखनेवाले भाऊजी तथा ताई के लिए यह पत्र मर्मान्तक आघात था। संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवारजी भी उनसे कुछ आशा लगाये हुए थे। वे भी इस घटना के कारण अत्यंत व्यथित हुए। गुरुजी के सारगाछी चले जाने पर डॉक्टरजी की बैठक में एक बार उनकी चर्चा छिड गयी। तब डॉक्टरजी ने उनके विविध गुणों तथा विद्वता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। वे जब कभी श्रीदेशपांडे से मिलते, तब सदा उनका पहला प्रश्न यही होता था, "कहिये, आपके मित्र कबतक लौटनेवाले हैं?"

कलकत्ता से उत्तर की ओर रेलमार्ग से लगभग १२० मील की दूरी पर सारगाछी स्थित है। सारगाछी स्टेशन से पूर्व की ओर लगभग दो फर्लांग पर पक्की सीमेंट की सडक भी है, जो कलकत्ता तक जाती है। इसी सडक से लगा हुआ सारगाछी ग्राम है, जिसकी जनसंख्या चार–पाँच सौ से अधिक नहीं है। ग्रामवासियों की दरिद्रता अतुलनीय है और प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। यह ग्राम ताड, कटहल, आम और केलों के वृक्षों से घिरा हुआ है और प्रकृति का एक सुंदर छंद सा लगता है। ग्राम से उत्तर की ओर, मुर्शिदाबाद की दिशा में, लगभग तीन फर्लांग की दूरी पर आश्रम का द्वार है, जो सडक से पूर्व की ओर पडता है। आश्रम में प्रवेश करते ही फलों से लदे तथा फूलों से शोभित वृक्षों की मालाएं स्वागत करती हैं। बंगला भाषा में "सारी" शब्द का अर्थ पंक्ति तथा "गाछ" का वृक्ष है। इस प्रकार "सारगाछी" नाम में विविध वृक्षों की लंबी और घनी पंक्तियों का भाव निहित है, जो इस ग्राम का नामकरण करनेवालों के निसर्ग-प्रेम का परिचायक है। आश्रम साधारणतया तीन फर्लांग लंबे और इतने ही चौडे भूभाग में फैला हुआ है। उसमें से

लगभग १७–१८ एकड भूमि में आश्रम की ओर से धान, गेंहू सन आदि की खेती होती है ।

आश्रम के मध्य में एक भवन है, जिसका नाम " विनोद कुटी" है । इस भवन में तीन कमरे हैं तथा सामने के थोडे से भाग में छप्पर पडा हुआ है । स्वामी परब्रह्मानंदजी ने इसका निर्माण कराया था और उनके पूर्वाश्रम का नाम विनोद बाबू होने के कारण इस भवन का नाम " विनोद कुटी " पड गया । विनोद कुटी के पूर्वी भाग में हाल ही में एक पाठशाला बनायी गयी है । कुटी के सामने एक पुष्प–वाटिका है तथा पीछे की ओर स्वामी अखंडानंदजी की रुचि के अनुसार आँवला, आम, कटहल, जैतून आदि के वृक्ष लगाये गये हैं ।

विनोद कुटी के समीप ही आश्रम तथा श्रीरामकृष्ण मंदिर है । मंदिर दूसरी मंजिल पर है और उसके सामनेवाले कमरे में स्वामीजी के उपयोग में आनेवाली वस्तुएं सजाकर रखी गयी हैं । इन वस्तुओं में पलंग, कुर्सियाँ, नक्काशीदार बर्तन, पंचारती, पूजा–पात्र आदि विशेष आकर्षक हैं ।

मंदिर के दक्षिणी भाग में पाठशाला तथा पीछे के भाग में विशाल क्रीडांगण है। आश्रम में दो कुएं हैं, जिनमें से एक विनोद कुटी के सामनेवाली वाटिका में ही है। आश्रमवासियों के भोजनादि का प्रबंध मंदिर के उत्तर में स्थित इमारत में किया गया है । सुदूर देहात तथा वृक्षों के बीच बसा होने के कारण आश्रम का वातावरण पूर्णत: शांत है ।

आश्रम की स्थापना सन् १८९७ में हुई थी, परंतु तब उसका रूप बहुत छोटा था । तब स्वामी अखंडानंदजी भागीरथी (इस क्षेत्र में गंगाजी का यही नाम प्रचलित है) के किनारे-किनारे गंगोत्री तक की यात्रा करने निकले थे । यात्रा करते हुए मार्ग में वे कुछ समय के लिए सारगाछी में रुके । उन दिनों यहाँ

अकाल का आतंक छाया हुआ था। स्वामीजी ने अपनी आँखों गाँव के तालाब पर उसकी विभीषिका देखी थी। पानी भरने के लिए आयी एक लडकी के हाथ से, भीडभाड होने के कारण, उसका मिट्टी का घडा गिरकर फूट गया। पिता की डाँट के भय से लडकी फूट-फूटकर रोने लगी। स्वामीजी का दयार्द्र हृदय इस दृश्य को न देख सका। उन्होंने उस लडकी के लिए एक नया घडा खरीद दिया। यह देखकर अन्य लोग भी स्वामीजी के चारों ओर कुछ पाने की आशा से एकत्र हो गये। परंतु संन्यासी बेचारा उन्हें क्या देता ? यह तो ऐसा ही हुआ मानो कुछ प्राप्त करने की इच्छा से शिवरात्रि ही एकादशी के घर पहुँची हो। संन्यासी तो उन दुःखी जनों को अपनी सेवा ही दे सकता था और स्वामीजी यात्रा की बात भूलकर उनकी सेवा में लग गये। वे प्रतिदिन वहाँ से प्रस्थान करने की बात सोचते परंतु रह जाते। कई दिन जब इसी प्रकार बीत गये, तो उन्होंने जान लिया कि ईश्वर उन्हें यहीं रखना चाहता है। उन्होंने लोक-सेवार्थ यहीं रह जाने का निश्चय कर लिया तथा स्वामी विवेकानंदजी को इसकी सूचना दे दी। किसी के कुछ प्रत्यक्ष कार्य करने के लिए सिद्ध होने पर स्वामी विवेकानंदजी को आंतरिक प्रसन्नता होती थी और वे उस व्यक्ति के पीछे अपना दिव्य तपोबल खडा कर देते थे। इस बार भी ऐसा ही हुआ और बेलूर* के मठ से कुछ धन लेकर दो कार्यकर्ता सारगाछी आ पहुँचे। आज विस्तृत रूप में दिखायी देनेवाले इस आश्रम का यही शुभारम्भ था। लोक-सेवा ही इसके निर्माण की पावन प्रेरणा थी।

स्वामी विवेकानंदजी की छत्रछाया में काम करनेवाले संन्यासियों के मन में राष्ट्रीय स्वाधीनता की लालसा प्रबल रूप में विद्यमान रहती थी। आश्रम में आने के बाद स्वामी अखंडा-

* कलकत्ता में गंगाकिनारे स्थित श्रीरामकृष्ण मिशन का केन्द्र।

नंदजी कभी कभी कहा करते, "हमारे देश की दासता का आरंभ पलासी के युद्ध (सन् १७५७) से हुआ। इसी स्थान का नाम पहले पलासी था तथा यहीं मीर जाफर तथा क्लाइव में वह संधि हुई थी, जिससे भारतीय परतंत्रता का सूत्रपात हुआ। यहीं पर आश्रम स्थापित कर रहने का आदेश मुझे पूज्य ठाकुरजी (स्वामी रामकृष्ण परमहंस) ने दिया है। मैं अनुभव करता हूं कि वे इसी स्थान से राष्ट्रीय पुनरुत्थान का आरंभ देखना चाहते हैं।"

इस प्रकार लोक-सेवा तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थान की भावना से स्थापित इस आश्रम में एक साधक बनकर गुरुजी ने प्रवेश किया। उस समय स्वामीजी विनोद कुटी के पूर्वी भाग वाले कमरे में रहते थे। बीच वाले कमरे में गुरुजी का डेरा था तथा तीसरे कमरे में अन्य आश्रमवासी थे। स्वामीजी की सेवा के लिए आवश्यक समस्त सामग्री गुरुजी के ही कमरे में रहती थी। गुरुजी को स्वामीजी की व्यक्तिगत रूप से सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। स्वामीजी का जीवन मानो आध्यात्मिकता तथा कर्मयोग का मूर्तिमान प्रतीक ही था। इस कारण गुरुजी ने उनके सहवास में रहकर अपूर्व नवचैतन्य पाया। स्वामी अखंडानंदजी ने प्रत्यक्ष स्वामी रामकृष्ण परमहंस की सेवा की थी। इस प्रकार उनके माध्यम से गुरुजी को साक्षात् परमहंसजी की ही ज्योति तथा तेज के स्फुलिंग प्राप्त हुए।

संन्यासी बनने से पूर्व अखंडानंदजी का नाम श्रीगंगाधर घटक था। वे कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बागबाजार मुहल्ले में रहते थे। बारानगर में मठ-स्थापना होने के पश्चात् उन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण की तथा "अखंडानंद" के नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् १८८७ के पश्चात् बद्रीनारायण, केदारनाथ आदि

की यात्रा करके उन्होंने तिब्बत का भ्रमण भी कर लिया। तदनंतर वे स्वामी विवेकानंदजी के साथ हिमालय के विभिन्न भागों में घूमे। उसके पश्चात् स्वामी विवेकानंद ने जब भारत की यात्रा की, तब उन्होंने भी देश का भ्रमण किया। रामकृष्ण मिशन के रचनात्मक कार्य में उन्होंने बहुत बडा योग दिया था। खेतडी में लोक-शिक्षा का प्रसार, संस्कृत पाठशाला का वैदिक पाठशाला में रूपान्तर, राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में खोली गयी पाठशालाएं तथा विचार-गोष्टियां आदि उन्हीं के कर्तृत्व की देन थीं। उन्होंने गोंडों तथा भीलों के सामाजिक जीवन की जांच की, माहुली तथा पांचगांव क्षेत्रों में अकाल-निवारणार्थ एक वर्ष तक परिश्रम किया, सारगाछी में सबके लिए अनाथाश्रम खोला तथा उसके पडोस के अनेक ग्रामों में सेवा के सैकडों कार्य किये। इन समस्त कार्यों में उनके जीवन-तत्व का दर्शन होता है।

एक बार स्वामी विवेकानंदजी कुछ लोगों से बैठे बातचीत कर रहे थे कि अकस्मात् मुर्शिदाबाद से अखंडानंदजी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर स्वामीजी के मुख से हठात् निकल गया, "वह देखिये, कितने महान् कर्मयोगी पधार रहे हैं। देखिये, जनहित तथा असंख्य बंधुओं के सुख के लिए वे कितनी निष्ठा से तथा निर्भयतापूर्वक कर्मयोग में रत हैं।" स्वामी विवेकानंद कर्मयोगी अखंडानंदजी को बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने अखंडानंदजी को, जब वे तिब्बत में भ्रमण कर रहे थे, एक पत्र में लिखा, "मालूम तो यही होता है कि मैं तुम्हें बहुत चाहता हूँ, परंतु यह माया है और मेरे लिए इससे पिंड छुडा लेना अनिवार्य है।"

दलितों की सेवा में अखंडानंदजी विशेष रुचि लेते थे। एक बार विवेकानंदजी ने उन्हें पत्र में लिखा, "मेरा कहना है कि दरिद्र देवो भव, मूर्ख देवो भव। दरिद्र, दुःखी, अनपढ तथा

अज्ञ जन ही तुम्हारे भगवान् बनें। उनकी सेवा ही तुम्हारा परमोच्च धर्म हो।" इस प्रकार के प्रोत्साहन से अखंडानंदजी के कार्य में गति आ जाती तथा पुन: जब विवेकानंदजी को उनके समाचार प्राप्त होते, तब उन्हें अत्यंत प्रसंन्नता होती। उसी भावतंद्रा में वे लिखते, "यह कार्य पूरा हो जाने पर मैं तुम्हें कंधे पर बिठाकर नाचूंगा।" अलमोडा से भेजे गये एक पत्र में तो उन्होंने इससे भी बढकर लिखा, "जैसे जैसे तुम्हारे कार्य के विस्तृत समाचार मिलते जाते हैं, मेरा मन आनंद से उत्फुल्ल होता जाता है। सच ही ऐसे कार्यों के द्वारा विश्व को जीता जा सकता है। इन कार्यों में जातिभेदों या मतभेदों को स्थान ही कहाँ है? तुम धन्य हो। मैं तुम्हें शतसहस्र धन्यवाद तथा आशीर्वाद देता हूँ।"

स्वामी अखंडानंदजी बहुभाषी थे। बंगला, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी पर उनका उत्तम अधिकार था। उनकी बातचीत श्रोताओं पर बहुत अच्छा प्रभाव डालती थी। जब वे अपने प्रवास के अनुभव सुनाते, तब श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते थे। जब वे गंभीर विषयों की चर्चा करते, तब कथाओं और मार्मिक दृष्टांतों से उसे अत्यंत सरल बना देते थे। वे अत्यंत विनोदप्रिय थे। उनकी गोष्टी में श्रोतागण अधिकांश समय हँसते रहते थे। स्वास्थ्य खराब होने पर भी कार्य में निमग्न रहना उनका स्वभाव था। बिहार के प्रसिद्ध भूकंप के पश्चात् निराश्रितों के सहायतार्थ रामकृष्ण मिशन की ओर से जो सेवा-कार्य किया गया, उसका सूत्र-संचालन, वृद्ध होते हुए भी अखंडानंदजी ने सफलतापूर्वक किया था। स्वत: उच्च कोटि के वक्ता होते हुए भी उन्हें व्याख्यानबाजी से घृणा थी।

उनकी धार्मिक प्रवृत्ति, सेवाभाव, अध्ययन की रुचि, संकट के समय सहायतार्थ दौड पडने का स्वभाव, बहुभाषिता, विनोदप्रियता, भेदभावरहित व्यवहार, सुश्रूषा में व्यक्त होनेवाली

सहजता आदि गुणावली का विचार करने पर श्रीगुरुजी उनके साक्षात् प्रतिबिंब ही प्रतीत होते हैं। इसी सादृश्य के कारण भेंट होने के बाद संभवतः दोनों का संबंध नीलाम्बर और सागर की भाँति घनिष्ट होगया। गुरुजी स्वामीजी के ऊपर छत्र की भांति छाये रहते थे, मानो वे स्वामीजी के सच्चे 'छात्र' हों और स्वामीजी उनके सच्चे गुरु हों।

सन् १९२५ में स्वामी अखंडानंदजी रामकृष्ण मठ एंड मिशन के उपाध्यक्ष थे तथा सन् १९३४ में वे अध्यक्ष बने। इस पद पर आसीन होने पर उनके लिए आवश्यक था कि वे कलकत्ता के बेलूर मठ में जाकर रहते। परंतु उद्यान तथा कृषि के प्रेम, अनाथाश्रम के बालकों से आत्मीयता और प्रशांत वातावरण के प्रति झुकाव के कारण वे अपना अधिकांश समय सारगाछी में ही बिताते थे। सन् १९३४ से अपने देहांत-काल तक उन्होंने अनेक व्यक्तियों को दीक्षा दी। उनके द्वारा साधकों को दिया जानेवाला आदेश था, "अपना दैनिक जीवन पवित्र तथा चारित्र्य-पूर्ण बनाओ।"

गुरुजी के आश्रम-जीवन के संबंध में उनके सहयोगियों की प्रसिद्धिविषयक उदासीनता के कारण विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। इस विषय में हमारी दशा ईसप की कथा में वर्णित उस लोमडी की भाँति है, जिसे सकरी सुराही में रस पीनेवाले बगुले की चोंच से गिरी एकाध बूंद को चाटकर ही संतोष करना पडता था। सन् १९४९ में श्रीगुरुजी मैसूर के रामकृष्ण मिशन तथा विद्यामंदिर को देखने गये थे। उस समय सारगाछी के उनके बंधु स्वामी अमिताभ ने, गुरुजी के स्वागतार्थ भाषण किया था। इस भाषण में उन्होंने कहा, "गुरुजीने अत्यंत परिश्रम तथा धैर्यपूर्वक सारगाछी के आश्रम में रहकर साधना

की थी। उस समय के उनके सहवास के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने नरेन्द्र को ही नेता के रूप में प्राप्त किया है। (R. S. S. has the king of men as its leader.)"

सन् १९३६ के जुलाई मास के लगभग गुरुजी सारगाछी गये थे। वहां वे सदैव अखंडानंदजी के साथ ही रहते थे। इन दोनों गुरु-शिष्यों की मनोरचना समान थी। अतः दोनों एक दूसरे को बहुत चाहने लगे। आश्रम में पहुंचकर गुरुजी ने सिर तथा दाढी के बाल बढा लिये थे। तारुण्य के तेज से पूर्ण उनके मुखमंडल पर वे बहुत शोभित होते थे। एक बार स्वामीजी ने उनके बिखरे हुए मुलायम बालों पर अपना स्नेहपूर्ण हाथ फेरते हुए कहा, " ये बाल तेरे खूब फबते हैं। देखना, इन्हें कभी कटाना नहीं।" स्वामीजी के इस दुलारभरे आदेश को गुरुजी ने शिरसा स्वीकार किया तथा फिर उनको कभी नहीं कटवाया। आज भी उनकी शोभा दर्शनीय है।

गुरुजी शीघ्र ही आश्रम के वातावरण में रम गये। वे अत्यंत भक्तिभाव से स्वामीजी की सेवा करते थे। उनके कपडे धोना, स्नान कराना, फल बनाकर देना, चाय पिलाना, भोजन कराना, बिस्तर बिछाना आदि समस्त कार्य वे अत्यंत तत्परता तथा आत्मीयता से करते थे। वृद्धावस्था के कारण स्वामीजी प्रायः अस्वस्थ हो जाते और तब गुरुजी रात-रात भर उनके सिरहाने बैठकर जागते रहते। किन्तु महाराष्ट्र के संत समर्थ रामदास की तरह उनका अंतर्मन भी यही सोचता होगा, " हे गुरुवर! अपने अभयदान से दुर्भेद्य माया के सारे कठिन पाश उसी तरह गल जाने दो, जिस तरह सूर्य के प्रकाश से अंधकार कट जाता है।"

यह सेवा करते समय गुरुजी को उस महान् योगी की अनेक अवस्थाएं बिलकुल समीप से देखने को मिलती थीं तथा

उनके मुख से समय समय पर प्रकट होनेवाले जीवनतत्वविषयक उद्गार भी सुनने को मिलते थे । इस प्रकार समय बीतता जा रहा था और दीक्षा की बात कोई नहीं छेडता था । धीरे धीरे पांच मास व्यतीत हो गये ।

उस समय स्वामी अखंडानंदजी ने नागपुर-आश्रम के स्वामी अमिताभजी को पत्र लिखा, " मेरा स्वास्थ्य काफी ढल गया है । अत: अच्छा हो, यदि तुम यहां चले आओ ।" स्वामी अमिताभ ने यह पत्र स्वामी भास्करेश्वरानंदजी को दिखाया और उनकी अनुमति लेकर वे सारगाछी आगये । स्वामी अमिताभ अखंडानंदजी के पट्टशिष्य थे । अतः उनके आगमन से उन्हें आनंद होना स्वाभाविक ही था । इस प्रकार अमिताभजी तथा गुरुजी पुन: परस्पर मिल गये ।

अमिताभजी को पूजा-पाठ का काम दिया गया था । इसके अतिरिक्त वे रात्रि को दस-ग्यारह बजे तक स्वामीजी के चरण दबाते थे । उस समय वे चर्चा छेडते हुए कहते, " गोळवलकरजी के माता-पिता वृद्ध हैं, अतः उन्हें शीघ्र मंत्र-दीक्षा देकर प्रैक्टिस करने दी जाय । " इस पर स्वामीजी कहते, " उन्हें दीक्षा तो दे दी जायगी परंतु यह कौन कह सकता है कि वे वकील ही बनेंगे ।"

कभी कभी अमिताभ महाराज गुरुजी से पूछते, " कहिये, क्या हाल है ?" तब गुरुजी सहास्य उत्तर देते, " अत्यंत आनंद में हूं ।" वस्तुत: उत्तर बंगाल के जीवन से गुरुजी अपरिचित ही थे । उन्हें सब्जी, चावल और दाल के विशिष्ट बंगाली भोजन की आदत नहीं थी । परंतु इस विषय में पूछा जाने पर वे सदा यही कहते, " इस परिवर्तन से मुझे कोई कष्ट नहीं है ।" सत्संग की रुचि के कारण ये सारी बातें उन्हें बहुत तुच्छ प्रतीत होने लगी थीं ।

स्वामी अखंडानंदजी उन्हें केवल 'गोवलकर' कहते थे। उनकी पुकार पर गुरुजी तत्क्षण सेवा में पहुंच जाते। उस समय स्वामीजी से मिलने तथा आश्रम को देखने के लिए अनेक देशी-विदेशी सज्जन आया करते थे। उनसे स्वामीजी अत्यंत संतोष-पूर्वक कहते थे, "देखो, यह मेरा नागपुरी सेवक है, एम. एससी., एल. एल. बी. पास। इसके बारे में क्या कहूँ ?"

इस प्रकार दिन व्यतीत होते जारहे थे और गुरुजी के मन की उत्कटता भी बढती जारही थी। दिन में स्वामीजी अनेक बार समाधिस्थ हो जाते तथा अनेक बार मन की विभिन्न अवस्थाओं के विचार व्यक्त करते थे। गुरुजी इन सब स्थितियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया करते थे।

वृद्धावस्था एक ऐसा रोग है, जो औषधोपचार के सामने भी नम्र होना नहीं जानता। स्वामी अखंडानंदजी का स्वास्थ्य भी दिनोंदिन गिरता जारहा था। अभीतक दीक्षा न प्राप्त होने के कारण गुरुजी के मन में चिंता होना स्वाभाविक था। फिर भी उन्होंने उस चिन्ता को व्यक्त नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि उचित समय पर गुरु दीक्षा देंगे ही।

एक दिन रात्रि के समय स्वामीजी के पैर दबाते हुए अमिताभजी ने कहा, "अब मुझे आज्ञा दीजिये। नागपुर जाना मेरे लिए आवश्यक है।" इस पर स्वामीजी बोले, "देखूं भला तुम कैसे जाते हो ?" फिर कुछ रुककर उन्होंने कहा, "तुम्हें यहीं रहना होगा। मैं अब बहुत दिन नहीं जियूंगा।" अमिताभजी ने डरते डरते कहा, "माधवराव को अब दीक्षा दी जाय।" तुरंत उत्तर मिला, "ठीक है, ठाकुरजी से पूछ लेता हूं।"

इस घटना के तीन दिन बाद स्वामीजी ने स्वतः कहा, "कल गोवलकर को दीक्षा दी जायगी।" दूसरे दिन उन्होंने गुरुजी को विनोद-कुटी में दीक्षा प्रदान की तथा देवदर्शन के

लिए उन्हें मंदिर भेजा। यह प्रभात की वेला थी और अमिताभ महाराज पूजा कर रहे थे। गुरुजी को मंदिर में आता देखकर उन्हें संतोष हुआ। अमिताभजी बताते हैं, " उस समय गुरुजी प्रशान्त महासागर के समान शान्त तथा गंभीर दिखायी दे रहे थे।"

अब चिंता समाप्त होगयी थी, मन प्रसन्न था तथा गुरुजी का समस्त कार्यक्रम तन्मयता के साथ चलने लगा था।

किन्तु इधर मधुमेह और हृद्रोग के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य बहुत बिगडता जा रहा था। श्रीरामकृष्ण परमहंस की पत्नी महायोगिनी शारदादेवी की जयंती के दिन रात के समय वे श्रीमां के संबंध में बता रहे थे तथा गुरुजी और अमिताभजी दत्तचित होकर सुन रहे थे। स्वामीजी इस वर्णन के साथ साथ साधना के सार, दश-महाविद्याओं के स्वरूप आदि विषयों की मीमांसा भी करते जाते थे। घडी ने दो बजाये और उनके दोनों शिष्यों ने यह कहते हुए कि रात बहुत हो चुकी है, उनसे विश्राम करने का आग्रह किया। किन्तु स्वामीजी ने कहा, " अब अंतिम समय दिखायी देने लगा है। इसके बाद तुम मेरी वाणी नहीं सुन सकोगे।" वे साढे तीन बजे तक बोलते रहे। जब उनसे फिर विश्राम करने के लिए कहा गया, तब उनका शरीर आवेग से कांप रहा था। स्वामी विवेकानंद का कथन कि " शरीर नष्ट होनेवाला है, इसमें कोई संदेह नहीं। तब फिर इसे आलस में क्यों गंवाया जाय ? क्यों न जंग लगकर खत्म होने की जगह इसे घिस घिस कर ही खत्म किया जाय ?"—उनके जीवन में मूर्तिमान हो उठा था।

उस दिन से स्वामीजी का स्वास्थ्य संभल नहीं सका। बीच बीच में वे मूर्च्छित हो जाते तथा मूर्च्छा दूर होने पर तुरंत उठकर बैठ जाते। तब उन्हें कठिनाई से ही लिटाया जाता था।

इस काल में गुरुजी लगभग हर समय उनके समीप रहते थे। कभी कभी उन्हें भोजन भी करने का अवकाश नहीं मिलता था तथा कभी कभी दो तीन दिन तक दिनरात जगना पडता था। फिर भी वे सदा कर्तव्य में दक्ष रहते थे।

एक दिन स्वामीजी की दशा बहुत बिगड गयी और बहरमपुर से डॉक्टर बुलाया गया। डॉक्टर ने स्वामीजी को बेलूर ले जाने की सलाह दी। स्वामीजी ने कहा, "अमिताभ, गोवलकर, बेलूर के दो साधक तथा और एक जन साथ चलें।" तुरंत ही तैयारियां की गयीं परंतु इस सुदूर और टेढे मार्गों पर स्थित ग्राम से स्वामीजी को स्टेशन तक पहुंचाने के लिए डोली भी नहीं मिली। स्वामीजी डॉक्टर तथा अन्य लोगों के साथ रात के दस बजे जब कलकत्तास्थित श्रीशारदादेवी के उद्बोधन-निवास में पहुंचे, तब उन्हें १०४ डिगरी बुखार था तथा वे समाधि जैसी शांति में पडे थे।

अंतिम उपचार के रूप में उन्हें ओषजन देना निश्चित किया गया। इस समय गुरुजी उनके समीप ही बैठे थे। इस अवस्था में कुछ समय बीतने के बाद ७ फरवरी की दोपहर को ३ बजकर ७ मिनट पर उनका निर्वाण हुआ। उनकी अपनी देह यद्यपि शांत होगयी थी परंतु क्या यह सच नहीं कि उनके कर्मयोगी जीवन का नंदादीप अब गुरुजी के भीतर प्रज्ज्वलित हो उठा था?

स्वामीजी के देहावसान के बाद श्रीगुरुजी पर क्या बीती, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कुछ दिन वे वहीं रहे तथा फिर सन् १९३७ के मार्च मास में, होली के लगभग वे नागपुर वापस आगये। सारगाछी में रहते समय उनके अंतःकरण की रचना भक्तिमय होगयी थी तथा उनके जीवन को आध्यात्मिकता का शाश्वत अधिष्ठान प्राप्त होगया था। संघ पर प्रतिबंध

समय जब वे कारावास में थे, तब सरकार के आदेश पर जस्टिस मंगलमूर्ति उनके स्वास्थ्य की जानकारी लेने आये थे। जस्टिस द्वारा इस विषय में प्रश्न किया जाने पर उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह मजाक में कहा जाने पर भी उनके आंतरिक विश्वास को व्यक्त करता है। उन्होंने कहा था कि, " मैंने अपनी जीवन-पूंजी उस ईश्वररूपी बैंक में लगा दी है, जो कभी डूब नहीं सकता।"

ईश्वर के प्रति यह आस्था उन्हें सारगाछी में ही प्राप्त हुई थी।

जीवन-कार्य का निर्धारण

सारगाछी से लौटने के बाद गुरुजी की मनस्थिति कुछ उदास हो गयी थी। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि स्वामी अखंडानंदजी का उनके जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होगया था। अब उनकी वकालत की तख्ती यद्यपि पुनः अपने स्थान पर चमकने लग गयी, परंतु फिर भी उन्होंने व्यवसाय को जमाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। नागपुर में रहने पर दिन में वे कम से कम दो बार रामकृष्ण आश्रम अवश्य जाते थे। शेष समय कभी पठन-पाठन, कभी गायन-वादन, कभी गप-शप तथा कभी अंध विद्यालय की ओर एकाध चक्कर लगाने में बीतता था। अंध विद्यालय में वे वहां के छात्रों से आत्मीयतापूर्वक बात करते तथा यदि वाडेगांवकरजी का कोई काम होता, तो उसे कर देते थे। एक बार गुरुजी जब वहां गये थे, एक अंध अध्यापक ने उनसे स्नेहपूर्वक पूछा, " सुना है, आजकल आपने केश बढा लिये हैं। क्या यह सच है ?" इस पर मुक्तहास्य करते हुए गुरुजी ने कहा, " हां, बढा तो लिये हैं। मुझे वकालत में केस नहीं मिल रहे थे, इसलिए सोचा कि केस * ही क्यों न बढा लूं।" वकालतपटुता होते हुए भी उदासीनता के कारण उनके व्यवसाय की यह स्थिति होगयी थी।

इसी समय उनसे आग्रह किया गया कि वे एक नये समाचार पत्र का संपादन-भार उठायें। इस पद का वेतन २५० रुपये था। इस पर उन्होंने कहा, " मेरे लिए २५ रुपये पर्याप्त हो जाते हैं, फिर २५० रुपये वाली नौकरी करने का आग्रह

* मराठी में केश को केस कहते हैं।

मुझसे क्यों किया जारहा है ?" इससे स्पष्ट हो जाता है कि धन कमा कर वैभव में रहने का विचार उस समय उनको इष्ट नहीं था। उनके मन में संन्यस्त जीवन बिताते हुए देश के लिए कुछ करने की बातें उठा करती थीं। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी अखंडानंद के प्रभाव के कारण उन्हें सदा यही लगा रहता कि कुछ करना चाहिए।

सन् १९३८ में स्वामी भास्करेश्वरानंद ने "शिकागो परिषदेंतील विवेकानंदांची व्याख्यानें" नामक एक मराठी पुस्तक प्रकाशित की, जिसका अंग्रेजी से मराठी में अनुवाद श्रीगुरुजी ने ही किया था। इस पुस्तक की प्रस्तावना में अनुवादक की प्रशंसा करते हुए स्वामी भास्करेश्वरानंद ने लिखा है, "जिस महापुरुष के ये शब्द हैं, उसकी मूल भावना के साथ अनुवादक पूर्णरूपेण समरस हो चुका है, यह बात इस अनुवाद से स्पष्ट है।"

गुरुजी के मन में रामकृष्ण परमहंस का यह कथन कि जनता को दरिद्रनारायण मानकर उसकी सेवा करना ही ईश्वर की सच्ची सेवा है तथा स्वामी विवेकानंद का यह कथन कि व्यक्तिमात्र में नारायण का दर्शन किया जाय, जड जमाये हुए था। अतः उनका मन इसी प्रकार के किसी कार्यक्षेत्र की खोज में था। इस समय वे कभी नागपुर तथा कभी रामटेक में रहते थे। रामटेक में रहते समय वे अनेक बार संघ-शाखा में जाते थे। कभी कभी ऐसा भी होता कि वे बांसुरी लेकर मित्रों के साथ रामटेक के राममंदिर गढ पर जाते तथा दुग्धधवल चंद्रिका का आनंद लेते हुए वंशीवादन में लीन हो जाते।

इस अवधि में वे कभी-कभी संघ-संस्थापक डॉ. हेडगेवारजी के यहां भी जाते थे। उन्हें इसका विश्वास हो चला था कि संघ-कार्य महत्वपूर्ण है किन्तु अभी उन्हें यह अनुभव करना शेष था कि हिन्दू राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का निर्माता कार्य

एकमेव यही है। वैसे देखा जाय तो डॉक्टरजी का ध्यान सन् १९३२ से ही उनपर था। उन्हें जहां भी कोई कर्तृत्वसंपन्न बुद्धिमान सत्पुरुष दिखायी देता, उसे अपना बनाने के प्रयत्न वे अविराम किया करते थे। इस संबंध में उनका जीवट तथा परिश्रम अपूर्व थे।

प. पू. डॉक्टर हेडगेवारजी अभिजात देशभक्तों के सच्चे अग्रणी थे। जिस वय में बच्चे मिठाई खाने के लिए जिद करते हैं, उस वय में उन्होंने ब्रिटेन की महारानी के राज्यारोहण पर स्कूल में बांटी गयी मिठाई कूडे की टोकरी में फेंक दी थी। उस समय, जब स्कूलों में नित्य महारानी विक्टोरिया की जय के गीत गवाये जाते थे, तब इतने छोटे बालक के मन में विदेशी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का भाव होना अवश्य ही आश्चर्यजनक था।

केशवराव जब १३ वर्ष के थे, तब एक ही दिन में प्लेग ने उनके माता-पिता की बलि ले ली। इस प्रकार उन्हें अपने दो भ्राताओं के साथ दरिद्रता का जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पडा। उनके ज्येष्ठ भ्राता उग्र स्वभाव के थे, इस कारण कुछ दिन पश्चात् उन्हें घर भी छोड देना पडा। फिर भी उन्होंने साहसपूर्वक अपनी शिक्षा जारी रखी। बाह्य रूप से दरिद्र होने पर भी वे गुणों में धनी थे और उन्हीं के कारण वे कठिनतम परिस्थितियों से संघर्ष कर पाने में समर्थ हो सके। विद्यालय-जीवन से ही वे समाचार-पत्रों का वाचन, स्वदेशी-व्रत का पालन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में सहकार्य आदि करने लगे थे।

वह समय बंग-भंग के पश्चात् होनेवाले विस्फोटक क्रांति-कार्यों तथा स्वदेशी-प्रचार का था। उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया युवक केशवराव में भी हो रही थी। सन् १९०८ में, जब वे मैट्रिक के विद्यार्थी थे, छात्रों ने विद्यालय के निरीक्षक का स्वागत "वंदे

मातरम् " के नारों से किया था, जिसके अग्रणी केशवराव ही थे। इस कारण विद्यालय के प्रधानाध्यापक ने उनसे क्षमा-याचना करने, अन्यथा विद्यालय छोड देने की माँग की। केशवराव तथा उनके एक साथी ने इस लज्जाजनक प्रस्ताव को स्वीकार करने के बजाय विद्यालय छोड देना ही उचित समझा, क्योंकि उन्हें अपने कार्य के औचित्य का विश्वास ही नहीं, अभिमान भी था।

इस प्रकार नागपुर का नीलसिटी हाई स्कूल छोडकर उन्होंने यवतमाल के राष्ट्रीय विद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ तो उन्हें अनेक बार चना खाकर ही गुजारा करना पडता था। इस नये विद्यालय में आये दो-तीन मास ही हुए थे कि विद्यालय को ही सरकार की कोपदृष्टि का शिकार होना पडा तथा केशवराव को अपना शेष अध्ययन पूना जाकर पूर्ण करना पडा। उनका परीक्षा-केन्द्र अमरावती में होने के कारण उन्हें फिर पूना से अमरावती जाना पडा।

उस समय युवकों का ध्यान स्वभावतः क्रांतिकारियों के केन्द्र बंगाल की ओर आकृष्ट होता था। केशवराव भी अपनी भावी शिक्षा के लिए कलकत्ता जाना चाहते थे, जिससे एक पंथ दो काज सिद्ध हो सकें। दरिद्र होते हुए भी उन्होंने स्वावलंबन तथा डॉक्टर मुंजे, श्रीदादासाहब खापर्डे आदि नेताओं की सहायता से कलकत्ता में रहकर डॉक्टरी पढने की सुविधाएं प्राप्त कर लीं। सन् १९०९ से १९१५ तक वे कलकत्ता में रहे और इसी काल में उन्होंने वहाँ के नेशनल मेडिकल कॉलेज से एल्. एम्. एस्. की उपाधि सम्मानपूर्वक प्राप्त की।

इस काल में बंगाल के अनेक क्रांतिकारियों के साथ उनका घनिष्ट संबंध स्थापित हुआ। वे सदा श्रीपुलिनबिहारी दास, श्रीश्यामसुंदर चक्रवर्ती तथा मौलाना लियाकत हुसेन जैसे नेताओं

के साथ रहते थे। इस संपर्क में रहकर उन्हें क्रांतिकारियों के दर्शन और सिद्धांत, उनकी भावना तथा कार्यपद्धति का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका मन सदा इस उमडते चैतन्य की उपासना करता था। यह बात उनके व्यवहार से भी जब–तब प्रकट होती रहती थी। स्वातंत्र्यवीर सावरकरजी के रत्नागिरि से रिहा किये जाने के बाद की घटना है। उन्हें नागपुर के विजयादशमी महोत्सव पर अध्यक्ष बनाकर बुलाने का परामर्श डॉक्टरजी ने दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा, "यदि किसी कारण वे निश्चित दिवस पर नागपुर न आ सकें, तो जिस दिन उन्हें आने की सुविधा होगी, उसी दिन हम उत्सव मनायेंगे और उसी दिन हमारी विजयादशमी होगी।" इससे पता चलता है कि यद्यपि बाद में चलकर उनका क्रांति–मार्ग से मतभेद हो गया था, परंतु इन क्रांति–वीरों के प्रति स्नेह और आदर उनके मन में ज्यों का त्यों बना रहा।

कलकत्ता में रहते समय डॉक्टरजी क्रांतिकारी कार्यों में भाग लेते रहे। वे उनकी उत्कट देशभक्ति को बहुत चाहते थे तथा मानते थे कि इन्हीं कार्यों से भारत की पराधीनता को प्रबल आघात पहुँचाये जा रहे हैं। परंतु उनकी समझ में यह नहीं आता था कि थोडे से लोगों का यह गुप्त संघटन संपूर्ण देश में जड जमाकर बैठे शक्तिशाली ब्रिटिश शासन को किस प्रकार नष्ट कर सकेंगा। जब वे कलकत्ता में थे तभी पहला महायुद्ध आरंभ हो चुका था। शत्रु पर आये संकट का लाभ उठाने की नीति के अनुसार उस समय देश में क्रांति–आन्दोलनों ने जोर पकडा और उनमें डॉक्टरजी ने कुशलतापूर्वक भाग लिया। जब महायुद्ध समाप्त हुआ, तब ये आन्दोलन शिथिल पड गये और चारों ओर निराशा का वातावरण छागया। लोकमान्य टिळक का देहावसान भी इसी समय हुआ और यह भी क्रांति–कार्यो के शिथिल होने

का कारण बना क्योंकि लोकमान्य ने देशोत्थान में सभी मार्गों को वैध तथा सुष्ट मानने की शिक्षा दी थी।

लोकमान्य के पश्चात् महात्मा गांधी का असहयोग-युग आरंभ हुआ। सन् १९२० से पूर्व हुए क्रांतिकारियोंके कार्य तथा लोकमान्य टिळक के जनजागरण ने महात्माजी के सामुदायिक आन्दोलन के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण कर रखा था। महात्माजी के इस असहयोग आन्दोलन में भी डॉक्टरजी ने भाग लिया था तथा मध्यप्रदेश से लेकर बंबई तक के प्रदेश में हलचल मचा दी थी। इस कारण उन्हें एक वर्ष का कठिन कारावास भी हुआ था। कारागार में तथा बाहर रहकर उन्होंने परिस्थिति का जो अध्ययन किया, उससे उन्होंने यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला कि खिलाफत के कारण मुसलमान भले ही आन्दोलन में सम्मिलित हो गये हों, परंतु इस समय दिखायी देनेवाली हिन्दू-मुसलिम एकता पूर्णतः बनावटी है और यह किसी समय भी हिन्दुओं के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। खिलाफत को देश के लिए अखिल आफत माननेवाले नेताओं मे डॉक्टरजी प्रमुख थे। आन्दोलन के बाद ही देशभर में हुए मुसलमानों के दंगों (डॉक्टरजी "हिन्दू–मुसलिम–दंगा" शब्द–प्रयोग गलत मानते थे। वे कहते थे कि ये सब दंगे चूंकि मुसलमानों द्वारा ही कराये जाते हैं, इसलिए उन्हें "मुसलमानों के दंगे" ही कहना उचित है।) तथा विशेषकर मलाबार में मोपलों द्वारा किये गये हिन्दुओं के नृशंस संहार ने उनकी धारणा को सत्य सिद्ध कर दिया तथा हिन्दू–मुसलिम एकता के भ्रम में पडे लोगों की आँखें खोल दीं। इसपर भी आन्दोलन की स्वाधीनतापरक भूमिका के कारण डॉक्टरजी ने उसमें प्रत्येक बार भाग लिया। सन् १९३० के आन्दोलन में भी उन्होंने १५० स्वयंसेवकों के साथ सत्याग्रह किया और जेल गये। उस समय के एक पत्र में वे लिखते हैं,"संघ जानता है कि

इस आन्दोलन से राष्ट्र में जाग्रति होगी ।...इस कारण आन्दोलन के प्रति संघ की नीति सहकारिता की है, विरोध की नहीं ।'' किसी भी दल या व्यक्ति के प्रयत्न राष्ट्र के लिए जाग्रतिकारी होने पर डॉक्टरजी सहयोग देते ही थे । उन्होंने स्वयंसेवकों के सम्मुख दल नहीं, देश को ही परम आराध्य के रूप में प्रस्तुत किया था ।

मुसलिम दंगों के समाचार सुनकर डॉक्टरजी का मन बेचैन हो उठता था । मुठ्ठीभर मुसलमान असंख्य हिन्दुओं पर किस प्रकार आक्रमण कर पाते हैं, यह प्रश्न सदा उनके मन को सताता रहता था । इस प्रश्न का हल भी ढूंढने में उनको देर न लगी । उन्होंने परिस्थिति का विश्लेषण कर यह निर्णय लिया कि असंघटन ही हमारे सामाजिक अध:पतन का मूल कारण है। इसी प्रकार इतिहास के परिशीलन से वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँच गये थे कि हिन्दू ही इस देश के एकमात्र राष्ट्रीय हैं, अन्य सब यहाँ आक्रामक बनकर आये हैं तथा आज भी हिन्दुओं की दुर्बलता के कारण ही उसपर शासन कर रहे हैं । उन्होंने कहा कि स्वराज्य के लिए हिन्दू–मुसलिम एकता को आवश्यक मानने की धारणा भी इसी आत्मविश्वासहीनता का परिणाम है । स्वतंत्रता के 'स्व' की परिभाषा करते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा परंपरा की महत्ता प्रतिपादित की और कहा कि इस समय विचारणीय विषय यह है कि किस वस्तु की कमी के कारण अपना राज्य, सेना, धन, बुद्धि आदि सब कुछ होते हुए भी हजारों मील की दूरी से आये मुठ्ठीभर लोग हमारे ऊपर अपना शासन स्थापित कर सके । इस प्रकार राष्ट्रीय संघटन के निर्माण को ही उन्होंने सब समस्याओं के मूलभूत तथा अंतिम हल के रूप में देश के समक्ष प्रस्तुत किया ।

उस समय देश में शुद्धि-संगठन, स्वाध्याय-मंडल, अखाडे आदि भी बहुत चल रहे थे। उन सबमें काम करके डॉक्टरजी ने राष्ट्रीय समस्याएं सुलझाने की दृष्टि से उनकी असमर्थता को जान लिया। अंततः उन्होंने राष्ट्रीय संघटन का निर्माण करने के लिए सन् १९२५ के विजयादशमी महापर्व के दिन नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की।

भारत की पूर्ण स्वतंत्रता ही डॉक्टरजी के अंतःकरण की कामना थी। कहना न होगा कि संघ-स्थापना में भी यही आकांक्षा काम कर रही थी। जिस समय काँग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत स्वतंत्रता की ही सीमित माँग प्रस्तुत की, उससे पूर्व से ही डॉक्टरजी पूर्ण स्वतंत्रता का बलपूर्वक समर्थन करते आ रहे थे। इसके लिए सन् १९२४ में उन्होंने "स्वातंत्र्य" नामक एक दैनिक समाचार-पत्र भी निकाला था। इसके पश्चात् सन् १९२९ में रावी के तट पर हुए अपने अधिवेशन में काँग्रेस ने जब पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकृत किया, तब डॉक्टरजी को अत्यंत समाधान हुआ। उन्होंने सभी संघ-शाखाओं को एक परिपत्र भेजकर पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा के उपलक्ष में स्थान स्थान पर काँग्रेस का अभिनंदन करने का आदेश दिया था। इस परिपत्र में उन्होंने लिखा था,"यह देखकर कि अखिल भारतीय कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य को अपना चुकी है, हमें प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। हमारा यह कर्तव्य है कि इस ध्येय को अपनाकर कार्य करनेवाली प्रत्येक संस्था के साथ सहयोग करें।"

संघ-स्थापना से पूर्व १५-२० वर्ष तक उन्होंने जो भी आन्दोलन और संस्थाएं देखी थीं, उनमें न तो राष्ट्रीयता का अचूक दृष्टिकोण था और न शुद्ध सेवा की भावना ही थी। अनेक स्थानों पर तो देशभक्ति की आड में स्वार्थ की ही उपासना होती थी, जिसे देखकर उनका मन घृणा से भर जाता था। उन्हें

स्पष्ट प्रतीत होता था कि अपनी सहस्त्रों वर्ष की उज्ज्वल राष्ट्रीय परंपरा को ठुकराकर विदेशियों से उधार ली कल्पनाओं के आधार पर नवनिर्माण के लिए किये जानेवाले सभी प्रयत्न हानिकर सिद्ध होंगे। अपने–पराये के ज्ञान को भूलकर गंगा-जमनी सभ्यता निर्माण करने की चेष्टाओं को वे राष्ट्रीय दुर्बलता के ही परिणाम मानते थे। सन् १९२५ तक किये गये सभी आन्दोलनों के अध्ययन से उन्होंने "हिंदुस्थान हिंदुओं का" अर्थात् "हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है" के मंत्र तथा "संघ-शाखा" के तंत्र का आविष्कार किया। विदेशियों को दोष देते रहने में उन्होंने समय नष्ट नहीं किया। उन्हें विश्वास था कि स्वतः को राष्ट्र का एक घटक मानने तथा राष्ट्रहित में ही अपना व्यक्तिगत हित समझने की विधायक भावना से ही देशार्थ सर्वस्वार्पण करनेवाले लोक–संघटन की वह प्रचंड शक्ति उदित होगी, जिससे सब समस्याओं का अंतिम और उचित हल संभव हो सकेगा।

उन्होंने अनुभव से भी जान लिया था कि संघ के दैनिक कार्यक्रमों में से इस प्रकार की शुद्ध तथा उत्कट देशभक्ति से पूर्ण संघटन-शक्ति का निर्माण होता है। 'सर्वेषामविरोधेन' सुसंघटित और बलशाली हिन्दू समाज खडा करने के लिए वे दृढसंकल्प थे और इस निमित्त उन्होंने "ना काहू को देत भय, ना भय जानत आप" वाली नीति अपनायी थी। उनको अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले इस निदान में, कि यदि अंग्रेज चले गये तो हमारी सब समस्याएं अपने आप सुलझ जायेंगीं, बिलकुल विश्वास नहीं था। वे कहते थे, "हम पर आनेवाली समस्त संकट-परंपरा की जड में हमारी दुर्बलता ही है।" इसलिए मरहमपट्टी मात्र से व्याधि को दूर करने के इलाज को वे पर्याप्त नहीं मानते थे। आपत्तियों के मूल कारण का पता लगाकर उसी पर आघात करना उनकी नीति थी। इस नीति के अनसार समस्त छोटी-बडी समस्याओं के मूल कारण राष्ट्रीय दुर्बलता का ही परिहार करना

उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बनाया तथा इस निमित्त स्थापित रा. स्व. संघ के पोषण में ही उन्होंने अपने शेष जीवन की प्रत्येक श्वास अर्पित कर दी।

उन्होंने "नहीं चाहिए मुक्ति संपदा। बढाते रहें संघ को सदा।" की वैराग्यपूर्ण तथा नि:स्वार्थी वृत्ति से जीवन भर कार्य किया। राष्ट्रीयत्व को विस्मृतकर परायों के पीछे आँख मूंदकर दौडनेवाले समाज को आत्मसाक्षात्कार करा देना ही उनकी एकमेव इच्छा थी। उनकी प्रकृति में शत-प्रतिशत वैराग्य-वृत्ति घुल गयी थी, परंतु फिर भी उन्होंने कभी त्रिदण्डी संन्यासी का वेश धारण नहीं किया। वे मानते थे कि सर्वसाधारण में कार्य करने के लिए बिलकुल उन्हीं जैसे बनकर रहने की आवश्यकता है। एकबार यह पूछा जाने पर कि आप संन्यास क्यों नहीं ग्रहण कर लेते, उन्होंने उत्तर दिया था, "समाज में यह भावना होनी चाहिए कि उनमें काम करनेवाला उनके ही जैसा एक व्यक्ति है। मैं यदि संन्यासी बन जाऊँ तो लोग मेरे पैर छू लेंगे, किन्तु वह कार्य नहीं करेंगे, जो मुझे प्रिय है। और फिर संन्यास लेने से मेरा कल्याण भले ही हो जाय, देश का क्या कल्याण होगा ?"

जीवन की प्रत्येक घटना के लिए वे देशहित को ही एकमेव कसौटी मानते थे। उनकी भावना भी अत्यंत तेजस्वी तथा जाज्वल्यमान थी। परंतु देशहित के लिए उन्होंने उस भावना को भी कभी उग्र तथा भडकीले शब्दों में प्रकट नहीं होने दिया, सदा उसपर संयम का अंकुश लगाये रखा। यह समझकर कि उग्र भाषण से क्षणिक उत्तेजना अवश्य उत्पन्न होती है परंतु स्थायी रूप से देखने पर उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है, उन्होंने अपने भाषणों का रूप एकदम बदल दिया। उनके प्रत्येक व्यवहार से संयम तथा सौजन्य ही प्रकट होता था। उनकी भाषा संकल्पपूर्ण परंतु वाणी मधुर होती थी। उनके

दुग्धश्वेत, निष्कलंक चारित्र्य के सम्मुख संघ के विरोधी भी नतमस्तक हो जाते थे। जान-बूझकर संघ से द्वेष करनेवालों पर भी उन्होंने कभी टीका-टिप्पणी नहीं की। उनका स्वभाव "अक्रोधेन जितं क्रोधं" की भाँति था। श्रीगुरुजी ने उनके सौजन्य का वर्णन करते हुए कहा है, 'युधिष्ठिर के समान दुर्योधन को भी सुयोधन कहनेवाली वाणी की मधुरता उन्हें प्राप्त थी।'

खांड से निर्मित खिलौना पानी में गिरते ही जिस प्रकार तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार डॉक्टरजी संघ-कार्य से तद्रूप हो गये थे। अहंकार और द्वैतभाव को समाप्त करके ही उन्होंने संघ-कार्य का कंकण बाँधा था। अत: कार्य करते समय वे देह-गेह की सुधि एकदम भूल जाते थे। उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक, दोनों ही जीवन अंगूर के समान अंतर्बाह्य एक समान तथा मधुर थे। छात्रावस्था से ही उन्होंने अविश्रांत समाज-सेवा की थी। संघ की स्थापना के बाद तो राष्ट्रीय संघटन के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयत्न भगीरथ से भी आगे बढ गये थे। हिमालय की चट्टानें तोडकर तिब्बत की ओर बहनेवाली गंगा को भगीरथ अपने प्रयत्नों से भारत में लाये थे। यह जड सृष्टि पर भगीरथ की अनुपम विजय थी। किन्तु कोटि कोटि देशबंधुओं के दृष्टिकोण को सुधारने तथा देश से बाहर की ओर बहनेवाली उनकी कर्तृत्वशक्ति को पलटकर अन्तर्मुख करने का कार्य, चेतन-सृष्टि से संबंध रखने के कारण, भगीरथ के कार्य से भी विकट और कठिन था। इसमें संदेह नहीं कि डॉक्टरजी ने लोक-चेतना तथा मन का प्रवाह सही दिशा में फेरने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने उस समय में, जब हिन्दू कहलाना साम्प्रदायिकता तथा संकुचित मनोवृत्ति का लक्षण माना जाता था, प्रतिदिन की प्रार्थना में अभिमानपूर्वक स्वत: को "हिन्दुराष्ट्रांगभूत" घोषित करनेवाले लाखों युवक आसेतुहिमाचल खडे करके दिखा दिये।

ऐसे महान् देशभक्त तथा कर्मयोगी के संपर्क में श्रीगुरुजी आने लग गये थे। वे डॉक्टरजी की बैठकों में जाते तथा चर्चाएं किया करते। डॉक्टरजी उनके द्वारा पूछे जानेवाले विविध प्रश्नों का उत्तर अत्यंत शांतिपूर्वक देते थे। वे बहस में पडना सदा अनुचित मानते थे क्योंकि वे जानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने विश्वास होते हैं और बहस से उनको बदला नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में गुरुजी प्राय: बताते हैं, "डॉक्टरजी से बहस करने का मैंने बहुत प्रयत्न किया है। सबके अंत में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सभी विवाद अर्थशून्य हैं। यह ऐसा ही है जैसे आप आम खाना छोडकर उसकी पत्तियाँ ही गिनने लग जायं...। मैं डॉक्टरजी से संस्कृति, धर्म आदि शब्दों के अर्थ पूछा करता था परंतु सदा ही वे जिस प्रकार के उत्तर देते, उनसे बहस को प्रोत्साहन मिल ही नहीं सकता था।"

परमपूजनीय डॉक्टरजी का अपने सिद्धांतों पर अटूट विश्वास था, क्योंकि ये सिद्धांत राजनीति, समाजशास्त्र तथा इतिहास का विधिपूर्वक मंथन करके निकाले गये थे तथा इनका आधार स्वानुभव था। संघ के विचार उन लोगों के विचार नहीं थे, जो खाली समय में आरामकुर्सी पर लेटकर राष्ट्र तथा समाज की समस्याओं का हल खोजा करते हैं। वे तो परिस्थितियों तथा समस्याओं के साथ स्वत: किये गये संघर्ष के परिणाम थे। इस कारण उनके प्रतिपादन में विद्वता प्रकट नहीं होती थी अपितु एक सहज निश्चय तथा आत्मविश्वास प्रकट होता था। अपनी बात के समर्थन में वे अन्यों के उद्धरण देते हुए स्वानुभव को ही प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते थे। उनकी वार्ता तथा भाषण अनुभूति की अकृत्रिमता तथा गहराई से ओतप्रोत होते थे।

यही कारण था कि उनका एक–एक वाक्य संघटन–शास्त्र का एक–एक सूत्र ही बन जाता था। सत्य यह है कि उनकी

चौबीस घंटों की कृति ही उनके मुख से प्रकट होती थी। बाह्यतः साधारण प्रतीत होनेवाले उनके व्यवहार में देशभक्ति की जो प्रचंड चेतना निहित रहती थी, वह उनके सहवास में रहनेवाले व्यक्तियों के अंतर में सहज ही उतर जाती थी।

घर की आत्यंतिक दरिद्रता का रोना उन्होंने कभी नहीं रोया। उनके घर की एक दीवार ढह गयी थी, जिसे बनवाने के लिए समय तथा धन की सुविधा उन्हें जीवन के अंततक नहीं मिली। इस पर भी संघ के गुरुपूजनोत्सव में अपनी ओर से सौ रुपये समर्पित करने में उन्होंने कभी व्यतिरेक नहीं होने दिया। एक बार किसी आम सभा में उनके नये जूते किसी ने उडा दिये। जूतों के अभाव में उन्होंने नंगे पैरों घूमना स्वीकार किया परंतु काम बंद करना स्वीकार नहीं किया। किन्तु उन्हीं दिनों जब कठिनाई में फँसा एक स्वयंसेवक उनके पास जा पहुंचा, तब उन्होंने उसकी सहायता के लिए किसी न किसी प्रकार साधन जुटा ही दिये। उनके सहवास में आनेवालों को ऐसी अनेक घटनाएं देखने को मिलती थीं। अखंड प्रवास, दिन-रात का भेद भूलकर लोकसंग्रह के लिए किये जानेवाले प्रयत्न और साथ ही पुष्पमाला, तालियां, जुलूस, मुंहदेखी प्रशंसा, फोटो तथा गरमागरम व्याख्यानबाजी के प्रति आन्तरिक घृणा आदि कुछ ऐसी बातें थीं, जिनसे डॉक्टरजी के अंतरंग का सच्चा परिचय मिलता था। उनके इस अलौकिक व्यक्तित्व का आकलन होते ही गुरुजी का उनके यहां आना-जाना बढ गया। यह आकलन कुछ देर में भले ही हुआ हो परंतु एक बार हो जाने पर स्थायी परिणामकारक सिद्ध हुआ।

डॉक्टरजी की बैठकों में चर्चा के साथ साथ विनोद का भी भरपूर पुट रहता था। जातिपरक संकुचितता की हानियों से स्वयंसेवकों को परिचित कराने के लिए वे सदा प्रयत्न करते

रहते थे। किस बात की किस पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इस ओर भी उनका सूक्ष्म ध्यान रहता था। इन बैठकों में खाने-पीने के कार्यक्रम भी होते थें। उनमें सब प्रकार का स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी तथा कार्य का विचार किया जाता था। बैठक में उपस्थित होनेवाले स्वयं-सेवकों के स्वभाव तथा गुणों को परखने की ओर भी डॉक्टरजी विशेष ध्यान देते थे। इन बैठकों तथा अन्य अवसरों पर मिलने-वाले सहवास के कारण गुरुजी डॉक्टर हेडगेवार के अधिकाधिक निकट आने लगे तथा सन् १९३८ के संघ-शिक्षा-शिविर में उन्होंने सर्वाधिकारी के नाते कार्य करना भी स्वीकार कर लिया।

इसी वर्ष हुई एक घटना का उल्लेख यहां असंगत नहीं होगा। विख्यात क्रांतिकारी श्रीबाबाराव सावरकर की " राष्ट्र-मीमांसा " नामक पुस्तक का मराठी से अंग्रेजी में अनुवाद करना था। इस पुस्तक में " हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है " के सिद्धांत का तर्कशुद्ध रीति से प्रतिपादन किया गया था। इस सिद्धांत से श्रीविश्वनाथराव केळकर नामक नागपुर के एक विख्यात वकील भी सहमत थे। वे बाबारावजी के संबंधी तथा स्नेही भी थे। इस कारण श्रीबाबाराव ने केळकरजी पर इस पुस्तक के अनुवाद का भार सौंप दिया। लेकिन बहुत दिन बीत जाने पर भी उन्हें इस ओर ध्यान देने का समय नहीं मिला। अंत में उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरकार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी से इस विषय की चर्चा चलाकर उनसे पूछा, "क्या आपके परिचितों में कोई ऐसा व्यक्ति है, जो इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद कर सके ?" इसपर श्रीभैयाजी ने गुरुजी के नाम का सुझाव दिया जो केळकरजी को पसंद भी आगया। उन्होंने गुरुजी को अपने घर पर बुलाकर पूछा तथा गुरुजी ने

अनुवाद करने की सम्मति दे दी। वे पुस्तक तथा कागज लेकर घर वापस लौटे।

इस घटना के दूसरे ही दिन गुरुजी फिर श्रीकेळकर के यहाँ पहुँचे। उनके हाथों में किताब तथा कागजों का बंडल देखकर केळकरजी ने अनुमान लगाया कि किसी कारणवश वे यह काम करना नहीं चाहते तथा उसे वापस करने आये हैं। लेकिन उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे कागज कोरे नहीं रहे हैं, लिख डाले गये हैं और पूरी पुस्तक का अनुवाद हो गया है। पढकर देखने पर तो उनका आश्चर्य और भी बढ गया क्योंकि अनुवाद अत्यंत उत्तम हुआ था। एक ही दिन में १०९ पृष्ठों की पुस्तक का परभाषा में अनुवाद कर डालना निश्चय ही प्रत्येक के लिए विस्मयजनक होता।

कुछ कारणों से यह अनुवाद छप नहीं सका तथा केळकरजी के घर पर ही पडा रहा। गुरुजी ने उस अंग्रेजी पुस्तक के लिए प्रस्तावना भी लिखी थी। आगे चलकर जब यह पुस्तक हिंदी में छपी, तब गुरुजी की प्रस्तावना भी उसमें जोड दी गयी।

इसके बाद के दो वर्षों में गुरुजी सदा डॉक्टरजी के साथ ही रहे। प्रायः वे डॉक्टरजी के साथ दौरा भी करते थे। इन दौरों में डॉक्टरजी गुरुजी को भाषण करने का अवसर भी देते थे। सन् १९३६ में वे दोनों पूना गये थे। उस समय पूना के संघ-कार्यालय में शाखा-कार्यवाहों की एक बैठक हुई। उस बैठक में डॉक्टरजी ने गुरुजी का सबसे परिचय करा दिया तथा हिन्दी भाषा पर उनके अधिकार की प्रशंसा करते हुए उनसे हिन्दी में दो कहानियाँ भी सुनवायी थीं। इस वर्ष हुए अधिकारी-शिक्षण-शिविर में भी वे सर्वाधिकारी बनाये गये। इससे पूर्व फरवरी मास में सिंदी में डॉक्टरजी ने प्रमुख अधिकारियों की एक बैठक बुलायी थी। दस दिन की इस बैठक में संघ की रचना, सिद्धांत,

तन दो......

......मन एक

कार्यपद्धति, प्रार्थना और प्रतिज्ञा पर पुनर्विचार किया गया तथा उन सबको अखिल भारतीय संघटन की दृष्टि से सुयोग्य रूप दिया गया। इस बैठक में गुरुजी ने भी भाग लिया था। इस बैठक के बाद डॉक्टरजी ने अपने प्रमुख तथा अनुभवी सहयोगियों से अपने बाद गुरुजी को सरसंघचालक बनाने की बात सूचक रूप में छेडकर इस संबंध में उनकी हार्दिक अनुकूलता को जान लिया था।

सिंदी की बैठक समाप्त होते ही डॉक्टरजी ने गुरुजी को कलकत्ता में संघ-शाखा खोलने के लिए भेजा। कलकत्ता पहुँचकर वे सरकार लेन पर स्थित एक कमरे में रहे। वर्षप्रतिपदा के शुभ मुहूर्त पर, २२ मार्च १९३६ के दिन, उन्होंने उत्तरी कलकत्ता में शाखा आरंभ की। कलकत्ता में वे अप्रैल के मध्य तक ही रहे। इस अवधि में जब भी उन्हें कार्य से कुछ अवकाश मिलता, वे बेलूर मठ की ओर चले जाते। कलकत्ता से लौटने पर नागपुर का अधिकारी-शिक्षण-शिविर गुरुजी के ही संचालन में संपन्न हुआ।

लगभग इसी समय उनकी लिखी "We or Our Nationhood Defined" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जो प. पू. डॉक्टरजी द्वारा देश के सम्मुख प्रस्तुत शुद्ध राष्ट्रवाद की लिखित अभिव्यक्ति थी। इस पुस्तक में गुरुजी ने देश, धर्म, संस्कृति आदि कल्पनाओं की विस्तृत मीमांसा करते हुए कांग्रेस की मुस्लिम-तुष्टीकरण नीति का पर्दाफाश किया है। वे लिखते हैं, "ऐसे पराये लोगों के लिए दो ही मार्ग खुले होते हैं। एक यह कि वे राष्ट्रीय संस्कृति को स्वीकार कर उसके साथ एकरूप हो जायँ और दूसरा यह कि वे राष्ट्र की अनुमति लेकर ही देश में रहें तथा जब राष्ट्र यह अनुमति वापस ले ले, तब देश को छोडकर चले जायं। अल्पसंख्यकों के प्रश्न के संबंध में यही उचित दृष्टिकोण है। इस प्रश्न का न्यायसंगत उत्तर भी यही है। इसी के कारण राष्ट्रजीवन सुस्थिर तथा शांत रह सकता है। राज्य के भीतर

दूसरा राज्य निर्माण करने के भीषण भय से यदि राष्ट्र को बचाना हो, तो उसका यही एक उपाय है।"

अल्पसंख्यकों की समस्या के इस विश्लेषण का समर्थन लोकनायक अणेजी ने भी किया। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखी, जिसमें वे कहते हैं, "मेरा मत है कि महात्मा गाँधी तथा उनके अनुसार सोचनेवालों की 'कोरा चेक' रूपी नीति के प्रति प्रस्तुत लेखक की यह पुस्तक एक स्वाभाविक, और बहुत अंशों तक कदाचित् अनिवार्य भी, उत्तर है।" उन दिनों सुझाये गये इस तर्कशुद्ध इलाज की अवहेलना के कारण ही आज हमें "भारत में राज्य के भीतर राज्य" निर्माण होने के कटु फल भोगने पड रहे हैं। इतिहास ने गुरुजी के विश्लेषण को सत्य सिद्ध कर दिया है।

शिक्षण-वर्ग के पश्चात् डॉक्टरजी "भगवा झंडा" फिल्म का उद्‌घाटन करने के लिए पूना गये। तब गुरुजी उनके साथ ही थे। उद्‌घाटन के अंत में फिल्म के निर्माता ने डॉक्टरजी के भाषण-कार्यक्रम का भी चल-चित्र लेने का आग्रह किया। डॉक्टरजी ने कुशलतापूर्वक यह बात टाल दी। डॉक्टरजी के व्यवहार से गुरुजी के मन में उनके प्रति आदर का परिमाण बढ़ता जाता था। पूना के इस कार्यक्रम के पश्चात् डॉक्टरजी विश्राम के लिए देवलाली गये। देवलाली पहुँचकर डॉक्टरजी को बुखार आ गया और उसी दशा में नासिक जाकर उन्होंने संघ के कार्यक्रम में भाग लिया। इसके परिणामस्वरूप ज्वर और तेज हो गया तथा फिर उसे उतरने में दो मास लग गये।

इस बीमारी में गुरुजी उनकी सुश्रूषा करने के लिए सदैव उनके समीप रहते थे। डॉक्टरजी कभी उन्हें अपने पत्रों के उत्तर लिखने को कहते तथा रात्रि को ११-१२ बजे अवकाश मिलने पर गुरुजी उन्हें गाँव के डाकघर में छोडने जाते। वे इस बात में सदा

अत्यंत सतर्क रहते थे कि डॉक्टरजी को कोई कठिनाई न हो पाये तथा उनकी सेवापर पूर्ण ध्यान दिया जाय। जब डॉक्टरजी नासिक में रोगमुक्त होकर स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे, तब एक दिन गुरुजी को ध्यान आया कि वे गाढी दाल खाना पसंद करते हैं। वे तुरंत शहर गये और जिस सज्जन के घर से डॉक्टरजी का भोजन आता था, उन्हें यह सूचना देकर वापस लौटे।

इन्हीं दो मास में एक बार डबल निमोनिया के कारण डॉक्टरजी की स्थिति इतनी चिंताजनक हो गयी कि डॉक्टरों ने उनके संबंधियों को बुला भेजने का परामर्श भी दे दिया। लेकिन गुरुजी की परिचर्या के कारण डॉक्टरजी स्वस्थ हो गये। वे अन्य स्वयंसेवकों के साथ बडे तडके ही उठ जाते तथा डॉक्टरजी को पानी देना, उनकी पीठ में तेल मलना, सेंक करना आदि सभी काम तत्परतापूर्वक करते थे। उस समय वे मुश्किल से दिनभर में दो-तीन घंटे की नींद ले पाते थे। उनकी इस सेवा के संबंध में नासिक के एक वृद्ध वकील सज्जन ने बाद में बताया, "गुरुजी एक विद्यालय के छात्र जैसी सचिंत तत्परता से डॉक्टरजी की सुश्रूषा करते थे।"

इन दो मास में गुरुजी डॉक्टरजी से अत्यंत प्रभावित हुए। रोगग्रस्त होते हुए भी संघवृद्धि के लिए प्रकट होनेवाली डॉक्टरजी की बेचैनी विशेष रूप से गुरुजी ने देखी। नींद में डॉक्टरजी प्रायः बडबडाया करते परंतु उनका यह अचेत बडबडाना भी संघ के संबंध में ही होता था। सन्निपात की अवस्था में भी उनके मुख से संघ के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय का कोई शब्द नहीं निकलता था। साधारणतया सन्निपात की अवस्था में रोगी का अपने अंतर्मन पर से अधिकार शिथिल हो जाता है तथा तब भीतर दबाकर रखी गयी भावनाएं खुलकर प्रकट होने लगती हैं। डॉक्टरजी का अंतर्मन जब इस अवस्था में प्रकट होकर गुरुजी के सामने आया, तब उन्होंने देखा कि उसमें

संघचिंता के अतिरिक्त कोई बात शेष नहीं है। संघ उनकी आत्मा से एकाकार होगया था, यह गुरुजी ने, सन्निपात की इस अवस्था में स्पष्ट देखा। डॉक्टरजी की तेरहवीं पर इन दिनों मिले उनके सहवास का वर्णन करते हुए गुरुजी ने कहा, "व्यक्ति को देखने की मेरी दृष्टि बहुत आलोचक होने के कारण प्रारंभ में डॉक्टरजी मेरे लिए निराली पद्धति से काम करनेवाले एक नेता मात्र थे। किन्तु इन १५-१६ दिनों में अखंड सहवास का लाभ मिलते ही मैंने पाया कि साधारण व्यक्ति के समान आचरण करनेवाले इस व्यक्ति में बहुत असाधारणता भरी है।"

अब रा. स्व. संघ के कार्य में गुरुजी का मन पूर्णरूपेण सुस्थिर हो गया। गुरुजी के जीवन को संघमय बनाने का डॉक्टरजी का स्वप्न साकर हो गया। यह देखकर कि गुरुजी क्रमशः संघ के साथ तन्मय होते जा रहे हैं, डॉक्टरजी हार्दिक समाधान का अनुभव करते थे। वे भलीभाँति जानते थे कि किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी कल्पना से प्रारंभ कार्य उस व्यक्ति के पश्चात् उसकी जैसी निष्ठा, प्रतिभा, कर्तृत्व तथा त्यागी वृत्ति के सहयोगी के अभाव में उस नदी के समान, जो सागर में मिलने से पहले ही सूख जाती है, नष्ट हो जाता है। उन्होंने इस प्रकार अनेक पुरुषों के कार्यों को नष्ट होते देखा भी था। जब से उनका स्वास्थ्य दिनोंदिन खराब ही होने लग गया, तब से उन्होंने इस बात की ओर विशेष ध्यान देना आरंभ कर दिया था। अपनी इस चिंता का सुपरिणाम उन्हें गुरुजी के रूप में प्राप्त भी हो गया, जिन्होंने डॉक्टरजी के जीवन तथा चारित्र्य को शत-प्रतिशत अपने जीवन में उतार लिया था। इस बीमारी के तुरंत पश्चात् नागपुर शाखा का गुरुपूजनोत्सव संपन्न हुआ, जिसमें गुरुजी को संघ का सरकार्यवाह बनाने की घोषणा की गयी। वस्तुतः यह उनके कंधों पर संघ-कार्य का पूर्ण भार सौंपने की दिशा में ही उठाया गया पहला पग था।

संघ का नेतृत्व

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य अब संपूर्ण देश में जड जमाता जा रहा था। इस अनुकूल वातावरण में आगे बढनेवाले युवकों को प्रोत्साहन देकर संघ की दृष्टि से योग्य मार्गदर्शन करने के लिए डॉक्टरजी देश भर में दौरा करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। परंतु उनकी अवस्था उस पक्षी के समान हो गयी थी, जो सम्मुख मुक्त आकाश के होते हुए भी पंख कट जाने के कारण उडने से विवश हो जाता है।

घर की दरिद्रता तथा अपनी बीमारी ने डॉक्टरजी को पीछे की ओर खींचना आरंभ कर दिया था। उन्होंने दौरों, बैठकों, भाषणों, शिविरों, रैलियों, उत्सवों आदि निरंतर परिश्रम दौडधूप तथा जागरण के कार्यक्रम पंद्रह वर्ष तक अव्याहत रीति से जारी रखे थे। उनके जीवन में ध्येयसाधना के प्रयास हृदय–गति के समान सतत और अबाध थे। इस कारण पीठ के दर्द तथा ज्वर ने उनको घेर लिया था। फिर भी दर्द की पीडा को चेहरे पर व्यक्त न होने देते हुए उन्होंने संघ–वृद्धि के लिए उद्यत सहस्त्रों युवकों को निरंतर प्रेरणा प्रदान करते रहने का कार्य किया तथा उन्हीं में हँसते-खेलते और भ्रमण करते रहकर अपने कष्ट को भुलाने का प्रयत्न किया। वे अपनी पीडा से झुलसते रहकर भी हँसी तथा विनोद से सबको इस प्रकार प्रफुल्लित करते रहते थे, जैसे यज्ञ की धधकती हुई ज्वालाओं में से निकलनेवाली आहु-तियाँ अपनी सुगंध से आसपास के वातावरण को पुनीत तथा शुद्ध कर देती हैं। उनके स्वास्थ्य के सम्मुख उनका मन कभी नहीं झुका। स्वास्थ्य को अपना दास समझकर ही वे उससे अपने जीवन के अंत तक व्यवहार करते रहे।

वे किसी को सहसा इस बात की कल्पना भी नहीं होने देते थे कि उनका स्वास्थ्य खराब है। किन्तु उनके निकटवर्ती मित्रों तथा लोगों को इस बात का ज्ञान था। यदि वे डॉक्टरजी को विश्राम की सलाह देते, तो उनका कोई प्रभाव नहीं पडता था। डॉक्टरजी के त्याग, अनन्य निष्ठा, प्रसन्न व्यवहार एवं चारित्र्य से आकर्षित एक सज्जन इस समय गुरुजी से आकर मिले थे। उन्होंने कहा, "आजकल डॉक्टरजी का स्वास्थ्य खराब दिखायी देता है। क्या आपने उनके खाने-पीने का समुचित प्रबंध नहीं किया है?" इस पर गुरुजी ने शांतिपूर्वक उत्तर दिया, "महाशय, एकादशी के खाने-पीने का प्रबंध भला शिवरात्रि कहाँ से कर सकती है?" जाते समय जब इन महाशय ने प्रतिमास २५) देते रहने की बात कही, तब गुरुजी ने उनसे कहा, "आप ये रुपये डॉक्टरजी को ही देकर जाइये!" स्पष्ट है कि गुरुजी का यह उत्तर एक विनम्र इनकार था, क्योंकि अपनी दीनता तथा दुर्दशा के कारण किसी के द्वारा दी जानेवाली सहायता का विचार मात्र भी डॉक्टरजी को सहस्त्रों बिच्छुओं के दंश की पीडा देता था। इस प्रकार की कठोर तपस्या में जीवन बिताते हुए डॉक्टरजी संघ-कार्य में संलग्न थे।

एक बार डॉक्टरजी अनेक कार्यकर्ताओं के साथ किसी योजना पर विचार कर रहे थे कि विवाह करानेवाली एक संस्था* के एक परिचित कार्यकर्ता उनसे मिलने आये। नमस्कार आदि के पश्चात् डॉक्टरजी ने उनके आने का उद्देश्य पूछा। उन्होंने कहा, "आपके संघ में अनेक तरुण हैं। उनमें जो अविवाहित हों, उनकी सूची लेने के लिए मैं आया हूँ।" घनी मूछों के भीतर से मुस्कराते हुए डॉक्टरजी ने कहा, "बस, इतनी सी बात है? तो लिख लीजिये नाम।" डॉक्टरजी दो ही नाम बोल पाये थे कि मूर्ख

* महाराष्ट्र में इस प्रकार की संस्थाएं होती हैं, जिनका काम विवाहयोग्य लडके–लडकियों की सूचनाएं एकत्रकर वितरित करना होता है।

बन जाने की भावना से उन सज्जन ने चुपचाप कापी बंद करके जेब में रख ली। डॉक्टरजी ने जो दो नाम बताये, वे थे–"केशवराव हेडगेवार तथा माधवराव गोळवलकर।" इस घटना के समय डॉक्टरजी बहुत अस्वस्थ थे, परंतु तो भी उनके मुख से विनोद की निर्झरिणी छूटती ही रही।

इस खींचतान में सात-आठ मास बीत जाने पर कुछ लोगों के आग्रह के कारण डॉक्टरजी बिहार के सुप्रसिद्ध उष्ण कुंड में उपचार लेने के लिए राजगीर गये। उस समय उन्होंने गुरुजी को अपने साथ ले चलने की इच्छा प्रकट की, परंतु बढते हुए कार्य के दायित्व के कारण गुरुजी उनके साथ नहीं जा सके। रामनवमी के बाद वे राजगीर से लौट आये। ग्रीष्म में लगनेवाले शिक्षण-शिविर मानो उनकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। मई के आरंभ में वे पूना के शिविर में भाग लेने के लिए गये, जहाँ वे पंद्रह दिन तक रहे। राजगीर के उपचार से उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ था, परंतु फिर भी वे बैठक, चर्चा, भेंट आदि कार्यक्रमों में सदा की ही भाँति भाग लेते रहे। उनके नागपुर वापस जाने से पूर्व गुरुजी भी पूना आकर चले गये थे।

डॉक्टरजी १६ मई को नागपुर आ तो गये, परंतु उसी दिन से उनका स्वास्थ्य इतना अधिक बिगड गया कि उसके पुनः सुधार की समस्त आशाएं एकदम समाप्त हो गयीं। दिन-प्रतिदिन उनका रोग बढता ही गया। औषधोपचार जारी था, परंतु कोई अनुकूल परिणाम दिखायी नहीं देता था। नागपुर के शिक्षण-शिविर में सर्वाधिकारी का दायित्व संभालते हुए गुरुजी डॉक्टरजी के स्वास्थ्य का भी विशेष ध्यान रखते थे। इधर डॉक्टरजी रोगशय्या पर पडे रहकर भी वर्ग में प्रांत-प्रांत से एकत्र सैकडों स्वयंसेवकों से मिलने के लिए अकुला रहे थे। २ जून को गुरुजी ने "शिवाजी का जयसिंह को पत्र" विषय पर जो भाषण

दिया, उसे सुनने के लिए डॉक्टरजी तेज बुखार में भी उपस्थित हुए। ८ जून को सायंकाल शिविर का सार्वजनिक समारोप था। उस कार्यक्रम में उपस्थित रहने के लिए डॉक्टरजी ने मोटर मँगवा ली थी, परंतु गुरुजी के आग्रह के कारण उन्होंने उस दिन जाना स्थगित कर दूसरे दिन प्रातःकाल जाना स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन केवल स्वयंसेवकों के समारोप–कार्यक्रम में उनको ले जाया गया। उस समय उन्होंने स्वयंसेवकों को विदाई देते हुए जो भाषण किया, वह सभी से विदाई का भाषण सिद्ध हुआ।

उस भाषण में उन्होंने कहा, "आप लोग जानते ही हैं कि मैं गत २४ दिनों से रुग्ण-शय्या पर पडा हूँ। संघ की दृष्टि से यह वर्ष बडे सौभाग्य का है। आज अपने सामने मैं हिन्दू राष्ट्र की छोटी सी प्रतिमा देख रहा हूँ। पूना के शिक्षण-शिविर में मैं पंद्रह दिन तक रहा और वहाँ मैंने प्रत्येक स्वयंसेवक से स्वयं परिचय कर लिया था। मैं समझता था कि यहाँ भी ऐसा ही कर सकूंगा, किन्तु मैं आपकी सेवा तनिक भी नहीं कर सका। इसीलिए आज मैं यहाँ आप सबके एकत्र दर्शन करने आया हूँ।"

इसके बाद उन्होंने विभिन्न विचार प्रकट करते हुए बताया कि संघ केवल स्वयंसेवकों तक ही सीमित न होकर बाहरवालों के लिए भी है तथा हिन्दू जाति का अंतिम कल्याण इसी संघटन के द्वारा संभव है एवं अन्त में कहा, "इस मार्ग पर चलते-चलते एक ऐसा सुवर्ण-दिवस अवश्य आयेगा, जब सारा भारतवर्ष संघमय हुआ दिखाई देगा। तब हिन्दू जाति की ओर आँख उठाकर देख सकनेवाली शक्ति संसार में नहीं रहेगी। हम किसी पर आक्रमण करने के लिए नहीं निकले हैं, किन्तु इस बात की सतर्कता तो हमें रखनी ही होगी कि कोई हम पर आक्रमण न कर पाये। मैं आज आपको कोई नयी बात नहीं बता रहा हूँ। हममें से प्रत्येक स्वयंसेवक को चाहिए कि वह संघ-कार्य को ही अपने जीवन का

प्रधान कार्य समझें। आज मैं आपको इस दृढ विश्वास के साथ विदाई दे रहा हूँ कि आप सब इसी एक मंत्र को—कि एकमात्र संघकार्य ही मेरे जीवन का कार्य है—अपने हृदय पर भलीभाँति अंकित करके ही यहाँ से विदा लेंगे।"

भाषण के बाद डॉक्टरजी घर गये परंतु उनकी दशा और अधिक खराब होती गयी। उनकी पीठ का एक्स-रे कराने के लिए १५ जून को उन्हें मेयो अस्पताल ले जाया गया, जहाँ वे तीन दिन तक रहे। उनकी सुश्रूषा करने के लिए गुरुजी दिनरात उनके समीप रहते थे। तीन दिन बाद उन्हें नागपुर के संघचालक श्रीबाबासाहेब घटाटे के बंगले पर ले जाया गया। २० जून को उनका रक्तचाप बहुत बढ गया, जिसके कारण डॉक्टर लोग चिंतित हो गये। वे आपस में परामर्श करने लगे कि अब तो लम्बर पंक्चर करना ही होगा। इसे डॉक्टरजी ने सुन लिया तथा समझ लिया कि अब वे कुछ ही समय के मेहमान रह गये है। अतः संघकार्य के भविष्य की दृष्टि से विचार करने के लिए उन्होंने, डॉक्टर शर्मा से कहकर, गुरुजी तथा अन्य मित्रों को बुला लिया। गुरुजी के समीप आते ही उन्होंने कहा, "संघ के इस कार्य को आप स्वयं संभालिये और फिर मेरे शरीर का जो करना हो, कीजिये।" उत्तराधिकार की यह भाषा सुनकर गुरुजी शोकग्रस्त हुए और बोले, "डॉक्टरजी, यह आप क्या कह रहे हैं? आप इस बीमारी से शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे।" इस पर डॉक्टरजी ने हँसते हुए कहा, "यह तो ठीक है, परंतु मैने जो कुछ कहा है, उसे अवश्य ध्यान में रखिये।"

इस रूप में संघ-कार्य की व्यवस्था होने के उपरान्त कुछ ही समय में लंबर पंक्चर किया गया। उस समय असह्य कष्ट के कारण डॉक्टरजी अचेत हो गये। उसी अचेतनावस्था में शुक्रवार दि. २१ जून को प्रातः ९ बजकर २७ मिनट पर डॉक्टरजी के व्यथाजर्जर प्राण अनंत में मिल गये।

मृत्यु ! आखिर कौन उसे टाल सका है ? किन्तु किन्हीं व्यक्तियों की मृत्यु भी समाज के लिए वैभवदायी सिद्ध हो सकती है। जीवन भर ध्येय के लिए निःस्वार्थ प्रयत्नों की पराकाष्ठा करनेवाले ऐसे व्यक्तियों का जीवन लाखों लोगों का प्रेरणा-केन्द्र बन जाता है। यह सत्य है कि ऐसे कठोर ध्येयनिष्ठ व्यक्तियों का आन्तरिक चैतन्य, शरीर के भस्म हो जाने पर भी जीवित और विद्यमान रहता है। डॉक्टरजी के देहावसान के बाद उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने कहा "डॉक्टर हेडगेवारजी ने अपना अंतकरण पिघलाकर हिन्दू समाज में चैतन्य भर दिया।" कितने चरितार्थ हैं ये उद्‌गार ! वास्तव में प. पू. डॉक्टरजी का चैतन्य संघ के लक्षावधि युवकों की ज्वलन्त देशभक्ति के रूप में उनकी मृत्यु के पश्चात् भी लगातार विकसित होता चला आ रहा है। बेचारी मृत्यु भी यह देखकर लज्जित हो गयी होगी कि सच्चा जीवन तो चिरन्तन होकर देश भर में फैल गया, अपने हाथ केवल मुठ्ठी भर राख ही लग पायी। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब वह स्वयं तो रोता है परंतु उसके माता-पिता तथा संबंधी प्रसन्नता के कारण लड्डू और पेडे बाँटते हैं। इसके विपरीत जब वह इस संसार से विदा लेता है, वह स्वयं यह सोचकर समाधान तथा शांति का अनुभव करता है कि "मैंने आजीवन अपने कर्तव्य का पालन किया तथा चरित्रपूर्ण जीवन बिताया," परंतु उसके मित्र और संबंधी आँसुओं से नेत्र भर लाते हैं। लेकिन ऐसे व्यक्ति का जीवन सार्थक हो गया, क्या इसमें कोई संदेह है ? श्रीगुरुजी के शब्दों में, "एक-एक स्वयंसेवक के लिए अकुलाने तथा रोनेवाले सहस्त्रों अंतःकरण निर्माण कर, असंभव को भी संभव बनानेवाले डॉक्टरजी के जीवन की सार्थकता को क्या कराल काल भी कभी छीन पायेगा ?" डॉक्टरजी की मृत्यु तो "संसार मरण में जीता

है, पहले मरण अमरता फिर है " के अनुसार अमरता ही देनेवाली थी ।

प. पू. डॉक्टरजी चल बसे और इधर शोकसंतप्त अवस्था में ही गुरुजी अपने सहयोगियों से कहने लगे, "अब रोते बैठने के लिए हमारे पास समय कहाँ ? एक हाथ से आँसू पोंछकर दूसरे हाथ से हमें कार्य करना होगा।" डॉक्टरजी द्वारा छोडी गयी तपस्या ही अब गुरुजी का मार्गदर्शन कर रही थी । कुछ लोगों ने उस समय गुरुजी के सम्मुख यह विचार रखा कि सैनिक व्यवस्था के साथ डॉक्टरजी की शवयात्रा निकाली जाय । इसको अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, " संघ कोई सैनिक संघटन नहीं, वह तो एक विशाल परिवार हैं । डॉक्टरजी इस परिवार के प्रमुख थे । इस दृष्टि से उनका अंतिम संस्कार सादगीपूर्वक ही किया जाना चाहिए।" डॉक्टरजी के सहवास में रहकर गुरुजी संघ के तंत्र में कितने निपुण हो चुके थे, यह इससे पता चलता है । इमरसन ने ठीक ही कहा है, "कोई भी महान् आत्मा अपने जीवन का रहस्य किसी न किसी व्यक्ति के हाथ में विश्वासपूर्वक सौंपे बिना, इस भूमंडल से विदा नहीं लेती।" सन् १९४० के बाद गुरुजी का जीवन इमरसन के इस वचन की पूर्ण साक्षी देता रहा है ।

डॉक्टरजी के देहावसान का समाचार ज्ञात होते ही सभी स्थानों से नागपुर की ओर शोक-संदेशों का ताँता लग गया । उनमें सभी दलों तथा महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संदेश थे । जिन-जिन व्यक्तियों को उनके मधुर स्नेह का पान करने का अवसर मिला था, उन सभी ने संदेश भेजे तथा उनके द्वारा प्रेषित पत्र मानो उनके आँसुओं से ही लिखे गये थे ।

डॉक्टरजी की मृत्यु के कारण असंख्य व्यक्ति अनाथ हो गये थे तथा उनकी दशा ऐसी हो गयी थी मानो आसमान सिरपर

टूट पडा हो। एक स्वयंसेवक ने तो यहाँतक लिखा था कि "मेरी स्थिति ऐसी होगयी है, जैसे अयोध्या के लोगों की राम के चले जाने के बाद हुई थी।" किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से एक पत्र में भी निराशा की ध्वनि कदापि नहीं थी। किसी ने ऐसी भावना प्रकट नहीं की कि "डॉक्टरजी चल दिये, अब सारा खेल समाप्त होगया।" सभी पत्रों में लक्ष–लक्ष हृदयों के ये ही संकल्प आ रहे थे कि दु:ख को विवेकपूर्वक सहनकर डॉक्टरजी के जीवन का शेष कार्य पूर्ण करेंगे तथा उसके लिए अपना संपूर्ण कर्तृत्व संघ के चरणों में समर्पित कर देंगे। मध्य भारत के एक कार्यकर्ता ने लिखा था, "सरसंघचालकजी ने हिन्दू राष्ट्र की उन्नति का जो कार्य खडा किया है, उसके मंदिर पर शिखर चढाने का कार्य अब हमें पूर्ण करना होगा।" एक अन्य कार्यकर्ता ने लिखा था, " अपनी स्फूर्ति एवं अंत:करण पीछे छोडकर लाखों का पालनहार चल दिया है। वह स्फूर्ति और अंत:करण हम सबके पास सुरक्षित है, जिसके बलपर हमने उनका प्रिय संघ–कार्य बढाते रहने के लिए कमर कसी है।" पंजाब में संघ–कार्य करने के लिए गये एक कार्यकर्ता की भावना इन सबसे बढकर उल्लेखनीय है। उसने मन ही मन किये संकल्पों को प्रकट न करते हुए लिखा था, "प. पू. डॉक्टरजी की मृत्यु से जो अनुभव हुआ, उसे प्रत्यक्ष कार्य-रूप में प्रकट करने का निश्चय कर लिया है।" इन तथा इनके समान असंख्य पत्रों में उत्साह तथा आत्मविश्वासपूर्वक आगे बढने का ही निश्चय व्यक्त हुआ था।

इसी प्रकार संघ के असंख्य हितचिंतकों तथा देश के नेताओं ने भी यह विश्वास दिलानेवाले संदेश भेजे थे कि "यद्यपि कठिन आपत्ति आ पडी है, तथापि आगे बढो। हमारे आशीर्वाद आपके साथ हैं।" स्वातंत्र्यवीर सावरकरजी को, जिन्होंने अपना समग्र जीवन हिन्दूराष्ट्र के उत्थान के लिए समर्पित किया था,

पू. डॉक्टरजी के निधन से असीम दु:ख हुआ। किन्तु उन्होंने कर्तव्यकठोर होकर अत्यंत प्रेरणादायक संदेश भेजा, जिसका आशय था, "यद्यपि डॉक्टरजी चल दिये हैं, फिर भी, आइये, हम सब मिलकर प्रयत्नों की पराकाष्ठा करते हुए डॉक्टरजी तथा संघ, दोनों को चिरायु करें।" डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने भी अपने संदेश में इसी प्रकार की प्रखर कर्तव्यनिष्ठा की याद कार्यकर्ताओं को दिलायी थी। उन्होंने लिखा था, "डॉक्टरजी के अनुयायी एवं हितचिंतक उनके द्वारा प्रारंभ महान् कार्य को अखंड गति से विकसित कर ही उनकी स्मृति तथा उनके प्रति हृदयस्थ सद्भाव की सच्ची अभिव्यक्ति कर सकेंगे।" भाई परमानंदजी ने तो देश के सभी युवकों को संबोधित करते हुए लिखा था कि, "हिन्दू-कार्यों के प्रति उनकी भक्ति तथा स्वार्थ-त्याग की भावना-ये दो बातें ऐसी हैं, जो हिन्दुस्थान के युवकों के लिए सदैव आदर्श बनकर रहेंगी।" महाराष्ट्र कांग्रेस के अध्यक्ष ने भी श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए लिखा था, "उनके प्रति आदर तथा अभिमान से देखनेवालों में मैं भी एक हूँ। उनकी संघटन-कुशलता अनुकरणीय थी। उनका राष्ट्राभिमान प्रखर था और इसीलिए उनके कार्य से मैंने भविष्य में सुयोग्य बातों की ही अपेक्षा की है।"

पू. डॉक्टरजी की पुण्यतिथि पर भावपुष्पों की ऐसी वर्षा कई दिन तक होती रही। उनकी मृत्यु पर हिन्दुस्थान के अनेक स्थानों से आये संदेशों के उत्तर, सरकार्यवाह के नाते, श्रीगुरुजी ने भेजे। इन आठ-दस दिनों में भेजे गये सैकडों पत्रों में डॉक्टरजी के प्रति उनकी भक्ति तथा संघ के भावी उत्कर्ष के बारे में उनका प्रचंड आत्मविश्वास ही व्यक्त होता था। दु:ख से उनका मन भारी हो गया था। ऐसी अवस्था में भी उन्होंने लिखा, " हृदय में दु:ख का पर्वत खडा हो, तो भी उसे दबाकर ध्येय पर दृष्टि

स्थिर करते हुए कार्य में जुट जाना चाहिए।...आज का प्रत्येक क्षण धैर्य धारणकर कार्यरत हो जाने का है।"

श्रीगुरुजी के आत्मविश्वास की बात भी उल्लेखनीय है। विविध पत्रों में उन्होंने लिखा था, "प. पू. डॉक्टरजी ने संघ-नाम का जप करते हुए राष्ट्रोद्धार के यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दे दी है। चारों ओर भले ही अंधेरा प्रतीत होता हो, उस महापुरुष के जीवन का सूर्य हमारा मार्गदर्शन करने के लिए प्रखर तेज से प्रकाशमान है। प. पू. डॉक्टरजी की इच्छा को पूर्ण करना अब पूरी तरह हमारे हाथों में है। अब केवल एक ही बात शेष है और वह यह कि इस संघ की, जो प.पू. डॉक्टरजी का सच्चा चिरस्थायी स्मारक है, सर्वंकश उन्नति करना।...उनकी पुण्यस्मृति को साक्षी मानकर उनके जीवन-कार्य को अपने कर्तृत्व एवं त्याग के बल पर पूरा करने की प्रतिज्ञा करते हुए हमें वह कार्य कर दिखाना चाहिए, जो उनके जीवित रहते नहीं हो सका। प. पू. डॉक्टरजी के पुण्यप्रभाव के कारण वह बात होकर ही रहेगी, जो अभीतक कभी नहीं हो सकी। संघ-कार्य अप्रतिहत गति से बढता ही जायेगा। हम लोग प. पू. डॉक्टरजी की शिक्षा-दीक्षा में तैयार हुए वीर हैं। हमारा गुरु कच्चा नहीं था। वह महापुरुष ईश्वरतुल्य ही था। उसने जहाँ से संघ-कार्य का सूत्र हमें सौंपा है, वहीं से उसे उठाकर, उनके बताये मार्ग से आगे बढते हुए हम उसे पूर्ण करके ही रहेंगे। एक महातपस्वी की अनन्त तपस्या का पुण्यबल हमारे पीछे खडा है। आइये, हम लोग उनकी स्मृति पर उन्हीं के कार्य के पुष्प समर्पित करें। उनके पुण्य प्रताप से संघ बढेगा और सफल होगा।"

संघ के कतिपय हितचिंतकों के सामने प्रश्न खडा था, "प. पू. डॉक्टर हेडगेवार चले गये, अब क्या होगा?" यह धारणा रखनेवाले लोग कि संघ में व्यक्तिनिष्ठा है, मन में संदेह करने

लगे थे कि कहीं डॉक्टरजीरूपी अकेले खंभे पर खडी संघ की इमारत का भविष्य उस द्वारिका नगरी जैसा तो नहीं हो जायगा, जो श्रीकृष्ण के परलोकगमन के पश्चात् डूब गयी थी। यह नहीं कि संघ के शत्रुओं ने यह सोचकर कि चूंकि संघ एकचालकानुवर्ती है, अतः अब उसे समाप्त हुआ ही मानना चाहिए, संतोष की साँस न ली हो। कुछ लोगों ने इस धारणा से कि डॉक्टरजी का स्थान ले सकने योग्य कर्तृत्वसंपन्न व्यक्ति संघटन में होगा ही नहीं, परामर्श दिया कि अब संघ को चलाने के लिए नेताओं की एक समिति नियुक्त की जानी चाहिए। संघ के बढते हुए स्वरूप के कारण जो लोग जला करते थे तथा जिन्हें संघ की शुद्ध राष्ट्रीय विचारधारा खटकती थी, उन्होंने संघ में परिवर्तन कराने की दृष्टि से इसे उचित अवसर जानकर, डॉक्टरजी को एक "पथभ्रष्ट देशभक्त" बताते हुए यह उपदेश देना प्रारंभ किया कि उनके अनुयायियों को अब पुर्नविचार करके इस संकीर्ण सांप्रदायिक तथा अराष्ट्रीय नीति का परित्याग कर देना चाहिए। उस समय किसी ने क्रोध से और किसी ने लोभ से, जो मन में आया, कह डाला। इस प्रकार नौ-दस दिन बीत गये।

प. पू. डॉक्टरजी की मृत्यु के दस दिन बाद अकोला में कुछ कार्यकर्ताओं की एक बैठक सरसंघचालकजी की नियुक्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए हुई। इस बैठक में नागपुर के संघचालक श्रीबाबासाहेब घटाटे, वर्धा के संघचालक श्रीअप्पाजी जोशी, बरार प्रांत के संघचालक श्रीबापूसाहब सोहनी, महाराष्ट्र प्रांत के संघचालक श्रीकाशीनाथराव लिमये तथा नागपुर प्रांत के संघचालक श्रीबाबासाहब पाध्ये उपस्थित थे। इन सब कार्यकर्ताओं ने आद्यसरसंघचालकजी की अंतिम इच्छा को ध्यान में रखते हुए, सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया कि श्रीगुरुजी सरसंघचालक बनें। डॉक्टरजी की तेरहीं के दिन आद्यसरसंघचालकजी की

पवित्र स्मृति को श्रद्धांजलि अर्पित कर नूतन सरसंघचालक के नाम की घोषणा करने का निश्चय किया गया।

इस कार्यक्रम के औचित्य का विचार कर दि. ३ जुलाई को रेशमबाग संघस्थान पर, प. पू. डॉक्टरजी की दहन-भूमि के सम्मुख ही, उसे संपन्न किया गया। उस समय नागपुर की सारी शाखाएं वहाँ एकत्र की गयी थीं। इस समारोह में नागपुर प्रांत-संघचालक माननीय बाबासाहेब पाध्ये ने, नूतन सरसंघचालक की नियुक्ति की घोषणा करते हुए, भाषण दिया। प्रारंभ में अपने दिवंगत नेता की अतृप्त आकांक्षा पूर्ण करना सबका परम कर्तव्य बतलाकर उन्होंने कहा, "अब इसके पश्चात् डॉक्टरजी हमें संघ के रूप में ही दिखायी देंगे। संघ के कार्य को अमर्याद रूप से बढाना ही उनको जीवित रखना है।" भाषण के अन्त में उनकी अन्तिम इच्छा सबपर प्रकट करते हुये उन्होंने कहा, "डॉक्टरजी ने अपना इहलोक का जीवन समाप्त होने से पूर्व ही, संघ की सब तरह की चिंता होने के कारण, भावी कार्य की पूर्ण व्यवस्था कर दी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एकचालकानुवर्ती संघटन होने के कारण, उसके चालक की प्रत्येक इच्छा हम सभी के लिए परम वंदनीय है। गत दि. २० जून को, अपनी मृत्यु से एक ही दिन पूर्व डॉक्टरजी ने संघ–कार्य का सारा दायित्व अपने बाद परमपूजनीय माधवराव गोळवलकर पर सौंपा है। आद्य-सरसंघचालक के नाते उन्होंने अपने सर्वाधिकार प. पू. माधवरावजी के अधीन किये हैं। अतः मैं आज घोषणा करता हूँ कि अपने आद्यसरसंघचालक की अंतिम इच्छा के अनुसार परमपूजनीय माधवरावजी गोळवलकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक हुए हैं। अब से वे हमारे लिए डॉक्टरजी के स्थान पर हैं। अपने नूतन सरसंघचालक को मैं अपना प्रथम प्रणाम समर्पित करता हूँ।"

डॉक्टरजीका निजी घर

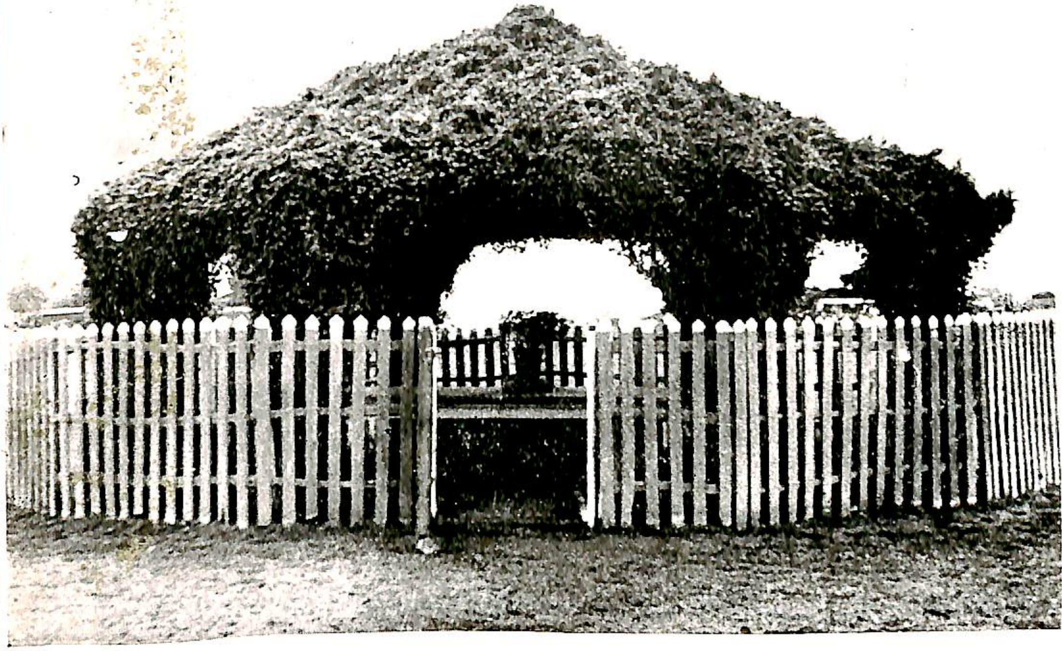

" केशव को नित स्मरते "

प. पू. डॉक्टरजी के वयोवृद्ध चाचा, श्रीआबाजी हेडगेवार का भी भाषण हुआ। उन्होंने कहा, "...सब प्रकार के विरोधों तथा उपहासों की परवाह न करते हुए उन्होंने हिन्दू राष्ट्र की घोषणा की। 'हिन्दुस्थान हिन्दुओं का' की निर्भीक घोषणा करनेवाले प्रथम वीर वे ही थे। डॉक्टरजी ने आपके सामने कार्य का आदर्श रखा है तथा आपको हजारों साथी भी प्रदान कर दिये हैं। अतः उनके चले जाने पर शोक न करते हुए आप कार्य में जुट जायँ।" उन्होंने आगे कहा, "ध्यान रखिये, हमारे डॉक्टरजी हमें छोडकर नहीं गये हैं। आज हम उन्हें माधवरावजी गोळवलकर के रूप में देख सकते हैं। हमें उनके आदेशों का, डॉक्टरजी के ही आदेश मानकर पालन करना चाहिए, यही मैं अन्त में कहना चाहता हूँ।"

इसके पश्चात् सरसंघचालक के पद से श्रीगुरुजी का भाषण हुआ। उन्होंने कहा, "...डॉक्टरजी स्वयं एक अत्युच्च आदर्श बन चुके थे। जो ऐसे महापुरुष के चरणों में नतमस्तक नहीं हो सकता, वह संसार में भी कुछ नहीं कर सकता। उनमें माता की वत्सलता, पिता का दायित्व तथा गुरु की शिक्षा का समन्वय हुआ था। ऐसे महान् व्यक्ति की पूजा करने में मैं अत्यंत गर्व का अनुभव करता हूँ।...चंदन, पुष्प आदि से पूजा करना तो घटिया मार्ग है। जिसकी पूजा करना हो, उस के समान गुणी बनने का प्रयत्न करना ही उसकी सच्ची पूजा है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' यही हमारे धर्म की विशेषता है और हम इसी प्रकार की पूजा करना चाहते हैं।...हिन्दू समाज के पत्थरों से चैतन्ययुक्त एक लाख मूर्तियाँ निर्माण की जा सकीं, यही एक बात उनकी महानता की द्योतक है। आजतक 'संघटन चाहिए, संघटन चाहिए' का शोर मचानेवाले तो अनक हुए, परंतु सच्चे हृदयों का अभेद्य संघटन किसने निर्माण किया ? एक-एक स्वयंसेवक

के लिए अकुलानेवाले तथा आँसू बहानेवाले हजारों हृदय किसने निर्माण किये ? डॉक्टरजी ने असंभव को संभव कर दिखाया।...

"...परमपूजनीय डॉक्टरजी ने सरसंघचालकत्व का कल्पनातीत महत्वपूर्ण दायित्व मुझपर सौंपा है। किन्तु यह तो विक्रमादित्य का वह सिंहासन है, जिस पर यदि गडरिये का लडका भी बैठा दिया जाय, तो उचित न्याय ही करेगा। आज इस सिंहासन पर आरूढ होने का प्रसंग मुझ जैसे साधारण व्यक्ति पर आया है। किन्तु डॉक्टरजी मुझ जैसे व्यक्ति से भी वे ही बातें कहलायेंगे, जो सर्वथा उचित होंगी। हमारे महान नेता के पुण्य प्रताप के फलस्वरूप मेरे हाथों से उचित बातें ही होंगी। अब हम पूर्ण विश्वास के साथ अपने कार्य में दत्तचित्त हो जायं तथा इस संघ-कार्य को पहले जैसी निष्ठा, परंतु दूने उत्साह से, आगे बढायें।"

श्रीगुरुजी जब सरसंघचालक के महान् पद पर आसीन हुए, तब उनके प्रत्येक शब्द से उनकी संघ-निष्ठा तथा कर्तृत्व के विषय में आत्मविश्वास ध्वनित हो रहा था। कुछ लोगों ने यह कहा कि इतने बडे कार्य का भार वहन करने की दृष्टि से गुरुजी की आयु तथा अनुभव कम है, तथा कुछ ने यह संदेह व्यक्त किया कि निवृत्ति-मार्ग का यह साधक डॉक्टरजी के इस आन्दोलनमय कार्य को कैसे निभा सकेगा ! इसी समय संघ की सैनिक शिक्षा पर अनेक प्रकार के बंधन लगाकर सरकार भी उसके अनुशासन, ओज और तेज को खत्म करने में लगी थी। साथ ही गुरुजी के मार्ग में और अधिक कठिनाइयां खडी करने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल भी प्रयत्न कर रहे थे। वस्तुतः राजनीति से अपने को अलिप्त रखकर केवल हिन्दू समाज में एकता निर्माण करनेवाले संघ जैसे रचनात्मक संघटन को यदि कोई जबरदस्ती ही अपना शत्रु मान ले तो इसमें संघ का दोष क्या हो सकता था ? परंतु लोग समझते थे कि संघ के नेता के

दिवंगत हो जाने के कारण विरोधी प्रचार तथा चालबाजियों के द्वारा उसे समाप्त किया जा सकता है। गुरुजी ने परिस्थिति का समुचित आकलन कर, ३ जुलाई के अपने भाषण के अंत में, स्पष्ट शब्दों में कहा, "हमारे डॉक्टरजी ने मतमतान्तर के कोलाहल में डूब जानेवाला पिलपिला संघटन हमारे अधीन नहीं किया है। हमारा संघटन एक अभेद्य किला है। इसकी दीवारों पर चंचु-प्रहार करनेवालों की चोंचें वहीं टूटकर गिर जायें, इतनी दृढ तथा मजबूत परकोटाबंदी डॉक्टरजी ने कर रखी है।"

श्रीगुरुजी द्वारा कार्य के प्रारंभ में ही व्यक्त किये गये इस आत्मविश्वास के कारण, संघटन के चारों ओर संदेह, आशंका एवं विरोध का जो पटल जमा हो रहा था, वह दूर होगया तथा कार्य का तेज एवं सामर्थ्य तूफानी गति से बढता दिखायी दिया। इस नवीन नेतृत्व ने निकटतम परिस्थिति का सामना करते हुए, उसमें से ही प्रगति का पथ प्रशस्त करके दिखा दिया।

दि. २१ जुलाई को पू. डॉक्टरजी का मासिक श्राद्ध-दिवस मनाया गया। श्रीगुरुजी ने इस दिन संघ को अंधश्रद्धालु तथा प्रतिक्रियावादियों का संघटन बतानेवालों को उत्तर देते हुए कहा, "कुछ लोगों का ऐसा आक्षेप था कि हम स्वयंसेवक व्यक्तिपूजक हैं। परंतु इसका हमें दुःख नहीं है। किन्तु इस घटना से कि डॉक्टरजी के बाद भी संघ के स्वयंसेवक पूर्ववत् कार्य कर रहे हैं, क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि डॉक्टरजी ने उन्हें अंधश्रद्धा नहीं सिखायी ? " इसी भाषण में उन्होंने अपना आन्तरिक विचार व्यक्त करते हुए कहा, "हम पर जितने आघात होंगे, उतनी ही अधिक शक्ति से, रबर की गेंद के समान उछलकर, हम लोग उपर की ही ओर उठेंगे। हमारी शक्ति अबाधित रूप से बढती ही जायेगी और एक दिन वह सारे राष्ट्र में छा जायेगी।"

संघ-कार्य का विस्तार

" डॉक्टरजीने मुझे सेवा करने का आदेश दिया है। यों तो प्रत्येक स्वयंसेवक राष्ट्रकार्य के लिए सर्वस्व-समर्पण करने की प्रतिज्ञा करके ही संघ में आता है, परंतु स्थान की महत्ता के कारण यह नैतिक दायित्व मुझपर और अधिक आ पडा है। इस दायित्व का मुझे भली-भाँति ज्ञान है।" श्रीगुरुजी ने सरसंघचालक के नाते कार्य आरंभ करते समय मन की यह भूमिका रखी थी।

इस समय महाराष्ट्र, बरार, मध्यप्रदेश तथा पंजाब प्रान्तों में ही संघ-कार्य विशेष रूप से चल रहा था तथा अन्य प्रान्तों में उसका प्रवेश हाल ही में हुआ था। असम, कश्मीर, उडीसा आदि ऐसे प्रान्त भी थे, जहाँ संघ का प्रवेश तो क्या, नाम तक नहीं पहुँच पाया था। इतने कार्य को बढाते हुए उसे समग्र देश में व्याप्त तथा सुदृढ करने का दायित्व गुरुजी के कंधों पर आ पडा था। यह दायित्व निस्संदेह अत्यंत गुरु एवं विशाल था।

सरसंघचालक बनने के पश्चात् गुरुजी अपने पहले दौरे में वर्धा गये थे। वहाँ के स्वयंसेवकों ने एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकालना आरंभ किया था। उन्होंने श्रीगुरुजी से आग्रह किया कि वे उस पत्रिका के लिए एक संदेश दें। गुरुजीने जो संदेश लिखा, उसमें मानो उनका अंतःकरण प्रतिबिंबित हो उठा। उन्होंने लिखा, " 'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे' के चिरंतन तत्व को पुनः प्रस्थापित करनेवाले, एकमेवाद्वितीय प. पू. डॉक्टर हेडगेवार के अनन्य निष्ठावान अनुयायी, हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक हैं। हम किसी भी बाहरी

बात पर निर्भर नहीं करते। केवल अडिग श्रद्धा, ध्येय पर स्थिर दृष्टि एवं अपने नेता की महनीय स्मृति की अखंड प्रज्वलित राष्ट्र-प्रेम की अमर ज्योति के द्वारा ही हम अपना कार्य पूर्ण करेंगे तथा उद्दिष्ट का साधन कर हिन्दू राष्ट्र को विश्ववंद्य बनायेंगे।"

अब गुरुजी देश भर में लगातार दौरा करने लगे। एक स्थान पर एक दिन से अधिक न रहनेवाले अतिथि की भाँति यह यात्रा अखंड चलने लगी। प्रतिमास दो-एक प्रान्तों की प्रमुख शाखाओं को वे देखने जाते तथा रैलियाँ, बैठकें, चर्चा, मेल-मुलाकातें, शिविर तथा वर्ग जैसे कार्यक्रमों में भाग लेकर हजारों युवकों को संघकार्य की आवश्यकता का अनुभव कराते हुए उन्हें संघ-कार्य के लिए समर्पित होने को उद्यत करते थे। जहाँ कहीं वे जाते, वहाँ संघ-कार्य के प्रति स्वयंसेवकों का विश्वास अधिक दृढ हो जाता, श्रद्धा दृढमूल होती तथा उत्साह बढ जाता था। इस प्रकार के कार्यक्रमों से संघ-कार्य का शुद्ध दृष्टिकोण प्राप्त स्वयंसेवकों के मन पर यह सत्य भली भाँति अंकित हो जाता कि देशोद्धार के लिए संघटन ही एकमेव मार्ग है। इस सत्य की अनुभूति में से ही देश के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में संघ-शाखाओं का जाल फैलाने के लिए कार्यकर्ता सन्नद्ध हो जाते थे। गुरुजी के सरसंघचालकत्व का प्रत्येक वर्ष प्रगति लेकर ही आया है। गन्ने को पतले छोर से चूसना शुरू करने पर जिस प्रकार उसका प्रत्येक भाग अधिकाधिक मीठा ही निकलता आता है, उसी प्रकार प्रत्येक आगामी वर्ष में संघ-कार्य का रूप अधिकाधिक तेजस्वी, अनुशासनपूर्ण तथा व्यापक होता गया। गुरुजी के विचार इतने प्रभावी होते थे कि उन्हें सुनकर स्वयंसेवक सब प्रकार की कठिन परिस्थितियों से संघर्ष लेने को प्रस्तुत हो जाते थे। यही कारण था कि सन् १९४०-४१ की युद्धजन्य परि-स्थिति भी उन्हें संघ-कार्य से डिगा नहीं सकी।

जर्मनी के शक्तिशाली आक्रमण द्वारा नित्य नया भूप्रदेश पददलित किया जा रहा था और उसका प्रतिकार करने में अंग्रेज जी–जान से लगे थे। वे किसी भी रणक्षेत्र में पैर जमाकर खडे नहीं हो पा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में १५० वर्ष की पराधीनता से त्रस्त भारत अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न अवश्य करेगा, यह बात अंग्रेजों ने पहले से ताड ली हो, तो आश्चर्य नहीं। ऐसे समय विदेशी शासक अत्यंत कठोर होकर स्वाधीनता-आन्दोलन को दबा दिया करते हैं। ब्रिटिश सरकार ने भी यह बात समझ ली थी तथा उसने सभी संस्थाओं और संघटनों की गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखनी आरंभ कर दी थी। स्वभावत: संघ का देशव्यापी तथा अनुशासनबद्ध संघटन सरकार को बहुत चुभता था। इसी भय के कारण उसने सन् १९४० में संघ के गणवेश तथा उसके संचलनों पर प्रतिबंध लगा दिया था।

रा. स्व. संघ ने अपने कार्यक्रमों को ही अपना साध्य कभी नहीं माना। उसके विभिन्न कार्यक्रम वृत्ति का उल्लास तथा भावना को बनाये रखने के साधन मात्र रहे हैं। ऐसे किसी साधन के अभाव में यदि किसी न्यूनता का अनुभव हो जाय, तो उसकी पूर्ति कर देने की चतुराई एवं दक्षता गुरुजी ने सदा प्रकट की है। उन्होंने सारे देश के युवकों तक यह विचार पहुँचाया कि अंत:करण की सात्विक ध्येयनिष्ठा से किये गये किसी भी कार्यक्रम से "अनुशासन" उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने इन प्रतिबंधों का परिणाम संघ के कार्य पर बिलकुल भी नहीं होने दिया। कनखजूरे की एक टाँग टूट जाने का उसकी चाल पर जितना परिणाम होता है, उतना भी इन प्रतिबंधों के कारण संघ की गति पर नहीं हुआ। लाठी घुमाने तथा कबड्डी खेलने जैसे साधारण कार्यक्रमों की ओर उन्होंने स्वयंसेवकों का ध्यान इतना अधिक आकृष्ट कर दिया कि वे इन कार्यक्रमों में

ही अतीव उत्साह तथा स्फूर्ति पाने लगे। इस संबंध में उन्होंने कहा, "कबड्डी जैसे मामूली किन्तु निष्ठापूर्वक किये जानेवाले कार्यक्रम ही हमारी सफलता का मर्म हैं। इन कार्यक्रमों से निर्मित शक्ति ने ही विभाजन के समय पंजाब में लाखों के प्राण बचाये, शील की रक्षा की तथा मान–सम्मान और जन-धन को सुरक्षित रखा।" इस प्रकार संघ ने यह सिद्ध कर दिया है कि कार्यक्रम में व्यक्त होनेवाली लगन यदि ध्येय के प्रति प्राणवान् प्रेम सें युक्त हो, तो प्रत्येक कार्यक्रम मन को उल्लसित कर सकता है।

कार्य॰॰मों पर प्रतिबंध लगाने की सरकार की यह चाल यद्यपि विफल हो गयी थी, परंतु कुछ लोगों में यह विचार उत्पन्न हो रहा था कि अब कुछ करना चाहिए, संघटन की रट पर्याप्त हो चुकी है। उनका यह विचार गुरुजी को ज्ञात था। फिर भी उनका मन उनसे यही कहता था कि अभी इतना अनुशासनबद्ध तथा जाग्रत संघटन नहीं बन सका है, जो समाज का सफल आधार सिद्ध हो सके। इस कारण अन्य किसी ओर ध्यान देना घातक ही सिद्ध होगा। श्रीगुरुजी अपने ये विचार स्वयंसेवकों को भी अनुभव कराते थे। वे भली भाँति जानते थे कि वर्तमान समय में संघटन की शक्ति देश की सब समस्याओं को सुलझाने के लिए अत्यल्प ही है। ऐसे समय यदि स्वयंसेवकों की प्रवृत्ति को अपनी अनन्यता त्यागकर द्विविधा में पडने दिया जायगा, तो संघटन का बल क्षीण होने में देर नहीं लगेगी। उन्होंने सबको समझाया कि माया तथा राम, दोनों को प्राप्त करने की इच्छा से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। अतः अविचल श्रद्धा पर बल देते हुए उन्होंने संघ-शाखा बढाते जाने तथा कार्य को शीघ्रातिशीघ्र देशव्यापी बनाने के ही मंत्र का उद्‌घोष किया तथा लाखों युवकों के द्वारा उसे चरितार्थ भी करा लिया।

इधर संघ का विस्तार बढ रहा था तथा उधर जागतिक परिस्थिति के बिगडते जाने के कारण भारतीय देशभक्तों की आशाएं भी बढती जा रही थीं । युद्ध में अंग्रेजों के पग निरंतर पीछे ही हटते जा रहे थे । उनका साम्राज्यवाद का नशा बहुत कुछ उतर रहा प्रतीत होता था । भारत को महायुद्ध में सहभागी बनाने की इच्छा से सन् १९४२ के मार्च मास में सर स्टैफर्ड क्रिप्स औपनिवेशिक स्वराज्य संबंधी कुछ प्रस्ताव लेकर दिल्ली आये । इस समय अंग्रेजों की दशा अत्यंत संकटमय थी । पूर्व से बढनेवाले जापान ने मलाया, सिंगापुर तथा बर्मा पर अधिकार कर लिया था और भारत की सीमा पर भी तोपों का मुंह तान दिया था । सर क्रिप्स के प्रस्ताव इन्हीं परिस्थितियों के परिणाम थे ।

श्रीगुरुजी ने परिस्थिति की इस अनुकूलता का आकलन कर लिया तथा अवसर पर सफलता प्राप्त करने की इच्छा से संघ का कार्य दिन दूना रात चौगुना बढाने का आदेश दिया । विदेशी शासकों की दुर्बलता से लाभ उठाने योग्य शक्ति का अभाव गुरुजी को सदा बेचैन करता रहता था । वे सब कुछ भूलकर प्रचंड संघ–कार्य खडा करने का निश्चय मन में धारणकर अबाध गति से भ्रमण करने लगे । भ्रमण के लिए जहाँ जिस वाहन की आवश्यकता पडती थी, वहाँ वे उसका उपयोग करते थे ।

कार्य का विस्तार यदि चतुर्दिक करना हो, तो स्वयंसेवकों द्वारा अपने पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन से बचनेवाले समय में ही कार्य करना कैसे पर्याप्त होता ? अतः यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि अनेक युवक कुछ समय के लिए अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा त्यागकर संघ-कार्य के लिए आगे बढें । इस समय गुरुजी के मन में विचारों का प्रवाह जिस भाँति चल रहा था, वह उल्लेखनीय है । सन् १९४२ की वर्षप्रतिपदा के दिन नागपुर में हुए उत्सव में उन्होंने कहा, "हमारा अहोभाग्य

है कि हम आज जैसी संकटपूर्ण परिस्थिति में उत्पन्न हुए हैं। संकटकाल को हमें पर्व का ही काल समझना चाहिए। राष्ट्र के इतिहास में शताब्दियों के पश्चात् आनेवाला सुवर्ण-अवसर आज हमारी ओर बढा आ रहा है। इस समय यदि हम सोते रहे, तो हम जैसे अभागे दूसरे नहीं होंगे। संसार में उसी का नाम अमर हो जाता है, जो संकटकाल में कुछ कर दिखाता है। इसलिए प्रसन्न एवं निर्भय होकर संकटों से संघर्ष करना होगा। अपने सर्व-श्रेष्ठ सद्गुणों को प्रकट करने का सर्वोत्तम अवसर यही है।

"पतित राष्ट्र का पुनरुत्थान अधिक से अधिक एक पीढी में ही हो जाना चाहिए। किन्तु हमारी अवस्था क्या है? पूरे १७ वर्ष तक परिश्रम करने के बाद भी आज हमारा कार्य छोटा ही है। सत्यवादी होने के कारण हमारा संघ अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण करेगा। एक बार हमारे मुख से जो शब्द निकल गया, उसे हम सत्य करके ही दिखायेंगे। चाहे हमारा व्यक्तिगत जीवन नष्ट हो जाय, इसकी हमें परवाह नहीं। एक वर्ष के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन के सारे विचार स्थगित कर दीजिये। इस असिधाराव्रत को अपनाकर एक वर्ष के लिए संन्यासी बन जाइये। अपने प्रति चाहे जितना कठोर बनना पडे, उसके लिए तैयार हो जाइये। इस समय घर-बार या धन-दौलत की चिंता न हो। हमें अपना सारा समय, सारा ध्यान, सारी शक्ति इसी कार्य में केन्द्रित करना है। अन्य सभी व्यक्तिगत बातों को भुला दीजिये। उनको मन के द्वार के समीप भी मत आने दीजिए। ऐसी दक्षता से हम सभी को अपूर्व परिश्रम तथा कार्य करने के लिए सिद्ध रहना होगा।"

गुरुजी की यह पुकार भारत के प्रांत-प्रांत में हजारों उत्साही युवकों ने सुनी और उसी के फलस्वरूप सन् १९४२ के जून मास में प्रचारक योजना-साकार हुई। चौबीसों घण्टे केवल

संघ–कार्य करने के लिए सन्नद्ध युवकों के आगे आने से चारों ओर अप्रतिम उत्साह का वातावरण बन गया तथा शाखाओं की संख्या कई गुना बढ गयी।

इस समय मध्य भारत के कार्य को विशेष चालना देने की दृष्टि से श्रीगुरुजी एक अनुभवी कार्यकर्ता की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। इस निमित्त उनके सम्मुख श्रीभैय्याजी दाणी का नाम आया था। घर-गृहस्थीवाले व्यक्ति को प्रचारक बनाकर भेजना एक दृष्टि से विकट ही था। किन्तु गुरुजी ने यह भी करने की तत्परता प्रकट की। मन में निश्चय होते ही वे भैय्याजी दाणी को साथ लेकर उमरेड गये। वहाँ शाखा के बाद उन्होंने भैय्याजी के पिताजी को अपना विचार बतलाया। एक दिन जो बात सोची भी नहीं जा सकती थी, वह संपन्न हुई और घर–गृहस्थी वाले होते हुए भी श्रीभैय्याजी दो-ढाई वर्ष तक मध्य भारत के प्रचारक के रूप में कार्य करते रहे।

अन्यान्य प्रान्तों में सुयोग्य कार्यकर्ता नियुक्त करने का यह शुभारंभ था। प्रारंभ से ही संघ की विचारधारा यह रहती आयी है कि प्रत्येक राष्ट्र को सदा संघटित तथा बलसंपन्न रहना ही चाहिए। इस समय भी इस सूत्र को गुरुजी ने हाथ से छूटने नहीं दिया। वे सदा यह कहते थे कि हमारे समाज के वर्तमान वृद्धजन भी अपने जीवन में संघ–कार्य की सफलता देख सकें, यह हमारी इच्छा है; परंतु हिमसदृश शीतल इस समाज को चैतन्यमय बनाकर अपनी आशाएं साकार कर पाना "चट मँगनी पट ब्याह" जैसा सरल नहीं है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा, "कार्य के लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं बतायी जा सकती। ध्येयपूर्ति ही उसकी एक मात्र मर्यादा हो सकती है। किन्तु उसमें भी, 'इतने दिनों में उद्दिष्ट पूर्ण करके दिखा देंगे' जैसी कल्पना संभव नहीं। हमारा यह निश्चय चाहिए कि ध्येयसिद्धि तक, चाहे उससे पूर्व ही मृत्यु क्यों न आ जाय, कार्य करते रहेंगे।"

महायुद्ध के कारण निर्माण होनेवाली परिस्थिति को सामने रखकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सब दृष्टियों से अपना बल बढाने के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर रहा था। दिनो-दिन बदलनेवाला वातावरण परतंत्र भारत के अनुकूल ही होता जा रहा था। किन्तु सबसे बढकर दुर्भाग्य की बात यह थी कि अंग्रेजों के इस बुरी तरह संकट से घिर जाने पर भी उनका तख्ता उलटने की शक्ति उस समय देश में नहीं थी। यह सत्य है कि कांग्रेसी क्षेत्रों में आन्दोलन करने की बात चल रही थी, परंतु उनके पास भी इतनी संघटित जनशक्ति नहीं थी, जो अंग्रेजों से मुकाबला कर सकती। जनता में यद्यपि कांग्रेस के प्रति आस्था थी, परतु इतने से काम नहीं चल सकता था। असंघटित जनता के आन्दोलन से कुछ समय तक अंग्रेज सरकार को तंग करना ही संभव हो सकता था। इसके अतिरिक्त "हिंसा या अहिंसा" के सैद्धान्तिक मतभेद के कारण कांग्रेसी नेताओं में आन्दोलन की पद्धति के विषय में एकमत्य होता भी नहीं प्रतीत होता था। परिणाम यह हुआ कि "ऐसे सुअवसर पर कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए"-की अनिश्चित भावना से आन्दोलन छिड तो गया, परंतु उसे उचित स्वरूप प्राप्त न हो सका।

यह समय ऐसा था, जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील सभी संस्थाओं तथा संघटनों को एक करके, उन सबके संयुक्त बल पर यदि आन्दोलन छेडा जाता, तो भी इसमें संदेह ही था कि अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने में पूर्ण सफलता मिलेगी। कांग्रेस ने आन्दोलन आरंभ करते समय देश की अन्य संस्थाओं का सहयोग लेने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया था। ऐसी दशा में यदि अंग्रेजों ने उसे शीघ्र ही कठोरतापूर्वक दबा दिया तथा फलस्वरूप वह अपने पूर्व के आन्दोलनों से भी फीका पड गया, तो आश्चर्य ही क्या है?

प. पू. गुरुजी ने देश भर में सूत्रबद्ध प्रचारक-योजना खडी करके कार्य को द्रुतगति से बढाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न आरंभ कर दिये थे, जिसके परिणामस्वरूप संघ-कार्य में वृद्धि हो रही थी। किन्तु गुरुजी ने यह बात पूर्णरूपेण समझ ली थी कि केवल संघ की शक्ति तथा अन्य लोगों से प्राप्य सहयोग के बल पर विद्रोह खडा करके अंग्रेजी शासन को समाप्त कर पाना, कम से कम इस समय तो असंभव ही है।

इस आन्दोलन में संघ के स्वयंसेवकों ने सभी संभव योग दिया परंतु संघने अपनी संपूर्ण शक्ति नहीं झोंकी, इसका कारण यह था कि उसमें कूद पडने के बाद भी सफलता संभव न होने से बाद में संपूर्ण समाज घोर निराशा में डूब जाता। यह स्थिति गुरुजी को व्यापक दृष्टि से अत्यंत अहितकर तथा दु:खदायी प्रतीत होती थी।

आखिर आन्दोलन शीघ्र ही कमजोर पड गया तथा समाज में निराशा का वातावरण फैलने लगा। उधर महायुद्ध में अंग्रेज विजयी हुए, परंतु विजयी होने पर भी उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि भारत जैसे महादेश को अपने राज्य में बनाये रखना उनके लिए अत्यंत कठिन हो गया। उसी समय देश के सौभाग्य से ब्रिटेन में चर्चिल का मंत्रिमंडल बदलकर एटली का जो श्रमदलीय मंत्रिमंडल बना, वह पिछले मंत्रिमंडलों की अपेक्षा उदार तथा यथार्थवादी सिद्ध हुआ और उसने विरोधी दल के प्रबल विरोध के बावजूद भारत को छोड जाने का निश्चय कर लिया। यह सत्य है कि यदि योगायोग से घटनाचक्र स्वत: ही भारत के पक्ष में न घूमा होता, तो आन्दोलन की विफलता से उत्पन्न निराशा में देश डूब जाता तथा उसे पुन: सिर उठाने में काफी समय लग जाता।

इस काल में दूरदर्शितापूर्वक संघ ने जो प्रयास किये, वे सफल सिद्ध हुए। संघ–संस्थापक प. पू. डॉक्टर हेडगेवारजी ने अपने अंतिम भाषण में जिसे हिन्दू राष्ट्र का लघु रूप कहकर संबोधित किया था, वह संघ–कार्य अब प्रगति–पथ पर काफी आगे बढ चुका था। १९४६–४७ तक मनोवृत्ति एवं विस्तार की दृष्टि से संघ–कार्य की जैसी ठोस प्रगति हुई, उसकी कल्पना श्रीगुरुजी के एक तत्कालीन भाषण से की जा सकती है। इसमें उन्होंने कहा था, " प्रतिदिन एक शाखा देखने का निश्चय करके निकलने पर, देश में चल रही समस्त शाखाओं को देख आने के लिए कम से कम १०–१५ वर्ष का समय लग जाना बडी साधारण बात है। "

श्रीगुरुजी की कार्यपद्धति

परतंत्र भारत युद्धकालीन सुअवसर से लाभ नहीं उठा सका। किन्तु इसी बात पर विषाद करते न रहकर, युद्ध से अंग्रेजों के अवकाश पा लेने से पूर्व ही, श्रीगुरुजी ने देश भर में अनुशासनबद्ध देशभक्तों का प्रबल संघटन खडा कर दिया। अल्पकाल में ही संघटन को इतना व्यापक बना देना साधारण बात न थी। चार या आठ आना चंदे के रूप में लेकर सदस्य बना लेने की विधि से कुछ काल में लाखों सदस्य बनाये जा सकते हैं, इसमें संदेह नहीं, परंतु ऐसी सदस्य-संख्या, विशाल होने पर भी, सामूहिक जीवन, ध्येयनिष्ठा, अनुशासन आदि के अभाव के कारण संस्था के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होती। संघ ने इस प्रकार का दिखाऊ कार्य खडा करने की पद्धति का आरंभ से ही परित्याग किया है। उसने कार्य बढाने की जो पद्धति स्वीकार की है, उसमें व्यक्ति को चुनकर लाना, नित्य-नैमत्तिक कार्यक्रमों से उसे ध्येयनिष्ठ बनाना, राष्ट्रीय दृष्टि से उसका व्यवहार तथा चरित्र विकसित करना तथा उसे अनुशासन के सुदृढ सूत्र में बांधना आदि बातें प्रमुख हैं। ऐसे ही स्वयंसेवकों की संख्या से कोई भी संघटन प्रभावशाली बन सकता है तथा श्रीगुरुजी ने सन् १९४७ के अंततक इसी प्रकार का सुसूत्र तथा शक्तिशाली संघटन देश भर में खडा कर दिया।

श्रीगुरुजी जिस अतीव कुशलता से स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन तथा समाजहितकारी जीवन-रचना करने में उनकी सहायता करते हैं, उसे देखकर हाथीदाँत की वस्तुओं पर की जानेवाली सूक्ष्म पच्चीकारी का स्मरण हो आता है। इस प्रकार

उन्होंने प्रांत-प्रांत में उत्तम कार्यकर्ताओं की एक मालिका ही तैयार कर दी है। अपने पत्रों तथा अन्य विविध प्रकार के संपर्क के द्वारा कार्य तथा व्यवहार में उनकी सहायता करते हुए श्रीगुरुजी ने उनके श्रेष्ठ गुणों को विकसित किया है। उनके इन पत्रों में जिन विविध विषयों की चर्चा की गयी है, उनको यदि संकलित तथा संपादित किया जाय, तो संघटन-शास्त्र का एक उत्तम ग्रंथ ही तैयार हो सकता है। एक कार्यकर्ता को उन्होंने लिखा था, " शांतचित्त से, मन को बेकाबू न होने देते हुए, अपने तीव्र भावावेग को नियंत्रित रखकर कार्य करते जाओ। 'तुरत दान महाकल्याण' वाला कार्य यह नहीं है और सच्चे कार्यकर्ता को इसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। शीघ्रातिशीघ्र सफलता प्राप्त करने की कामना लेकर जीतोड परिश्रम करते हुए, सफलता दूर या बिलकुल ही दिखायी न देने पर भी, इसी अनन्य श्रद्धा से कि यही एकमेव मार्ग है, कार्य करते रहने का स्वभाव बना लो, तो समय को यथार्थ में सार्थक कर सकोगे।"

एक अन्य कार्यकर्ता को लोकसंग्रह के विषय में उन्होंने लिखा, " इस प्रकार व्यवहार किया जाय कि भावनाएं अकस्मात् भभक उठने की अपेक्षा क्रमशः तीव्र होने लगें, फिर भी हमारा व्यवहार रटा–रटाया, निर्जीव और निःसत्व भी कभी न होने पाये। इस रीति से कुशलतापूर्वक वृत्तियों का पोषण करने से कितना लाभ होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।" गुरुजी के इन पत्रों से अनेक कार्यकर्ताओं ने संघ के आचार-तंत्र को आत्मसात किया है। संस्था के घटकों की मनोरचना विशिष्ट हो, इस दृष्टि से क्रमशः और कुशलतापूर्वक संस्कार करते रहने के लिए आवश्यक धैर्य एवं जीवट बहुत कम उपलब्ध होता है। गुरुजी ने यही अतिदुर्लभ गुण बृहत् परिमाण में साधित कर लिया है। वे इस बात के प्रति अत्यंत दक्ष रहते हैं कि बैठक, चर्चा,

गीत, बौद्धिक, शिविर, प्रार्थना, पत्र-व्यवहार आदि संघ की प्रत्येक गतिविधि से स्वयंसेवकों पर अपेक्षित और निर्मल संस्कार ही हों, जिससे उनका जीवन अंतर्बाह्य समाजोन्मुख तथा कार्य-प्रवण बनता जाय। अखंड गति से किये जानेवाले इन्हीं संस्कारों में संघ की अतुल सामर्थ्य समायी है।

संघ के दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार के संस्कार करने के प्रमुख साधन हैं। गुरुजी इस बात के लिए भी सदा सतर्क रहते हैं कि ये साधन परिणामकारक हों। कहीं भी जाने पर शाखा में ठीक समय से पहुँचने के लिए वे मुख्यशिक्षक की घडी से अपनी घडी मिला लेते हैं और तदनुसार नियत समय पर ही शाखा पर पहुँचते हैं। उन्हें यह कदापि पसंद नहीं कि कोई स्वयंसेवक शाखा के कार्यक्रम में भाग न लेकर इधर-उधर टहलता रहे। वे सदा कहते हैं कि प्रत्येक स्वयंसेवक को शाखा के संपूर्ण कार्यक्रम मनोयोग तथा उत्साहपूर्वक करना चाहिए। यदि उन्हें शाखा में कोई स्वयंसेवक इधर-उधर टहलता दिखाई देता है, तो वे उसके सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं तथा विशेष कारण न रहने पर उसे गण में भेज देते हैं। वे इसे आवश्यक मानते हैं कि शाखा में घण्टे भर तक होनेवाले कार्यक्रम उत्साह तथा धूम के साथ हों। शाखा का निरीक्षण करने पर किसी स्वयंसेवक की लाठी छोटी, मोटी या ऊँची होनेपर वे तुरंत इस बात की ओर शिक्षक का ध्यान दिलाते हैं। उनका यह भी कहना है कि कडाके की सर्दी हो या मूसलाधार वर्षा, एक बार कार्यक्रम आरंभ हो जाने पर वह पूर्ण अनुशासन से ही संपन्न किया जाना चाहिए। किसी शाखा को भेंट देते समय यदि बीच में ही वर्षा आरंभ हो जाय, तो वे नखशिख भीग जाने पर भी प्रसन्नचित्त खडे रहते हैं और यदि भाषण दे रहे हों, तो उसमें भी विघ्न नहीं पडने देते। इस विषय में उनकी प्रवृत्ति अत्यंत कठोर पायी जाती है।

एक बार वे महाराष्ट्र की एक जिला–शाखा देखने गये थे। कार्यक्रम समाप्त होने को था। प्रार्थना के लिए सभी स्वयंसेवक यथास्थान खडे हो गये थे कि वर्षा ने अचानक उपस्थित होकर विघ्न डालना चाहा। स्वतः गुरुजी को उस वर्षा में खडा देखकर उपस्थित नागरिक अपनी छतरियाँ खोलकर लगाने में संकोच के कारण दायें–बायें देखने लग गये। किन्तु उनमें से गुरुजी के पास ही खडे एक सज्जन को एक युक्ति सूझी। उन्होंने सोचा कि यदि एक छतरी गुरुजी के ऊपर भी लगा दी जाय, तो न वे ही वर्षा से भीगेंगे और न अन्य लोगों को ही अपनी छतरियाँ लगाने में कोई संकोच होगा। उनका सोचना पूरा भी न हो पाया था कि प्रार्थना शुरू हो गयी। वे अपनी छतरी खोलकर गुरुजी की ओर बढे किन्तु गुरुजी ने दक्ष की स्थिति में ही प्रार्थना करते हुए बायें हाथ से उनकी छतरी बंद कर दी। इस प्रकार उन्होंने यही प्रकट किया कि संघ के कार्यक्रम सभी के लिए समान होते हैं, फिर चाहे वह साधारण स्वयंसेवक हो या सरसंघचालक। वर्षा जैसी क्षुद्र बातोंसे अपने कार्यक्रम में भंग नहीं पडने देना चाहिए, यह उनका मत है तथा इस प्रकार अनेकों अवसरों पर वे कार्यक्रम का महत्व समझाते रहते हैं।

बैठक में शाखा का वृत्त बताते समय यदि कोई कहे कि गत मास शाखा की उपस्थिति ८० थी और अब वर्षा के कारण घटकर ४० रह गयी है, तो गुरुजी तुरंत इस दोष को बता देंगे। वे शांत भाव से शिशुओं का प्रिय यह किस्सा सुनाने लगेंगे, " एक था कौआ और एक थी चिडिया। कौए का घोंसला गोबर से बना था और चिडिया का मोम से। एक बार बहुत जोर की वर्षा हुई और कौए का घोंसला बह गया।——"इसके बाद हँसी से ठहाके लगाते हुए वे स्वयंसेवक से पूछेंगे, " तो बताओ भला कि तुम्हारी शाखा गोबर की है या मोम की ?"

वे प्रत्येक कार्यक्रम का सदैव ध्यान रखते हैं तथा समय पर मोटर या अन्य वाहन न मिलने पर साइकिल से अथवा पैदल ही चल पडते हैं । ऐन समय पर यदि कोई, किसी भी कारणवश, कार्यक्रम में परिवर्तन करने को कहे, तो वे उससे कदापि सहमत नहीं होंगे । एक बार की घटना है । उन्होंने कलकत्ता जाना तय किया था । यह वह समय था, जब जापान द्वारा की जानेवाली बमवर्षा के कारण बंगाल में आतंक तथा भगदड मच गयी थी । ऐसी स्थिति में यह सोचकर कि गुरुजी को इस संकट में क्यों लाया जाय, कलकत्ता के कार्यकर्ताओं ने तार दिया, "कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया है । अतः मत आइये ।" गुरुजी को यह बात नही जँची तथा उन्होंने कलकत्ता के कार्यकर्ता को अकोला बुलाकर उसे अपनी यह असहमति बतायी । उसे आवश्यक सूचनाएं देकर रवाना किया तथा पुनः स्वयं भी दो–तीन दिन बाद उधर चले गये । नियोजित कार्यक्रम रद्द न होने देने के लिए वे कोई चिन्ता नहीं करते। तेज बुखार होने पर भी वे पूर्वनिश्चित कार्यक्रम पूर्ण करते हैं तथा अपनी अस्वस्थता का किसी को पता भी नहीं लगने देते । समर्थ रामदास स्वामी के विषय में एक कहावत है कि वे अपने बुखार को अपने कंबल में लपेटकर खूंटी पर टाँग देते तथा फिर अपने काम में इस भाँति जुट जाते, मानो कुछ हुआ ही न हो । श्रीगुरुजी के आचरण से प्रायः यह प्रतीत होता है कि रामदास स्वामी संबंधी उपर्युक्त कहावत में कोई अत्युक्ति है और वे अवश्य ही अपने बुखार को लाड–प्यार पाने का अवसर नहीं देते होंगे ।

व्यक्ति–व्यक्ति को राष्ट्र के अवयव के नाते सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए विविध कार्यक्रमों के द्वारा संस्कार करने पडते हैं। इन संस्कारों का प्रभावी होना संस्कारदाता की कुशलता के साथ साथ संस्कारग्रहीता की मनःस्थिति पर भी निर्भर करता है । इसी

कारण संघ के समस्त कार्यक्रमों में अनौपचारिकता तथा घरेलूपन लाने पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए संघ द्वारा आयोजित सभा-सम्मेलनों में केवल औपचारिकता के कारण बीच बीच में बजायी जानेवाली तालियों का अभाव रहता है। यदि कोई नया स्वयंसेवक या व्यक्ति अज्ञान के कारण तालियाँ पीटने लगे तो गुरुजी उससे यह प्रश्न करेंगे, "यदि हमारे घर में कोई बडा-बूढा हमें कोई अच्छी बात बताये तो क्या हम उसे प्रोत्साहित करने या उससे अपनी सहमति प्रकट करने के लिए तालियाँ बजाते हैं ?" कभी कभी वे तालियों की उपेक्षा करनेवाले नेताओं की मनोवृत्ति का ऐसा मजाक करते हैं कि नये श्रोताओं के हाथ भी तालियाँ पीटने को फडक उठें। एक बार उन्होंने कहा, "इस मनोवृत्ति का विश्लेषण कैसे किया जाय ? प्रतीत होता है कि ऐसे व्यक्तियों की अवस्था बच्चों जैसी होती है। छोटे बच्चे जब चलना सीखते हैं, तो उन्हें बडों की शाबासी की जरूरत होती है। भारत के कुछ नेताओं में भी यह गुण पाया जाता है।"

इसी घरेलूपन तथा सहजता के कारण "घंटा भर अच्छा मनोरंजन रहा" कहनेवाले व्यक्तियों के प्रति गुरुजी को रुचि नहीं है। इस कारण वे सदा यही चाहते हैं कि संघ से संबंधित व्यक्तियों से ही वार्तालाप किया जाय। "कितना जोरदार भाषण दिया" कहनेवालों से उन्हें प्रेम नहीं है। उन्हें केवल उन्हीं व्यक्तियों से बातचीत करना पसंद आता है, जो उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनकर उन पर आचरण करने को तत्पर हों। एक बार सतारा जिले के दौरे के समय केवल आम-सभाओं के आयोजन पर ही विशेष बल दिया गया था। दौरे के अन्ततक उन्होंने अपनी अप्रसन्नता को मन में दबाये रखा। किन्तु कार्यक्रम समाप्त होने पर जब सब कार्यकर्ता उनके सामने एकत्र हुए, तो उन्होंने चुभते

शब्दों में उनसे कहा, "क्या आप लोगों ने मुझे 'नेता' बनाने का निश्चय कर लिया है ?"

उनकी बैठकों में उद्‌बोधन तथा मनोरंजन, दोनों का सुंदर संगम हुआ करता है। वे इस बात पर विशेष ध्यान देते हैं कि स्वयंसेवक अपना परिचय देते समय अपने सम्बन्ध में पूरी जानकारी दें। इन बैठकों में श्रीगुरुजी उनसे उनकी शाखाओं के बारे में अनेक प्रश्न करते हैं। उनके प्रश्न ऐसे सतर्क होते हैं कि बढा-चढाकर अपनी शाखा के हाल बताना किसी के लिए संभव नहीं होता। स्वयंसेवकों द्वारा दिये जानेवाले उत्तरों से वे समाज की गतिविधि का आकलन करते रहते हैं। किसके मन का झुकाव किस ओर है, त्याग के बारे में उसकी धारणा क्या है, उसके विचारों में कितनी गहराई है, प्रांत तथा जाति का अभिमान उसमें कितना उग्र है, धन-दौलत, घर-गृहस्थी आदि के विषय में वह क्या सोचता है आदि सभी दृष्टियों से वे व्यक्ति को परखते हैं। शाखा का दोष वे सबके ध्यान में लाने का प्रयत्न करते हैं। एक बार कार्यकर्ताओं की एक बैठक चल रही थी। गुरुजीने पूछा "आपकी शाखा में क्या कार्यक्रम होता है ?" उत्तर मिला, "खो खो।" इस पर गुरुजी ने पूछा, "नये स्वयंसेवक आकर पुराने स्वयंसेवक को खो देते है, यही खेल होता है न ?" रंजन के साथ अंजन डालने की यह पद्धति गुरुजी की बैठकों में हमेशा पायी जाती है।

एक बार वे बिलासपुर में हुए अधिकारी-शिक्षण-शिविर के लिए गये थे। वहाँ ताँगे में बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते हुए उन्होंने देखा कि रास्ते में अनेक व्यक्तियों ने उस ताँगेवाले को नमस्कार किया। स्थान पर पहुँचकर उन्होंने कार्यकर्ताओं से कहा, "इस ताँगेवाले जैसे व्यक्ति की, जिसका

अनेकों से घनिष्ट परिचय और आत्मीयता है, सराहना ही की जानी चाहिए। हमें ऐसे लोगों को संघटन में लेकर उन्हें सुस्थिर बनाना चाहिए। आप लोगों ने देखा होगा कि अनेकों ने उसे नमस्कार किया। इतने लोगों से परिचय रखना साधारण बात नहीं है।" ताँगेवाला ही क्यों, किसी भी हिन्दू की उपेक्षा उन्हें पसंद नहीं, चाहे वह पढा–लिखा हो या अशिक्षित। वे कहा करते हैं, "विदेशियों ने हमारे यहाँ शहर तथा ग्रामवासी का भेद निर्माण किया, परंतु यह मिथ्या है। क्या विद्वद्रत्न शंकराचार्य तथा भजन लिखनेवाले देहाती तुकाराम, इन दोनों के प्रति हम समान श्रद्धा नहीं रखते? अतः परायों द्वारा दी गयी कल्पनाओं के शिकार न बनते हुए, यह अनुभव कर कि हमारा समाज एकरस तथा एकात्म है, समाज को राष्ट्रभक्ति की निर्मल अभिव्यक्ति की सीख तथा अवसर देना चाहिए।" इनका कहना है कि, "केवल साक्षरता में कोई बल नहीं। निरक्षर व्यक्ति को भी चारों ओर की दुनिया के बारे में अचूक अनुभूति करायी जा सकती है।" गुरुजी का मत है कि शाखा के दैनिक कार्य का संचालन स्थानिक स्वयंसेवकों के द्वारा ही होना चाहिए। एक कार्यकर्ता को उन्होंने लिखा था, "प्रचारक तो एक प्रेरणा देने–वाला तथा एकसूत्रता स्थापित करनेवाला प्रवासी कार्यकर्ता होता है। प्रत्येक स्थान के शाखा-कार्य का संचालन वहीं के व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए।" यदि ऐसे स्थानिक कार्यकर्ता "यथा-साध्य और यथावकाश" कार्य करते हैं, तो यह भी उन्हें पसंद नहीं आता। ऐसे समय वे स्पष्ट कहते हैं, "अपने पास जितनी भी शक्ति हो, उस सबको पूर्ण रूप से लगाकर कार्य करना ही यथाशक्ति कहा जा सकता है।" कम से कम आमदनी में घर–गृहस्थी चलान तथा शेष समस्त शक्ति से संघ-कार्य करनेवाले को भी वे प्रचारक ही मानते हैं।

श्रीगुरुजी की यह विशेषता है कि जहाँ काम बढता न हो, वहाँ के कार्यकर्ताओं को वे निराश या उदास नहीं होने देते तथा जहाँ शाखा की प्रगति हो रही हो, वहाँ के लोगों में "जितं मया" की भावना उत्पन्न नहीं होने देते। संघटन के लिए हानिकर सिद्ध होनेवाली छोटी सी बात को भी वे वहीं समाप्त कर देते हैं, क्षुद्र मानकर कभी उसकी उपेक्षा नहीं करते। एक बार मध्यप्रांत के दो जिलों का संयुक्त कार्यक्रम तय करने के लिए एक बैठक हो रही थी। कार्यक्रम के स्थान के सम्बन्ध में जब विचार हो रहा था, एक जिले का कार्यकर्ता अपने जिले के कार्य की अवस्था के कारण चिंतित दिखायी दिया। इसपर दूसरे जिले का कार्यकर्ता कुछ घमंड के साथ कहने लगा, "तुम कह भर दो कि हमसे नहीं होगा, बस हमारे यहाँ कार्यक्रम तय हुआ ही समझो।" गुरुजी को उसका यह ढंग पसंद नहीं आया। उन्होंने कहा, "अपने ही एक भाग में कार्यक्रम करने की सामर्थ्य न हो, तो उसमें दूसरे को हर्ष मनाने की क्या बात है ?"

इस प्रकार संघ–वृद्धि की जड में गुरुजी का परिश्रम तथा असामान्य कार्यकुशलता ही है। एक बार बंबई में गुरुजी एक कार्यकर्ता के यहाँ ठहरे थे। वहाँ एक कारखाने के स्वामी आये। उन्होंने बातचीत में अपने उद्योग के विस्तार की कथा बतलाना शुरू किया। बहुत देर होने पर भी उनका बोलना बंद नहीं हुआ। अतः गुरुजी के साथवाले कार्यकर्ता ने विषयान्तर करने के लिए कहा, "आपने जड वस्तुओं से पदार्थ तैयार करने के बारे में बतलाया किन्तु मैं आपसे उस व्यक्ति का परिचय कराये देता हूँ, जो मनुष्यों में अधिक उत्तम मनुष्य तैयार करने में सफल हुआ है।"

श्रीगुरुजी का कितना वास्तविक परिचय है यह !

भारत-विभाजन के समय

महायुद्ध समाप्त हो गया और भारत में महत्वपूर्ण घटनाओं का क्रम आरंभ हुआ। युद्ध में विजयी परंतु दुर्बल बने अंग्रेजों ने यह भली भाँति जान लिया कि असंतोष के कारण भीतर ही भीतर सुलग रहे भारत, लंका तथा बर्मा आदि देशों में अब अपना साम्राज्य बनाये रखना कठिन होगा। इस कारण उन्होंने इन देशों को छोड जाने का ऐतिहासिक निर्णय लिया। किन्तु इतने समय तक जिस सत्ता का उपभोग किया, उसे अपने भावी स्वार्थ की दृष्टि से ज्यों का त्यों तथा स्वस्थ रूप में छोड जाना उन्हें इष्ट नहीं हुआ। इस कारण भारत को सुदीर्घ भविष्य के लिए पंगु बना देने तथा विश्व में सिर उठाकर खडा न होने देने की इच्छा से उन्होंने जाते समय देश को दो टुकडों में बाँटकर ही जाने का निश्चय किया। आश्चर्य की बात यह है कि स्वतः को धर्मनिरपेक्ष माननेवाली कांग्रेस तथा उसके नेताओं ने विशुद्ध मजहबी आधार पर किया जानेवाला यह विभाजन स्वीकार कर लिया। इस कष्टपूर्ण काल में श्रीगुरुजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने जिस देशभक्ति तथा मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम का परिचय दिया, वह अविस्मरणीय रहेगा।

विभाजन से प्रभावित प्रान्तों यथा पंजाब, सिंध और सीमा-प्रान्त में सन् १९४६ के लगभग संघ की शाखाओं का अच्छा जाल बुन गया था। रावलपिंडी, लाहौर, पेशावर, अमृतसर, जलंधर, अम्बाला आदि स्थानों में समाज के सभी स्तरों पर संघ का प्रभाव अनुभव होने लगा था। उस समय शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो, जब मुस्लिम लीग तथा उसके पत्र संघ के

विरुद्ध विषवमन न करते हों। "डॉन" इस विषवमन में सबसे आगे था तथा संघ को नष्ट कर देने का आग्रह कांग्रेस सरकार से निरंतर करता रहता था। उसने लिखा था, "यदि कांग्रेस के नेतागण मुसलमानों से सहयोग चाहते हों, तो उन्हें संघ को तुरंत बंद कर देना चाहिए।" यह कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति का ही परिणाम था कि शत्रु उसको मित्र प्रतीत होने लगे तथा मित्रों के प्रति उसका व्यवहार शत्रुतापूर्ण हो गया। संघ ने तो शुद्ध देश-भक्ति ही सिखायी थी तथा किसी भी जाति से द्वेष करना उसे न तब इष्ट था और न आज इष्ट है। लेकिन वह देश के शत्रुओं को भलीभाँति पहचानता था और उन्हें भारत का अहित न करने देने के लिए सन्नद्ध था। वह लीग की विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के लिए बाधा था, इस कारण लीग ने उसके विरुद्ध बवंडर खडा कर रखा था।

देश में घटनेवाली सभी घटनाओं की ओर गुरुजी की सूक्ष्म दृष्टि लगी थी। उन्होंने जान लिया था कि सन् १९४६ में ढाका, नोआखाली, कलकत्ता आदि में मुसलमानों ने जो भीषण अत्याचार किये, वे आगामी काल के संकेत-चिह्न हैं। इस कारण वे इस बात पर विचार करने लगे कि कम से कम अपने समाज की रक्षा कर सकने योग्य सामर्थ्य संघ में अवश्य होनी चाहिए। ऐसे कठिन काल में समाज की रक्षा का विचार ही प्रमुख होने के कारण जब उन्हें "शांत रहिये। अहिंसा का पालन कीजिये। कानून हाथ में मत लीजिये।" जैसे बुजुर्गीभरे उपदेश सुनायी देते, तब उनका अंतःकरण जल उठता। ये उपदेश उन्हें अत्यंत आत्मघातक प्रतीत होते थे; अतः चुप रहना उनके लिए संभव नहीं था और उन्होंने समाज के सामने इनकी धज्जियाँ उडा देने में रत्ती भर हिचकिचाहट का भी अनुभव नहीं किया। सन् १९४६ में नागपुर शाखा के विजयादशमी महोत्सव पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा, "शस्त्र उठाने तथा

प्रतिकार न करने की भाषा आज सर्वत्र प्रयोग की जा रही है। प्रतिकार न करने की यह भाषा, मैं नहीं समझता कि वीरताजन्य है। आज के संघर्षमय काल में क्या प्रतिकार न करने से देश का कोई कल्याण होगा ? मुझे तो संघर्ष अनिवार्य दिखायी देता है। एक हाथ से ताली भले ही न बजायी जा सकती हो, चुटकी तो बजायी जा सकती है। आप भले ही प्रतिकार न करें किन्तु उतने से ही आप पर आक्रमण करने के लिए तैयार बैठे लोग अपनी काली करतूतों से बाज थोडे ही आनेवाले हैं ? यह कभी न भूलिये कि काली के मंदिर में बलि के लिए ले जाया जानेवाला अजापुत्र भी अप्रतिकार की ही साक्षात् मूर्ति होता है।"

गुरुजी इतना ही कहकर रुके नहीं, उन्होंने आगे कहा, "हमारा दृढ विश्वास है कि आत्मरक्षा प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्तिसमूह से बननेवाले प्रत्येक समाज का प्रकृतिसिद्ध अधिकार है। कुछ दिन पूर्व समाचार–पत्रों में मैंने एक अद्भुत वक्तव्य पढा, जिसमें कहा गया था कि 'व्यक्ति और समाज की रक्षा का कार्य व्यक्ति या समाज का नहीं, सरकार का है, अतः कोई भी कानून को अपने हाथ में न ले।' किन्तु व्यक्ति तथा समाज को आत्मरक्षा की अनुमति प्रत्यक्ष कानून ने ही दी है, इस कारण यह वक्तव्य मूलतः अवैध है।"

श्रीगुरुजी ने सिंध, पंजाब, सीमाप्रान्त तथा कश्मीर आदि में, जहाँ संघर्ष की संभावना थी, संघ–स्वयंसेवकों को ठीक समय पर कर्तव्य की जानकारी कराकर उन्हें सचेत कर रखा था। स्वतः किसी पर हाथ न उठाया जाय, यह गुरुजी को सदा मान्य रहा है, परंतु जब कोई आततायी के सम्मुख झुकने को तैयार हो जाता है, तब वे तुकाराम के शब्दों में कहते हैं, "प्राणिमात्र के पालन को दया कहते हैं, परंतु उसमें दुष्टों का दमन भी सम्मिलित है।" सन् १९४६ के नवंबर मास में उन्होंने पंजाब में दौरा किया।

उस समय पंजाब के घटनाचक्र का अध्ययन करने के कारण उन्हें भावी संकट की कल्पना हो गयी थी। इस दौरे के चार ही मास पश्चात् पंजाब में मुसलमानों के अत्याचार आरंभ हुए।

पंजाब के समान सिंध में भी श्रीगुरुजी ने आत्मरक्षा की दृष्टि से मार्गदर्शन किया था। उस समय सिंध में भी संघ-कार्य प्रगति पर था। सन् १९४३ से गुरुजी पांच बार सिंध का दौरा कर चुके थे और प्रत्येक बार उन्होंने संघ-कार्य को बढते हुए ही पाया था। सिंध के बंबई प्रान्त से अलग किये जाने के बाद से ही वहां के हिन्दुओं को अधिकाधिक कष्ट तथा अपमान सहन करना पडने लगा था। अपनी भूमि में सम्मान के साथ जीने के लिए सभी को एक विचार के साथ रहना चाहिए, यह तत्कालीन परिस्थितियों की मांग थी तथा यह भावना संघ-कार्य की वृद्धि में सहायक सिद्ध हुई। सिंध की कुल ४० लाख जनसंख्या में से हिन्दुओं की संख्या १४–१५ लाख के लगभग होगी। सन् १९४७ में सिंध में ४० शाखाएं तथा १०–१२ हजार स्वयंसेवक थे। अतः वहाँ के समाज में सामान्यतः संघ के प्रति आदर की भावना पायी जाती थी। ऐसे समय संघ का अस्तित्व उन्हें एक सहारा प्रतीत होता था। विभाजन स्वीकार किया जाने से पूर्व सिंध में संघ एक शक्ति बन चुका था। इस संबंध में सन् १९४६ की एक घटना उल्लेखनीय है। पं. जवाहरलाल नेहरू हैदराबाद (सिंध) गये थे। उस समय वे यह कहा करते थे कि विभाजन नहीं होने देंगे। किन्तु सिंध में इसका प्रतिपादन करने पर सभाओं में गडबडी होने की पूर्ण आशंका थी। अतः स्थानीय कांग्रेसी-नेताओं के समक्ष समस्या खडी होगयी कि क्या किया जाय। अंत में डॉक्टर चिमनदास तथा बाबा किसनचंद ने संघ की शरण ली। फलस्वरूप उस सभा में संघ के स्वयंसेवक उपस्थित हुए और सभा को भंग करने के लीगी प्रयास विफल कर

दिये गये । एक वर्ष बाद जब स्थिति और भी विकट होगयी, तब संघ के प्रति जनता का आकर्षण स्वभावतः ही अत्यधिक बढ गया । विभाजन के सात दिन पूर्व, लगभग एक ही समय श्रीजिन्ना तथा श्रीगुरुजी सिंध पहुंचे । उस समय हैदराबाद में श्रीगुरुजी का भाषण सुनने के लिए अपार जनता एकत्र हुई थी । सिंध के प्रसिद्ध संत, साधु वास्वानी ने अपने काव्यमय भाषण में संघ को हिन्दू समाज का सहारा बताया । गुरुजी ५ से ८ अगस्त तक कराची में रहे । इस अवधि में क्लिप्टन समुद्र तट पर संघ का सम्मेलन हुआ, जिसे सिंधी स्वयंसेवक आजीवन नहीं भुला सकेंगे । इस रैली में भगवे ध्वज की छाया में खडे होकर श्रीगुरुजी ने पांच ही मिनट का भाषण दिया था । विभाजन की पृष्ठभूमि में हुए उस भाषण का प्रत्येक शब्द आज भी कानों में गूंजता रहता है, ऐसा कहकर एक कार्यकर्ता ने लिखा "उस पांच ही मिनट के भाषण में मानवता पर छाये दुःख का अनुभव करने के कारण अंतःकरण में मची खलबली तथा निःस्वार्थ बुद्धि से कार्यरत हो जाने के लिए प्रत्येक भारतीय तरुण का आवाहन करनेवाली लगन व्यक्त हुई थी ।"

पंजाब में संयुक्त मंत्रिमंडल की हार होते ही पश्चिमी पंजाब तथा मुलतान क्षेत्र में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार करना शुरू कर दिया । उसी समय महात्मा गांधी द्वारा अल्पसंख्यकों की अदला-बदली के लिए सिद्धांततः इनकार कर दिया जाने के कारण यह अत्याचार मानो श्रीजिन्ना द्वारा गांधीजी को दिया गया उत्तर ही था, जिसमें उन्होंने मानो यह कहा कि, "भले ही सैद्धान्तिक दृष्टि से आप अल्पसंख्यकों की अदला-बदली का विरोध करते हों, किन्तु अपनी शक्ति के बल पर हम उसे क्रियान्वित करा लेने में समर्थ हैं ।"

रावलपिंडी तथा मुलतान के देहात जलाकर राख कर दिये गये । सहस्रों हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया गया

तथा लूट-मार की कोई सीमा न रही। इस मारकाट से बचकर जो लोग भाग सके, वे वाह, काला, गूजरखां, पंजा साहब आदि स्थानों में एकत्र होगये।

यह नितान्त आवश्यक था कि इन निर्वासितों की रक्षा तथा निर्वाह का प्रबंध कर उन्हें इस विकट परिस्थिति में ढाढस बँधाया जाता। श्रीगुरुजी ने इन असहाय बंधुओं की सेवा करने का स्वयंसेवकों को आदेश दिया। उनकी प्रेरणा से लाहौर में "पंजाब रिलीफ कमेटी" स्थापित की गयी तथा पंजाब के सभी बडे नगरों में उसकी शाखाएं खोली गयीं। इस समिति का मुख्य कार्यालय लाहौर में था तथा पंजाब प्रांत-संघचालक रायबहादुर लाला बद्रीदास उसके अध्यक्ष तथा डॉ. गोकुलचंद नारंग उसके कोषाध्यक्ष थे।

यह समिति निर्वासितों की क्षति-पूर्ति के लिए आवेदन करती तथा उन्हें रोजगार दिलाने का प्रयत्न करती। इसके अतिरिक्त खोये हुए व्यक्तियों की खोज, आर्थिक सहायता, न्यायालयीन विषयों में मार्गदर्शन तथा डॉक्टरी सहायता जैसे विविध कार्य भी संपन्न किये जाते थे। जनता में साहस बनाये रखकर भावी संकट का धैर्य और पराक्रम से सामना करने के लिए उन्हें सन्नद्ध करने का कठिन कार्य समिति के कार्यकर्ताओं ने अनेक तरीकों से आरंभ किया। शिविरों में वीर पूर्वजों की गाथाएं पढी जाने लगीं और वीररस का पोषण करनेवाले ग्रंथ वितरित किये गये। प्रत्यक्ष संघ शाखाएं चलाकर भी इन लोगों को आत्मरक्षा के पाठ देने का प्रयत्न किया गया। इन सब कार्यों के लिए विभिन्न स्थानों से संघ के हजारों स्वयंसेवक यत्र–तत्र गये तथा उन्हीं के भरोसे परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की गयी।

पाकिस्तान बनने से ४–५ मास पूर्व पंजाब प्रांत के प्रमुख संघ–कार्यकर्ताओं के नाम गिरफ्तारी के वारंट जारी किये गये थे। किन्तु जेल में रहने के बजाय बाहर ही रहकर समाजरक्षा

का पावन कर्तव्य निभाने की इच्छा से इन कार्यकर्ताओं ने लाहोर में रहकर ही इस कुशलता से समग्र कार्य का सूत्र–संचालन किया कि न उन्हें सरकार गिरफ्तार कर सकी और न उनके काम को ही रोक सकी । ये लोग समय समय पर आवश्यकतानुसार प्रान्त के विभिन्न स्थानों का दौरा भी कर लेते थे ।

सन् १९४७ के मार्च मास में रावलपिंडी, अमृतसर, लाहोर आदि स्थानों में ये अत्याचार इतना अधिक जोर पकड गये कि अकेले अमृतसर में ही लूट–खसोट, आगजनी तथा हत्याओं की ९८४ शिकायतें दर्ज करायी गयीं थीं । लगभग २ करोड २६ लाख रु. की संपत्ति नष्ट कर दी गयी । क्रमश: ये अत्याचार बढते गये और हिन्दुओं को अपना घर-बार छोडकर दर-दर भटकने की नौबत आ गयी । उस समय सरकार ने मार्शल लॉ जारी करने में जो आनाकानी दिखायी, उसके कारण तो हिन्दुओं पर मानो मुसीबत का आसमान ही टूट पडा । इसी समय दैनिक शाखाओं से संस्कारित संघ के वीर स्वयंसेवक समाज की रक्षा करने के लिए आगे बढे । इनके मैदान में उतर आन के कारण समस्त पंजाब में पुन: उत्साह की लहर दौड गयी और समाज अपनी रक्षा के लिए सब प्रयत्न कर डालने को कटिबद्ध हो उठा । पीडित हिन्दुओं को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने, अन्न वस्त्र, औषधि आदि देकर उनकी सहायता करने तथा विविध महत्वपूर्ण स्थानों की रक्षा के लिए जत्थे भेजने का कार्य बडे पैमाने पर आरंभ हो गया । आग बुझानेवालों के दल बनाये गये तथा उन्हें आवश्यकतानुसार तुरंत सहायतास्थान पर पहुँचाने के लिए ट्रकों का प्रबंध किया गया । रात के समय वे बस्तियों में पहरा देते तथा दिन में जनता को स्वत: अपनी रक्षा करने की शिक्षा देने के लिए वर्ग लगाते । सारांश यह कि सभी संभव प्रकारों से उस विकट परिस्थिति का सामना करने का प्रयत्न किया गया ।

जसे को तैसा तथा आघात को प्रत्याघात देकर हिन्दू समाज को सुरक्षित बनाये रखने के लिए जब ये प्रयत्न आरंभ हुए, तब पाकिस्तान बनाने का निश्चय नहीं हुआ था। वस्तुतः मुसलमानों के उपद्रव पाकिस्तान का निर्माण आवश्यक कर देने के ही लिए कराये जा रहे थे।

लार्ड माउंटबेटेन ने सत्ता का हस्तांरण करने की दृष्टि से, भारत के दो राजनीतिक दलों, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के साथ वार्ता आरंभ कर दी। उस समय देश में सभी का विश्वास था कि कांग्रेस मुस्लिम लीग की विभेदकारी वृत्ति के साथ कभी सहयोग नहीं करेगी तथा यही कारण था कि सिंध, पंजाब, सीमाप्रांत तथा बंगाल की जनता बहुत कुछ निश्चिंत थी। जनता की इस धारणा के लिए कारण भी विद्यमान थे। पहला कारण तो यही था कि सन् १९४५ के आम चुनाव में कांग्रेस ने अपने घोषणा-पत्र में "अखंड भारत" का वचन दिया था तथा शानदार सफलता पायी थी और कांग्रेस के इस आश्वासन को लोग अभी भूले नहीं थे। दूसरा कारण यह कि जनता को महात्मा गाँधी के नेतृत्व पर अत्यधिक विश्वास था। महात्माजी ने देश–विभाजन की मुसलमानों की माँग सुनते ही यह कहा था कि, "मेरे शरीर के टुकडों पर ही पाकिस्तान बनेगा।" इसमें संदेह नहीं कि जनता महात्माजी की इस घोषणा को अत्यंत आदर तथा विश्वास से देखती थी। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के अन्य सभी नेता भी अपने भाषणों में विभाजन से असहमति ही व्यक्त करते थे। "लौहपुरुष" के नाम से प्रसिद्ध सरदार पटेल ने तो " तलवार का जवाब तलवार से दिया जायगा" कहकर मुस्लिम लीग को उत्तर दिया था। इन सब बातों के कारण सामान्य जनता विभाजन की आशंका नहीं करती थी। उपद्रवग्रस्त प्रान्तों की जनता को यह विश्वास था कि लीग तथा मुसलमानों के अत्याचारों का प्रतिकार करने के

लिए हमारी सरकार तथा नेता अवश्य आगे बढ़ेंगे। किन्तु ये सब आशाएं ३ जून १९४७ के दिन भंग हो गयीं, जब हमारे नेताओं ने विभाजन को स्वीकार करके मुसलमानों को अत्याचार करने की खुली छूट दे दी।

ऐसी आन्दोलनमय परिस्थिति में भी नियमानुसार संघ के अधिकारी शिक्षा-शिविर जुलाई १९४७ के तीसरे सप्ताह में फगवाडा तथा संगरूर में आरंभ हुए। संगरूर का शिविर १६ जुलाई को तथा फगवाडा का शिविर २० जुलाई को आरंभ हुआ। संगरूर के शिविर में १४०० तथा फगवाडा के शिविर में २३०० स्वयंसेवक भाग लेने के लिए सम्मिलित हुए। इस प्रकार उनमें लगभग पौने चार हजार युवक राष्ट्र-सेवा की शिक्षा पा रहे थे। प. पू. गुरुजी ने इन दोनों वर्गों में जाकर एकत्र कार्यकर्ताओं को आसन्न संकट का सामना करने की दृष्टि से मार्गदर्शन किया। उस समय संगरूर के गुरुद्वारे में जाकर उन्होंने जिस भाँति सिख जनता को उत्साह दिलाया, वह चिरस्मरणीय रहेगा।

पटियाला, नाभा तथा मालेरकोटला की रियासतों की सीमा पर संगरूर स्थित है। वहाँ का वर्ग गुरुद्वारा श्रीमस्ताना साहब के अहाते में ही चल रहा था। यह ज्ञात होते ही कि समाज के तारणहार श्रीगुरुजी संगरूर पधार रहे हैं, गुरुद्वारे के कार्यकर्ताओं ने इच्छा व्यक्त की कि वे गुरुद्वारे को भी भेंट दें। कार्यक्रम निश्चित हो जाने पर उन्होंने पेप्सू के अन्य गुरुद्वारों के जत्थेदारों को भी उपस्थित होने का निमंत्रण भेज दिया।

योजना के अनुसार श्रीगुरुजी गुरुद्वारे में पधारे। उस समय संघ के १५–२० कार्यकर्ता भी उनके साथ गये थे। श्रीगुरुजी के आसीन होते ही, गुरुद्वारे के प्रमुख ने उनके स्वागत में भाषण देते हुए कहा, ' हमारा अहोभाग्य है कि आज गुरुद्वारे में एक ऐसे महापुरुष पधारे हैं, जिन्होंने अपने कर में धर्म की रक्षा का कंकण

बाँधा है। वे अपने तपोबल से ऐसी शक्ति खडी कर रहे हैं, जिससे निश्चय ही धर्म की रक्षा होगी।"

श्रीगुरुजी ने अपने भाषण में कहा, "आज अपने सम्मुख मैं जो दृश्य देख रहा हूँ, उससे मुझे ३०० वर्ष पूर्व के इतिहास का एक पृष्ठ याद आ रहा है, जबकि गुरु गोविंदसिंह के रूप में उत्तर की ओर से एक भारतीय शक्ति दक्षिण की उसी प्रकार की एक अन्य शक्ति से, जो छत्रपति शिवाजी के रूप में प्रकट हुई थी, मिलने गयी थी। किन्तु देश का महान् दुर्भाग्य था कि उन दोनों शक्तियों का मिलन संभव न हो सका। यदि वह मिलन संभव हो गया होता, तो भारतीय इतिहास दूसरे ही ढंग से लिखा जाता। परंतु उस समय जो शक्ति-संघटन न हो सका, वह आज हो रहा है। मुझे विश्वास है कि इससे धर्म की रक्षा के लिए एक ऐसी विराट् शक्ति का उदय होगा, जिससे भविष्य में धर्म पर संकट आने की कोई आशंका ही नहीं रह जायेगी।"

जत्थेदारों से विदा लेते समय गुरुजी ने पत्रं-पुष्पं की भावना से गुरुद्वारे को ५१) भेंट दिये। इस प्रकार पंजाब की सभी शक्तियों का मेल कराने का प्रयास उस समय तथा उसके बाद भी जारी रहा।

संगरूर की ही भाँति फगवाडा के शिक्षण-वर्ग का भी एक कार्यक्रम उल्लेखनीय है। जिन दिनों गुरुजी वहाँ थे, उन दिनों पंजाब के प्रौढ कार्यकर्ताओं की, तीन दिन तक चलनेवाली एक बैठक बुलाई गयी थी। यह तो स्वाभाविक ही था कि उस बैठक में प्रांतव्यापी संकट पर ही विचार होता। समस्त क्षेत्र का वातावरण प्रतिदिन उग्रतर होता जा रहा था। शासन-व्यवस्था शिथिल हो गई थी। पंजाब की बिलोची सेना ने हिन्दुओं को नष्ट करने में मुसलमानों को खुली सहायता देना आरंभ कर दिया था। "इस काल के गाल से हमें बचाइये" की आर्त पुकार के उत्तर

में सरदार पटल जैसे व्यक्ति को भी "मैं अब किस किस को बचाऊँ" की निराशापूर्ण तथा दयनीय भाषा बोलनी पडी थी। इस समय विवश हिन्दुओं के सामने दो ही मार्ग थे—एक यह कि मुसलमानों के सामने घुटने टेककर धर्म छोड देना तथा दूसरा यह कि सहस्त्रों वर्षों की अपनी मातृभूमि को सदा के लिए छोडकर दर–दर ठोकरें खाने के लिए जिधर राह मिले उधर चल देना। किन्तु गुरुजी को ये दोनों मार्ग पसंद नहीं आ सकते थे। उन्होंने उपर्युक्त बैठक में जिस भाँति चिंताग्रस्त लोगों का मार्गदर्शन किया, वह उनमें अत्यंत उत्साह उत्पन्न करने तथा कर्तव्य का साक्षात्कार करानेवाला था। उन्होंने कहा, "हम पाकिस्तान को नहीं जानते, न ही वह हमें स्वीकार है। हमें तो संघटित रूप से तथा आत्मविश्वासपूर्वक खडे रहकर आवश्यक संघर्ष करते हुए, अपने अपने स्थान पर डटे रहना चाहिए। यदि हम संघर्ष से डरकर अपनी जन्मभूमि को त्याग देंगे तो इतिहास हमारे बारे में यह लिखते हुए नहीं हिचकेगा कि 'इन लोगों को विभाजन का, अपनी प्रियतम मातृभूमि के अंगच्छेद का कोई दु:ख नहीं हुआ। इन लोगों ने अपने प्राणों को अपनी मातृभूमि तथा उज्ज्वल, पराक्रमी परंपरा से भी बढकर समझा।' यदि ऐसा हुआ तो निश्चय जानिये कि हमारे समाज में यह मनोदुर्बलता सदा के लिए छा जायेगी। इसलिए जीजान से प्रतिकार करते हुए हमें अन्त तक अपने अपने स्थानों पर ही डटे रहने का प्रयत्न करना चाहिए।"

इस बैठक में गुरुजी ने सब कार्यकर्ताओं को एक ऐतिहासिक घटना की याद दिलायी। उन्होंने कहा, "अफगानिस्तान का कुछ भाग राघोबा पेशवा को दिया गया था। किन्तु आज तो हमारे नेताओं ने अपने ही देश का भाग दे डालने की तैयारी की है।"

दि. ३ जून को यद्यपि विभाजन की घोषणा कर दी गयी थी, फिर भी हिन्दू यह समझते थे कि पाकिस्तान में स्वत: को

बनाये रख सकेंगे । यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सन् १९४६ में नोआखाली, कलकत्ता आदि स्थानों में मुसलमानों ने हिन्दुओं की जो दुर्दशा की थी, उसके उत्तरस्वरूप बिहार के हिन्दुओं ने जैसे को तैसा कर दिखाने की वृत्ति प्रदर्शित की थी । इस कारण उन्हें विश्वास था कि पाकिस्तान बन जाने पर भी हम वहाँ रह सकेंगे और मुसलमान हमें सता नहीं सकेंगे । उनके उपद्रव करने पर भारत में भी मुसलमानों को उसकी प्रतिक्रिया सहनी पडेगी और इसलिए वे अत्याचार करने का साहस ही नहीं करेंगे । इस प्रकार दोनों के हित एक दूसरे से संबद्ध होने के कारण प्रतीत होता था कि विभाजन के बाद भी हिन्दू पाकिस्तान में रह सकेंगे । संभव है, परिस्थिति के इसी विश्लेषण के कारण श्रीगुरुजी ने हिन्दुओं को अपने अपने स्थानों पर डटे रहने का आग्रह किया हो । साथ ही, भविष्य में मुसलमानों या सरकार का दबाव बढ जाने की आशंका के कारण पहले से ही उन स्थानों को छोड देना भी वीरता का काम न होता । श्रीगुरुजी को यही प्रतीत हुआ होगा कि यदि ऐसा संकट आ भी जाय और संघर्ष करना पडे, तो उसे करते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखने तथा यदि वह भी असंभव हो जाय तो लडते लडते चले आने का मार्ग ही हितकर एवं अभिमानार्ह होगा ।

संगरूर तथा फगवाडा के वर्ग जारी ही थे कि समाचार आया कि लाहौर नगर पाकिस्तान में सम्मिलित किया गया है और १० अगस्त से लाहौर में नृशंस अत्याचार आरंभ हो गये हैं । शीघ्र ही अन्यत्र भी उन्हीं का अनुसरण किया जाने के समाचार मिलने लगे । अतः दोनों वर्ग नियोजित तिथि से दस दिवस पूर्व ही समाप्त कर दिये गये तथा सभी कार्यकर्ताओं को यथायोग्य सूचनाएं देकर अपने अपने कार्यक्षेत्र में भेज दिया गया ।

अत्याचारों की उग्रता जैसे जैसे बढती गयी, वैसे वैसे ग्रामों के हिन्दुओं के लिए, संख्याबल के अभाव के कारण, प्रतिकार

करते रहना असंभव हो गया और सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें नगरों में स्थानांतरित करना अनिवार्य हो गया। अगस्त मास से इस प्रकार स्थानांतरित होकर आनेवाले हिन्दुओं के लिए "पंजाब सहायता समिति" की ओर से शिविर खोले जाने लगे, जिनकी संख्या आगे चलकर तीन सौ तक पहुँच गयी। इस काम के लिए मंदिरों, बाडों तथा गुरुद्वारों का उपयोग किया गया। इन शिविरों का पारस्परिक संबंध बनाये रखने के लिए कितने ही स्वयंसेवक मुसलिम वेशभूषा धारण कर संचार किया करते थे। इन शिविरों की रक्षा के लिए स्वयंसेवक रात–दिन एक करते हुए दौड–धूप कर रहे थे।

आखिर १५ अगस्त का दिन आ गया। अब पंजाब तथा सीमाप्रांत में शैतानियत का नंगा नाच शुरू हुआ। इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए लाहौर से निकलनेवाले "सिविल एंड मिलिटरी गजट" ने लिखा, "इस समय प्रान्त में ममदोत के खान इफ्तिकारुद्दीन का राज्य नहीं है, अपितु सिपाहियों तथा गुंडों का राज्य स्थापित है।" ध्यान रहे, इस पत्र के संचालक अंग्रेज ही थे। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की सेना के जिन अधिकारियों को "राष्ट्रीय मुसलमान" कहकर कांग्रेस ने गौरवान्वित किया तथा लाखों रुपयों की थैलियाँ भेंट कीं, उन्हीं "राष्ट्रीय मुसलमानों" ने हिन्दुओं की सामूहिक हत्या के लिए गुंडों के दल खडे किये। इधर सच्ची राष्ट्रीयता को भूल जानेवाले जिन हिन्दुओं ने इन राष्ट्रीय मुसलमानों को पानी की तरह पैसा दिया, उनका पैसा वस्तुतः पानी में ही गया और उन्हें अपने ही पैसे की ताकत से अपने ही घर–बार, धनदौलत तथा बालबच्चों का सर्वनाश देखना पडा। जिस समय दिल्ली में "झंडा ऊंचा रहे हमारा" कहकर स्वतंत्रता का उत्सव मनाया जा रहा था, ठीक उसी समय पंजाब, सिंध तथा सीमाप्रांत आग की लपटों में धू धू कर जल रहा था। इन प्रदेशों में बलात्कार, नरमेध, लूटमार, गोलीकाण्ड आदि

बडे पैमाने पर जारी थे। श्रीबाली ने अपने ग्रंथ "नाउ इट कैन बी टोल्ड" में ठीक ही लिखा है कि उस समय दिल्ली में आबादी तथा लाहौर में बरबादी हो रही थी।

इस संकट–काल में संघ के स्वयंसेवक धैर्यपूर्वक आगे बढे और संपूर्ण शक्ति से उसका मुकाबला करने लगे। रोने या कराहने के लिए उनके पास समय नहीं था तथा लडते लडते मर जानेवाले अपने स्वयंसेवक बंधु की वीरगति पर दो क्षण अश्रु बहा लेना भी उनके लिए संभव न था। प्रतीत होता था कि लीगी गुण्डों ने पंजाब, सीमा-प्रांत तथा सिंध से हिन्दुओं को जडमूल से नष्ट कर देने का निश्चय कर लिया है। ऐसे समय संघ के स्वयंसेवकों ने अपने बंधुओं तथा माँ–बहिनों को भारत की सीमा में पहुँचा देने की योजनाएं अत्यंत साहस तथा कुशलता-पूर्वक सफल कर दिखायीं। उन्होंने न रात देखी न दिन, न धूप देखी न वर्षा और न भूख या प्यास की ही चिंता की। कमान से छूटे तीरों के लिए कैसा विश्राम और किसका डर? उनका एकमेव कार्यक्रम यही था कि अपने बंधुओं को संकट से निकालते समय होनेवाले आघातों को हँसते–हँसते अपने सीने पर झेलना और शरीर रक्त से लथपथ होने पर भी ५०–५० मील का फासला तय करते हुए ५–५ हजार लोगों के जत्थों को भारतीय सीमा में लाकर छोडना। ट्रकों तथा जीपगाडियों को चैन नहीं था, मोटर–साइकिलें अखंड दौडती थीं। हिन्दू-मुसलिम एकता के नारे लगानेवाले नेता उस समय जाने कहाँ लुप्त हो गये थे। श्रीबाली ने अपने उपर्युक्त ग्रंथ में यह समस्त वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है, "ऐसे कठिन समय में जनता की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों के सिवाय मैदान में आ ही कौन सकता था?"

इस कार्य में स्वयंसेवकों ने सबको समान भाव से सहायता पहुँचायी। उनकी मनोभूमिका का वर्णन करते हुए श्रीबाली

लिखते हैं, "संघ के ही युवक असहाय एवं संकटग्रस्त हिन्दुओं की सहायता करने के लिए सर्वप्रथम दौडकर आये और सबको सुरक्षित पहुँचाने के बाद ही, सबसे अंत में, वे स्वत: पूर्वी पंजाब गये। मैं पंजाब के उन ख्यातनामा कांग्रेसी नेताओं की नामावलि दे सकता हूँ, जिन्होंने अपनी तथा अपने संबंधियों की रक्षा के लिए खुले आम संघ के स्वयंसेवकों की सहायता ली। किन्तु यह कभी नहीं हुआ कि संघ के स्वयंसेवकों ने उनकी सहायता न की हो। मुसलिम महिलाओं तथा बच्चों को संघ के स्वयंसेवकों ने सुरक्षित लीगी शिविरों में भेज दिया।"

इस समय भी कुछ नेता विभाजन को युक्तिसंगत मानते हुए अहिंसा से प्राप्त स्वतंत्रता की शेखी बघारने में लगे हुए थे। संघ तथा उसके कार्य की अवहेलना करते हुए वे कहते थे, "पंजाब की जनता के भाग्य में जो हो, उसे होने दो।" नेताओं द्वारा इस प्रकार किया जानेवाला अपनी भूल का घृणित समर्थन तथा जनता की उदासीनता उन दिनों श्रीगुरुजी को बहुत बेचैन किये हुए थी। दिल्ली के वार्षिकोत्सव पर बोलते हुए उन्होंने कहा, 'एक ओर हिन्दू के नाते जीवन व्यतीत करना छोडकर तथाकथित प्रगतिशील दृष्टिकोण से गंगाजमनी सभ्यता की मृगमरीचिका के लिए होनेवाली दौडधूप हैं, तो दूसरी ओर कठिन आघातों से घायल होकर, प्रत्येक घटना से भयभीत होता हुआ, रोते–रोते शरणागति का मार्ग स्वीकार करने तथा संरक्षण की भीख माँगनेवाला हमारा यह दुर्बल समाज है। हाय! यह कितना दयनीय दृश्य है!!"

हम देख चुके हैं कि श्रीगुरुजी की प्रेरणा से पहले ही पंजाब सहायता समिति की स्थापना की जा चुकी थी। भारत के सभी प्रांतों के स्वयंसेवकों ने धन, वस्त्र, औषधि, अन्न, तंबू, बरतन आदि सामग्री विपुल परिमाण में एकत्र कर समिति के पास

भेजना आरंभ कर दिया। महत् प्रयास से बचाकर लाये तथा हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति प्रेम के कारण सब कष्ट सहकर भी भारत में आये ५० लाख हिन्दुओं की पुकार उन्हें सुनायी दे रही थी। श्रीगुरुजी ने स्वतः इस काल में दो बार पंजाब का दौरा करके सहायता-कार्य की देखभाल की। काबुल–कंधार पर भगवाध्वज फहरानेवाले हरिसिंह नलवा के वंशजों तथा चिडियों को बाज बनाकर सवा लाख से एक लडाने का हौसला रखनेवाले गुरु गोविंदसिंह, बन्दा वैरागी और गुरु तेगबहादुर के वीर अनुयायियों की यह दशा देखकर किसकी आँखें आँसुओं से न छलक उठतीं ? स्वतंत्रता के लिए वृद्धावस्था में बंदूकों की मार सीने पर झेलनेवाले लाला लाजपतराय, 'वंदेमातरम्' का घोष करते हुए फाँसी के तख्ते पर झूल जानेवाले भगतसिंह तथा स्वामी दयानंद, रामतीर्थ आदि के अलौकिक तप-त्याग के बाद भी उनकी तपस्या की यह रोमांचकारी विडम्बना किसके हृदय को न हिला देती ? तैमूरलंग तथा नादिरशाह के आधुनिक संस्करणों द्वारा तहस-नहस की गयी मानवता को संघ के स्वयंसेवकों ने ही ममता का हाथ, प्रेम की दृष्टि तथा अधिकार की सहायता प्रदान की।

अब पश्चिमी पंजाब से आये बंधुओं को बसाने का काम आरंभ किया गया। जैसे जैसे ये हिन्दू पूर्वी पंजाब में आते, वैसे वैसे यहाँ के मुसलमानों में भय का वातावरण फैलता जाता तथा वे पाकिस्तान की राह लेने लगते। यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक है। पश्चिमी पंजाब के हिन्दुओं को अपने बलबूते पर भरोसा रखकर ही इधर आना पडता था किन्तु भारत से पाकिस्तान जानेवाले मुसलमानों को खतरा न पहुँचने देने के लिए उनके साथ सशस्त्र सेनाएं भेजी जाती थीं।

इस पुनर्वास तथा नवागंतुकों की दशा का निरीक्षण करने के लिए सितम्बर के अंत में श्रीगुरुजी ने पंजाब के अनेक स्थानों

का दौरा किया। उस समय पंजाब की नदियों में आयी आकस्मिक बाढ के कारण उनका यह दौरा पूरा न हो सका। अमृतसर, जलंधर, लुधियाना तथा अंबाला में कार्यक्रम आशा के अनुरूप हुए परंतु अन्य स्थानों पर न हो सके। इस दौरे में लुधियाना के समीप चहेडू के पासवाले नाले के किनारे, पाकिस्तान जाने को निकले कई मुसलमानों के, वर्षा के कारण मृत पडे शरीर पाये गये। यह दृश्य देखकर गुरुजी को अत्यंत दुःख हुआ। उन्होंने कहा, "पापों का फल तो भोगना ही पडता है किंतु दुःख इसी बात का है यह फल निरपराधों को मिलता है।" इस एक वाक्य से समग्र घटनाचक्र के प्रति श्रीगुरुजी के दृष्टिकोण का पता चलता है।

जलंधर का कार्यक्रम समाप्तकर उन्हें लुधियाना जाना था। बाढ के परिणामस्वरूप रेलगाडियाँ चलनी तो बंद हो ही गयी थीं, सडकों पर भी आठ-आठ फीट पानी चढ गया था, जिससे मोटरें भी नहीं जा सकती थीं। किन्तु कार्यक्रम को किसी भी प्रकार पूरा करने का निश्चय होने के कारण ट्रॉली से ही आगे की यात्रा करना तय किया गया। तदनुसार गुरुजी तथा उनकी मंडली ने प्रस्थान किया। आठ मील जाने के बाद चहेडू के पास के पुल पर एक दूसरी बाधा उपस्थित हुई। मूसलाधार वर्षा से पुल का एक खंभा गिर गया था, जिसके कारण उसके समीप का भाग ढह गया था तथा रेल के स्लीपर ढीले होकर नीचे झुक गये थे। दबाव पडने पर उन स्लीपरों के टूट जाने का खतरा था, इसलिए ट्रॉली के ड्राइवर ने लोगों को बिठाकर जाने से इनकार कर दिया। अब क्या किया जाय, यह सब लोग सोचने लगे। वे सोच ही रहे थे कि उधर गुरुजी ने दो-ढाई फीट के अंतर पर लगे स्लीपरों को पार करके पैदल ही जाना शुरू कर दिया। जब वे १५० गज आगे बढ गये, तब अन्य लोगों ने देखा

तथा उन्होंने भी पीछे पीछे जाना शुरू किया। उस समय उनके साथ रहे एक कार्यकर्ता ने बाद में बताया, "श्रीगुरुजी के साहस–पूर्वक आगे बढ जाने के कारण ही हम सबको लाचार होकर उनके पीछे जाना पडा।" नीचे दो ही फुट पर तीव्र जलप्रवाह था, जिसपर दृष्टि पडते ही दिमाग चक्कर खाने लगता था। यदि एक भी कदम चूकता तो प्राणभय निश्चित था किन्तु संकट में सबसे आगे बढकर खडी होनेवाली श्रीगुरुजी की प्रवृत्ति इस समय कैसे शांत रह सकती थी ? साथ ही, उन्हें पूर्वनिश्चित कार्यक्रम की भी चिंता थी।

पुल पार करने के बाद फगवाडा से फिर ट्रॉलीवाला आगे जाने से इनकार करने लगा। तब वहाँ खडी मालगाडी में स्थान प्राप्तकर उसके द्वारा सब लोग गुरादा तक पहुँचे तथा अगली यात्रा के लिए एक इंजन की शरण ली। इस प्रकार गुरुजी ने यह सिद्ध कर दिया कि एक बार निर्णय कर लेने के बाद कोई भी कठिनाई दुर्लंघ्य नहीं हो सकती।

इस दौरे में उन्हें फीरोजपुर भी जाना था। किन्तु लुधियाना की विराट् सभा समाप्त ही हुई थी कि टेलीफोन से संदेश मिला कि "सतलज नदी का बाँध टूट जाने के कारण फीरोजपुर के घर–घर में आठ–आठ फीट पानी चढ गया है और इस कारण वहाँ किसी भी भाँति कार्यक्रम होना असंभव है।" अत: जाने का विचार स्थगित करना पडा। इस दौरे के समय अनेक स्थानों में कर्फ्यू भी लगा था। इसलिए कार्यक्रम बिलकुल नियोजित समय में ही पूरा करना पडता था।

देशहित के साथ एकरूप बने श्रीगुरुजी इस पीडित प्रदेश के लाखों व्यक्तियों को धीरज बँधा रहे थे। इन सब लोगों का वैभवपूर्ण जीवन वे अपनी आंखों देख चुके थे। किन्तु अब उनके सम्मुख मुरझाये हुए चेहरे तथा फटे कपडे पहिने स्त्री-पुरुष आते

थे, जिन्हें देखकर उनका अंतःकरण करुणा से विगलित होकर बहने लगता था। स्वयंसेवकों द्वारा संचालित शिविरों में श्रीगुरुजी जब पहुंचते थे, तब अनेक लोग उनके पैरों पर गिरकर अपनी करुण-कथा सुनाने लगते। उस समय अपने हृदय से फूट पडनेवाले आंसुओं को रोककर गुरुजी उन सबको धीरज बँधाते तथा उनके आंसू पोंछते। एक बार एक सज्जन उन्हें देखते ही उनसे कसकर लिपट गये तथा "अब मेरी आंखें धन्य हुईं" कहते हुए अपनी कृतज्ञता और स्नेह व्यक्त करने लगे। वे पहले पंजाब में करोडों की संपत्ति के स्वामी थे तथा प्रान्त के असंख्य व्यक्तियों की उन्होंने सहायता की थी। किन्तु आज एक कुर्ते के अतिरिक्त उनके पास कुछ भी नहीं बचा था। जिसके दारिद्र्य के दुःख से मृत्यु भी कंपित हो उठे, ऐसे अनेक व्यक्ति गुरुजी को समय-समय पर मिलते थे। उन्हें देखकर गुरुजी के मन में यही भाव उठता होगा कि उस धर्म-प्रेम को हजार बार नमस्कार है, जिसके कारण मनुष्य मृत्यु से भी भयंकर गरीबी का हँसते-हँसते वरण कर लेता है। पूर्वी पंजाब के सैकडों स्वयंसेवकों के घरों में भी इन निर्वासित बंधुओं को सहारा दिया गया था। इस संबंध में गुरुजी ने एक बार बताया था कि, "पंजाब के एक दौरे में मैं एक स्वयंसेवक के घर गया था। उसके यहां पचास से अधिक व्यक्ति ठहरे हुए थे और इतनी भीड थी कि बैठने तक को जगह नहीं बची थी।"

शील एवं धर्म-रक्षा की उदात्त भावना से प्रेरित होकर पंजाब की अनेक स्त्रियों द्वारा हौतात्म्य स्वीकार कर लिया जाने के समाचार भी इन दौरों में गुरुजी तक पहुंचते थे। ऐसे ही एक अवसर पर उन्होंने कहा था, "आज भी हिन्दू समाज में वीर पद्मिनियाँ जीवित हैं, अतः मुझे विश्वास है कि विपरीत परिस्थिति होने पर भी समाज की उन्नति के लिए किये जाने-वाले प्रयत्न अवश्य सफल होंगे।"

पंजाब की भांति कश्मीर में भी ३ सितंबर से वातावरण प्रतिकूल होने के लक्षण दिखायी देने लगे। ४ अक्तूबर को अर्थात् एक मास पश्चात् पाकिस्तान की शह पर कबायली लोग कश्मीर की सीमा में घुस गये। रियासत में आपसी फूट होने के कारण इन आक्रमणों का सामना करने की शक्ति उसके पास नहीं थी। ऐसी विकट स्थिति में संघ के स्वयंसेवक ही आगे बढे और उन्होंने भिंवर, मीरपुर, राजोरी, कोटली आदि स्थानों में मुस्लिम आक्रान्ताओं से डटकर लोहा लिया। नवंबर के प्रारंभ में भारतीय विमानों द्वारा छोडी गयी गोला - बारूद की २० पेटियाँ कोटली के पास शत्रु की सीमा में स्थित एक पहाडी पर जाकर गिरीं। अपना गोला - बारूद समाप्त होने की दशा में होते हुए भी रियासती सेना का कोई भी सिपाही उन पेटियों को उठा लाने के लिए आगे नहीं बढता था। कोटली के चारों ओर शत्रु का घेरा पडा था और मृत्यु की छाया सर्वत्र फैली थी। किन्तु कर्तव्य के पालन को ही जीवन माननेवाले स्वयंसेवकों ने निडरतापूर्वक उस भाग में घुसकर १७ पेटियों पर कब्जा किया और कोटली की रक्षा की।

इसके अतिरिक्त हजारों स्वयंसेवक "नेशनल मिलिशिया" में सम्मिलित होकर लोहा ले ही रहे थे। इस समय तक भारत की राजधानी दिल्ली में कश्मीर की रक्षा करने का निश्चय किया जा चुका था और भारतीय सैनिकों की टुकडियां कश्मीर की भूमि पर उतरने लगी थीं। जम्मू का हवाई अड्डा छोटा पडता था, अतः विमानों को उतरने तथा उडान भरने में देर तथा असुविधा होती थी। अतः ५०० स्वयंसेवकों ने रात - दिन अवेतन काम करके सात दिन में हवाई अड्डे को विस्तृत बना दिया, जिसके लिए उस समय के भारत सरकार के एजेंट जनरल कुंवर दिलीप सिंह ने उनको धन्यवाद भी दिया। श्रीबलराज मधोक ने अपनी "कश्मीर डिवाइडेड" पुस्तक में इसका उल्लेख किया है। मीरपुर में जीवित बचे लोगों को लाने के लिए भी जम्मू से सैकडों स्वयंसेवक गये थे। उस समय

प्रदर्शित उनके साहस की सराहना करते हुए कश्मीर के एक वरिष्ठ सेनाधिकारी ने उनको प्रमाणपत्र भी दिये थे। वीरों की इन टोलियों में अनेक बाल स्वयंसेवक भी थे, जिनके पराक्रम का वर्णन सुनकर यह प्रतीत होता है कि अब पुराने अभिमन्यु को याद करने की आवश्यकता नहीं रही है। सन् १९५० में बंबई की प्रांतीय बैठक के समय गुरुजी ने कहा था, "कश्मीर में सैकडों स्वयंसेवक लडते हुए मारे गये परंतु इसके फलस्वरूप लाखों हिन्दुओं के प्राण बचाये जा सके। हमारे स्वयंसेवकों ने पंजाब, सिंध और कश्मीर में सचमुच ही अपना जीवन सार्थक करके दिखा दिया।"

सितम्बर १९४७ के आरंभ में दिल्ली के जागरूक स्वयंसेवकों ने भी एक महान् कार्य कर दिखाया। विभाजन के बाद पू. पंजाब में भी दंगे कराकर मुसलमानों ने इस प्रदेश को भी हथिया लेने का षड्यंत्र रचा। इस षड्यंत्र के सूत्र भारत की राजधानी में भी बिखेरने से वे बाज नहीं आये। किन्तु संघ के स्वयंसेवक अपनी सतर्क दृष्टि से इन सब घटनाओं को देख रहे थे। उन्होंने योजना बनाकर मुसलमानों के इस षड्यंत्र को जडमूल से नष्ट कर दिया तथा उसका भंडाफोड करके दिल्ली पर कब्जा करने के उनके हवाई किले ध्वस्त कर दिये। कांग्रेस के वयोवृद्ध देशभक्त, भारतरत्न डॉ. भगवानदास ने, सन् १९४८ में संघ पर लगे प्रतिबंध को हटवाने की मांग करते हुए जो पत्रक प्रकाशित कराया था, उसमें इस संबंध में विशद प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था कि "मुझे निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि दिल्ली में मुसलिम लीगियों के षड्यंत्र का पता लगाने के लिए संघ के कुछ स्वयंसेवकों ने इस्लाम तक स्वीकार कर लेने का बहाना करके उनका विश्वास प्राप्त कर लिया था। इसी के फलस्वरूप दि. १० सितम्बर को सभी सरकारी मंत्रियों, अधिकारियों तथा हजारों हिन्दू नागरिकों की हत्या करके, लाल किले पर पाकिस्तानी झंडा फहराकर, समग्र भारत पर शासन जमा लेने के

षड्यंत्र की पूर्वसूचना सरदार पटेल को वे दे सके। ...... उत्साह तथा बलिदानों की भावना से भरे इन युवकों ने उस समय यदि इस षड्यंत्र की सूचना न दी होती, तो आज भारत सरकार का अस्तित्व ही नहीं रह पाता।" इस जागरूकता के कारण पंचमांगी भेदियों के षड्यंत्रों की पोल खुल गयी और देश संकट से बच गया।

जब ये सब घटनाएं हो रही थीं, तब श्रीगुरुजी दिल्ली में ही थे। यद्यपि संघ द्वारा दिखायी गयी तत्परता तथा सहयोग के प्रति महात्मा गांधी तथा सरदार पटेल मन ही मन सराहना ही कर रहे थे, परंतु प्रतीत होता है कि उनकी अहिंसा की परिभाषा से शायद संघ की यह कृति मेल नहीं खाती थी। दि. १२ सितम्बर को गुरुजी ने सरदार पटेल से, उनकी इच्छा के अनुसार, भेंट की। उसके पश्चात् कलकत्ता जाने के लिए वे हवाई अड्डे पर जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि महात्मा गांधी का टेलीफोन से संदेश प्राप्त हुआ कि मुझसे मिलकर ही जाइये। वे प्रातः १० बजे के लगभग बिडला भवन गये और महात्माजी से मिले। चारों ओर हो रहे दंगों के कारण महात्माजी परेशान थे। यह देखकर कि उनके शांति-संदेश की लोग उपेक्षा कर रहे हैं, उन्होंने कहा था, " आज मेरी आवाज कोई नहीं सुनता।"

गुरुजी के बिडला भवन पहुंचने पर गांधीजी ने विषय छेडा। उन्होंने पूछा कि इन दंगों में आपका भी हाथ है? इस पर गुरुजी ने कहा, " यह नितान्त झूठ है। मैं संघ के हर स्वयंसेवक के बर्ताव की शुद्धता का दावा तो नहीं कर सकता, तथापि संघ का उद्देश्य हिन्दू समाज व हिन्दुत्व की विशुद्ध सेवा करना है और वह चाहता है कि यह उद्देश्य किसी पर अन्याय किये बिना ही सध सके। यद्यपि संघ किसी पर आक्रमण करना नहीं चाहता, फिर भी आत्यंतिक अहिंसा पर उसका विश्वास नहीं।

वह आत्मरक्षा करना सिखाता है, प्रतिशोध उसने भूल से भी नहीं सिखाया है ।" बातचीत के बीच गाँधीजी ने गुरुजी से कहा कि वे जनता के नाम शांत रहने के आशय का एक वक्तव्य लिख दें । इस पर गुरुजी ने कहा, " देश में मेरी कौन सुनेगा ? सर्वत्र आपके शब्दों का आदर है । आप बुजुर्ग हैं, अतः उचित यही है कि वक्तव्य आप ही निकालें । चाहें तो उसमें मेरी सहमति का उल्लेख कर सकते हैं ।"

इस भेंट के बाद दि. १६ सितम्बर को दिल्ली के स्वयंसेवकों के सामने महात्मा गांधी का भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने सदा की भांति शांति बनाये रखने की अपील की । संघ की वृद्धि पर समाधान व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, " डॉक्टर हेडगेवार के जीवन-काल में मैंने वर्धा में संघ का शिविर देखा है । उसके बाद से अब संघ काफी बढ गया है । यह मानी हुई बात है कि उच्च सेवा के ध्येय तथा त्याग की भावना से प्रेरित कोई भी संघटन शक्तिशाली ही बनेगा ।"

अक्टूबर में प्रधान मंत्री पं. नेहरू से भी श्रीगुरुजी की भेंट हुई । उनके साथ लगभग एक घंटे तक बातचीत होती रही, जिसमें संघ का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए गुरुजी ने कहा, " पीठ पर प्रभावशाली संघटन न होने के कारण आज संसार में हमारा राष्ट्र निष्प्रभ सिद्ध हो रहा है ।" इस पर पं. नेहरू ने कहा, " किन्तु वह शक्ति पाशवी नहीं होनी चाहिए ।" पंडितजी के कहने का अर्थ गुरुजी की समझ में तुरंत ही आगया । उन्होंने यह कहते हुए कि " संघ की शक्ति को पाशवी समझने की आपकी धारणा भ्रान्त है, " पंजाब में एवं अन्यत्र हुए दंगों का विश्लेषण उनके सामने रखा । उन्होंने कहा, " आज देश में उत्पन्न कटुता का कारण संघ कदापि नहीं । इस कटुता की जड विभाजन के कारण उत्पन्न परिस्थिति में है ।" अन्य अनेक विषयों पर वार्ता करने के बाद विदा लेते हुए गुरुजी ने विनय

की कि सरकार की ओर से ऐसा वातावरण रखा जाय, जिसमें उसके साथ सहयोग करने की भावना को निरन्तर प्रोत्साहन मिले।"

इस भेंट से यह स्पष्ट होगया कि प्रधान मंत्री पं. नेहरू ने संघ के बारे में पूर्णतया गलत धारणा बना ली थी। नवम्बर में पंजाब तथा दिल्ली के समाचार-पत्रों को व्यक्तिगत रूप से पता चला कि पं. नेहरू का विचार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबंध लगाने का है। कुछ पत्रों ने तो इस भावना से कि यदि ऐसा हुआ तो यह घोर अन्याय होगा, इस पर अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त कर दी थी। जलंधर के उर्दू दैनिक "प्रताप" ने ११ सितम्बर के अंक में लिखा था, "संघ केवल हिन्दू जाति की सेवा के लिए है। वह हिन्दुओं का संघटन करके भारतीय संस्कृति का उत्थान करना चाहता है। इनमें से कोई भी बात ऐसी नहीं, जिसपर आपत्ति की जा सके।" "ट्रिब्यून" ने इससे भी आगे बढकर २६ नवंबर के अंक में यहाँ तक लिखा था, "क्या पंडित नेहरू को यह याद दिलाने की आवश्यकता है कि यदि हमारे राष्ट्रीय संघटनों ने पाकिस्तानी पशुता का कडा मुकाबला न किया होता, तो और भी सहस्त्रों हिन्दू स्त्रियों पर बलात्कार और बच्चों की निर्मम हत्या हुई होती।"

पंजाब, कश्मीर तथा दिल्ली के समान सिंध के स्वयंसेवकों ने भी आत्मरक्षा की उत्तम तैयारी कर रखी थी। उसी के भरोसे पाकिस्तान बनने के लगभग एक मास बाद तक सिंध में भगवा ध्वज लगाकर संघ की शाखाएं जारी रहीं। किन्तु दि. १० दिसम्बर को शिकारपुर में हुए बम-विस्फोट के कारण सारा वातावरण बदल गया। इस मामले में पाकिस्तान सरकार ने संघचालकों-सहित अनेक कार्यकर्ताओं को फँसाकर गिरफ्तार किया और उन पर मुकदमा चलाया। उसके तुरंत बाद ही मारकाट की वारदातें

होने लगीं। इस समय पंजाब में पाकिस्तानी सेना ने हिंदुओं पर गोलियाँ बरसाना आरंभ कर दिया था तथा भारत सरकार की विचित्र नीति सब पर प्रकट होने लगी थी। इस परिस्थिति का अन्वयार्थ एक ही था, कि इसके बाद सिंध में भी हिन्दुओं का जीना असंभव हो जायगा। सितम्बर के प्रारंभ में ही गुरुजी ने बदली हुई हवा का रुख पहिचान लिया तथा सिंध के लोगों को उसकी चेतावनी भी दे दी। संघ के कारण उस समय हिन्दुओं में गुंडों का मुकाबला करने की शक्ति अवश्य थी, परंतु सरकार की वक्रदृष्टि तथा सैनिकों की बंदूकों के सामने अल्पसंख्यक हिन्दुओं के लिए टिके रहना असंभव हो गया था। अत: वहाँ से भी हिन्दुओं का स्थान-परिवर्तन आरंभ हो गया।

पश्चिमी पाकिस्तान से सभी हिन्दुओं के बाहर आ जाने का एकमेव कारण हमारी सरकार की नीति ही थी। अकस्मात् विभाजन को स्वीकार कर लिया जाने के कारण वे हिन्दू एकदम चौंक उठे, जो विभाजन को असंभव समझे बैठे थे। आत्मरक्षा के लिए उन्होंने सभी संभव उपाय किये परंतु संघटित अत्याचार तथा अपनी सरकार की निष्क्रियता के सामने वे कर भी क्या सकते थे? स्थिति यह थी कि एक ओर तो दंगों में हिन्दू मर रहे थे तथा दूसरी ओर कथित हिन्दू-मुसलिम एकता की धारणा के कारण भारत सरकार दिल्ली, पूर्वी पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में होनेवाली पाकिस्तानी अत्याचारों की प्रतिक्रिया का कठोरता-पूर्वक दमन कर रही थी। इसका फल यह हुआ कि पाकिस्तान में होनेवाले अत्याचारों का परिमाण घटा तो नहीं, बढ ही गया। पश्चिमी पंजाब से आये हिन्दुओं ने जिस समय भारत सरकार की दमन नीति की उपेक्षा कर दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब के मुसलमानों को खदेडना शुरू किया था, उस समय सिंध तथा बंगाल से हिन्दुओं का खदेडा जाना कुछ समय के लिए स्थगित हो गया था। पर भारत सरकार की इस नीति के कारण

पाकिस्तान ने यह समझ लिया कि उनके अत्याचारों की कोई प्रतिक्रिया भारत पर नहीं हो सकेगी, तथा यदि ऐसा हुआ भी तो भारत सरकार उलटे मुसलमानों को प्रश्रय देकर हिन्दुओं पर गोलियाँ बरसायेगी। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान ने यह भी भली भाँति जान लिया कि पाकिस्तान से निकाले जानेवाले निरपराध हिन्दुओं की बाढ को रोकने के लिए उचित उपाय कर सकनेवाला दृढ नेतृत्व भी भारत सरकार के पास नहीं है।

विभाजन–काल में स्वयंसेवकों के पराक्रम से कुछ सेनाधिकारी भी आश्चर्यचकित हुए थे। ऐसे ही एक अधिकारी ने भेंट होने पर गुरुजी से पूछा, "इस तरह का पराक्रम सिखानेवाली कौन सी शिक्षा आप संघ में देते हैं ?" इस पर गुरुजी ने कहा "कबड्डी, और क्या !" किन्तु अधिकारी को यह बात जँची नहीं और उसने फिर पूछा, " यह कैसे संभव है ? आपकी शिक्षा–दीक्षा में अवश्य कुछ विशेषता होनी चाहिए, क्योंकि मरने- मारने के लिए वेतन लेनेवाले हमारे सैनिक भी जहाँ आगे बढने का साहस नहीं कर पाते, वहाँ आपके युवकों ने आगे बढकर लोगों के प्राण बचा लिये।"

इधर जब संघ के स्वयंसेवकों की वीरता का बखान जारी था, संघ के कार्यों से प्रभावित होकर सरदार पटेल नें कांग्रेसियों को संघ की ओर देखने का दृष्टिकोण बदलने की सलाह देना आरंभ कर दिया था। ६ जनवरी १९४८ को लखनऊ में हुए अपने एक सार्वजनिक भाषण में भी उन्होंने कहा था, " अधिकारारूढ कांग्रेसियों को अपने अधिकार तथा आदेशों पर जोर न देते हुए संघ के साथ दूसरे ढंग का व्यवहार करना चाहिए। वे लोग स्वार्थ के लिए झगडनेवालों में से नहीं हैं। वे तो अपनी मातृभूमि से प्रेम करनेवाले देशभक्त हैं।"

विभाजन से बाद उत्पन्न परिस्थिति में संघ यद्यपि समाज की रक्षा तथा सेवा के लिए प्रयत्नशील था, फिर भी उसके

दैनिक कार्यक्रम बराबर जारी थे। अनेक नयी शाखाएँ खुलती थीं और संघ की कर्तव्यदक्षता ने जनता के मन पर प्रभाव जमा लिया था। किन्तु संघ ने अपने कार्य का ढोल कभी समाज के सामने नहीं पीटा और न स्वतः अपने मुख से अपनी करनी का बखान करके अपने हाथों से अपनी पीठ ही ठोंकी। संघ का कार्य तो निःस्वार्थ एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति से देशसेवा करते जाना ही है। उसमें न तो आत्मघातक सिद्ध होनेवाला अन्यों के प्रति द्वेष है और न है प्रसिद्धि के पीछे दौडने की लालसा। संघ सदा ही समाज की निःस्वार्थ सेवा करने का इच्छुक रहा है। किन्तु उसके बढते हुए प्रभाव तथा आत्मरक्षार्थ किये गये पुरुषार्थ के कारण उसका अस्तित्व कुछ स्वार्थी दलों तथा कम्युनिस्टों जैसे विदेशी शासन के गुर्गों को खलने लगा। इनमें से कुछ ने अपने मुखपत्रों में लिखा, " उस समय, जब भारत के कुछ प्रान्तों में संकट उत्पन्न होगये थे, संघ ने जनता की सेवा की। यह बात सत्य होने पर भी दुःखदायी है।" कोई संघ को हिंसक तथा अत्याचारी बताता तो कोई कहता कि संघ ने सेना में विद्रोह उत्पन्न कर दिल्ली सरकार को उलट देने का षडयंत्र रचा था। कुछ लोगों ने कुटिलतापूर्वक यहां तक कहा कि " संघवालों ने पं. नेहरू को आंग सान बनाने का इरादा किया था।"

इस विपरीत प्रचार के कारण गुरुजी को अत्यंत पीडा होती थी। मैसूर के एक भाषण में उन्होंने कहा था, " यह दैव-दुर्विपाक ही है कि समाज के लिए सर्वस्व की आहुति देकर अपना कर्तव्य निभानेवालों को अत्याचारी कहा जाय। सत्य का यह अपलाप असहनीय है। कर्तव्य करते हुए जो स्वयंसेवक सदा के लिए समरांगण में सो गये, उनमें से प्रत्येक की स्मृति से मेरे अन्तःकरण में सहस्रों सुइयाँ चुभो देने की वेदना होती है।" संघ की सेवाओं से दुःखी होनेवाले महाभागों के प्रति दया व्यक्त करते हुए बंबई में २८ अक्टूबर को हुए प्रचंड सम्मेलन

म उन्होंने कहा, " हमारे स्वयंसेवक यदि अपनी सेवाओं को लिखकर प्रकाशित करते, तो संपूर्ण भारतवर्ष में प्रत्येक के मुख से ही नहीं, अपितु रोम-रोम से उठनेवाली संघ की जयजयकार से वातावरण गूंज उठा होता।"

किन्तु......!

संघ पर प्रतिबंध

इस समय तक संपूर्ण देश में रा. स्व. संघ का पर्याप्त प्रभाव फैल चुका था। किसी भी प्रांत में श्रीगुरुजी का आगमन होते ही, उनके कार्यक्रम के लिए सहस्रों स्वयंसेवक तथा लाखों नागरिक उपस्थित होते थे। संघ के द्वारा प्रारंभ की गयी पंजाब सहायता समिति में भी पर्याप्त निधि एकत्र हो रही थी। स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् देश के सम्मुख नये नये संकट खडे थे। अतः यह स्वाभाविक था कि जनता यह समझने लगे कि उनको दूर करने की शक्ति संघ के अनुशासनपूर्ण संघटन में है।

उस समय, पंजाब–कश्मीर आदि के दंगों से प्रेरणा लेकर, हैदराबाद की रियासत में भी रजाकारों ने उपद्रव आरंभ कर दिया था तथा इनको निजाम के राज्य का आश्रय भी प्राप्त हुआ था। रजाकारों ने हैदराबाद के बाहर, बरार, महाराष्ट्र आदि में भी जनता को तंग करना आरंभ किया था, जिसके फलस्वरूप मध्य प्रदेश सरकार को उनकी रोकथाम की चिन्ता हुई। तदर्थ मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री पं. रविशंकर शुक्ल तथा गृह मंत्री पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र ने बरार प्रांत के संघचालक श्रीबापूसाहब सोहनी से भेंट करके यह माँग की कि संघ इस कार्य में सरकार की सहायता करे। श्रीबापूसाहब ने यह मांग स्वीकार कर ली। उन्होंने इस संबंध में एक पत्र में लिखा था, "रजाकारों के उपद्रव के समय वाशिम, मेहकर आदि भागों में प्रचार-कार्य की एक बृहत् योजना हम लोगों ने प्रांरभ की थी। हमारे प्रचार का उद्देश्य था जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न करना, उसका आतंक दूर करना तथा जन-धन की सुरक्षा के लिए सरकार के प्रति विश्वास का भाव जगाना।

इस कार्य के लिए सरकार ने हमें पेट्रोल तथा अन्य अनेक सुविधाएं दी थीं।"

संघ के कार्य से प्रभावित होकर कुछ कांग्रेसी नेता भी यह अनुभव करने लगे थे कि आजतक हिन्दू संघटन की उनके द्वारा की गयी उपेक्षा अनुचित थी। दिसम्बर में कर्नाटक-केसरी श्रीगंगाधरराव देशपांडे ने बेलगांव शाखा के एक शिविर का समारोप करते हुए कहा था, "अपने गत पचास वर्ष के अनुभव के आधार पर मैं एक नहीं, दो बार कह सकता हूँ कि देश की शांति के लिए हिन्दू संघटन आवश्यक है।" इससे पूर्व नवम्बर में उन्होंने इस आशय का एक पत्रक भी निकाला था।

दिल्ली के संकट तथा अशांति-काल में संघ ने अपनी निष्पक्ष भूमिका बनाये रखी। उस समय महात्माजी वाल्मीकि मंदिर में रहते थे तथा अनेक बार उपद्रव की आँच उनतक भी जा पहुँचती थी। ऐसे अवसरों पर मंदिर के व्यवस्थापक, पास ही स्थित संघ के कार्यालय में, सहायता के लिए कुछ स्वयंसेवक भेजने का संदेश भेजते थे। तब संघ के स्वयंसेवक रात-रात भर मंदिर पर पहरा दिया करते थे। यही नहीं, संसद से बाहर आने-जाने के समय अनेक उच्च कांग्रेसी नेताओं की रक्षा के लि भी स्वयंसेवकों का प्रबंध किया जाता था। उस समय संघ ने इन बातों का प्रचार कतई नहीं किया। किन्तु जब संघ पर प्रतिबंध का रोलर घुमाया जाने लगा, तब दिल्ली प्रांत के तत्कालीन प्रचारक श्रीवसंतराव ओक ने राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन से स्पष्ट शब्दों में कहा, "इन घटनाओं की जानकारी यदि किसी को प्राप्त करनी हो, तो हमारे लिए तिथि, वार, स्थान, आदि सहित सब बातें प्रकट करना पूर्णतया संभव है।"

भारत को स्वतंत्रता तो मिली. परंतु उसमें कांग्रेस के सिद्धांत तथा नारे एकदम चकनाचूर होगये थे। हिन्दू-मुसलिम एकता तथा

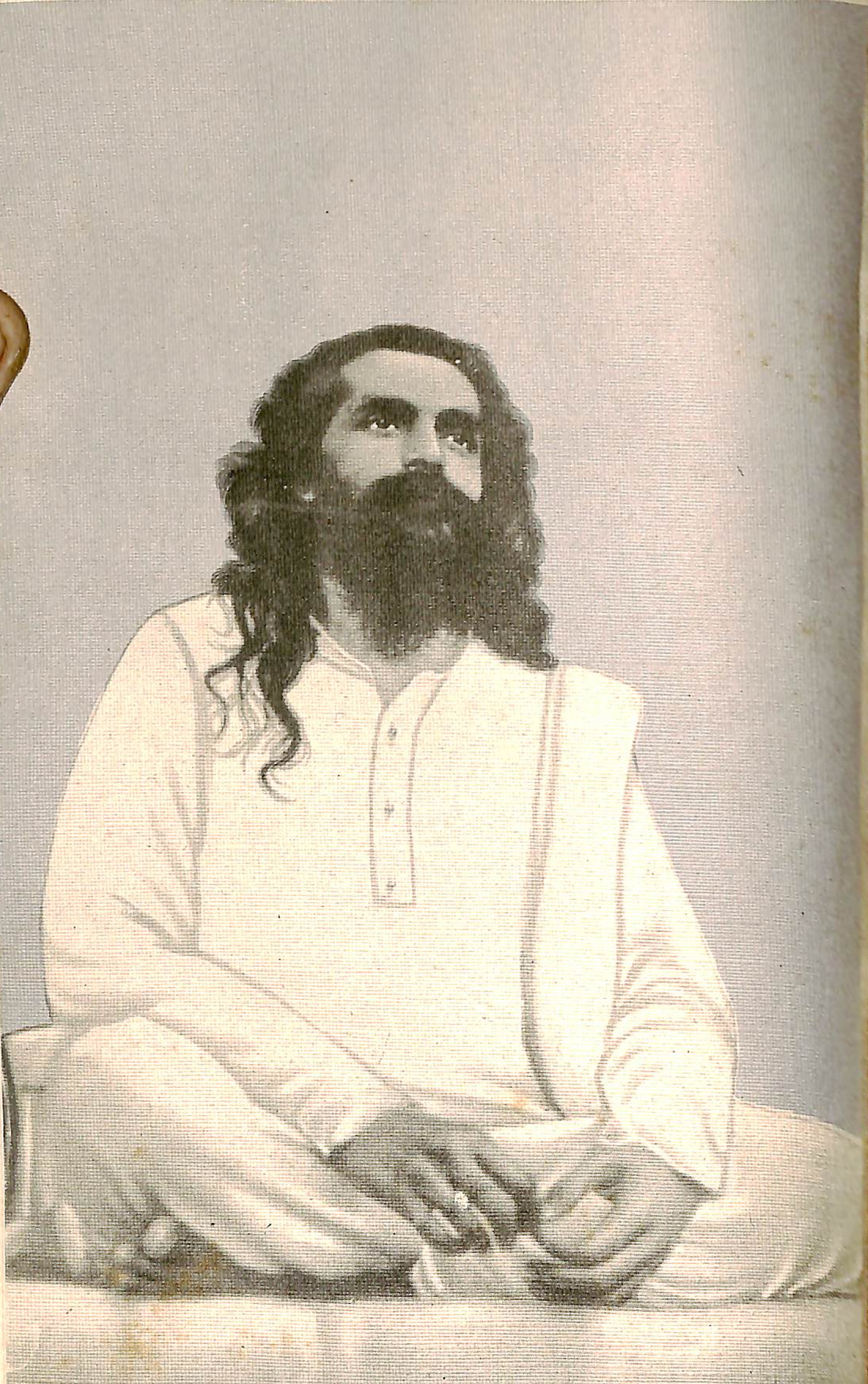

अहिंसा – दोनों ही बातें असफल सिद्ध हुईं और इनकी वेदी पर भारत की अखंडता की बलि चढ गयी। किन्तु फिर भी उनकी ओर देखने की, श्रीगुरुजी की भूमिका अत्यंत उदात्त थी। सन १९४८ में बंबई शाखा के संक्रमणोत्सव पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा "शांत – चित्त से विचार करने पर हमारे ध्यान में आ जायगा कि मनुष्य के जीवन में विविध प्रकार के प्रयोग होते रहते हैं। उनमें सफलता - विफलता, सुख - दुःख तथा जय - पराजय होना भी स्वाभाविक होता है। प्रयोग के लिए कुछ समय तो दिया ही जाना चाहिये, अन्यथा प्रयोग करने के लिए उद्यत व्यक्ति पर अन्याय होगा। भारत के प्रत्येक व्यक्ति को इसी तरह सोचना चाहिए कि जो हो रहा है, वह उचित हो या अनुचित, हमें प्रक्षुब्ध हुए बिना, समस्याओं का मूलगामी विचार करते हुए, हृदय में किसी प्रकार की अपकार – भावना को प्रश्रय न देकर, पारस्परिक वैमनस्य छोडकर शांतचित्त से प्रगति करते रहना चाहिए।

"सभी प्रक्षोभक कारणों को पचाकर हम आगे बढेंगे। अपने हृदयस्थ अमृत में क्रोध का विष नहीं आने देंगे। जो दिखायी दे रहे हैं, वे जैसे भी हों, हमारे ही लोग हैं, हमारे राष्ट्र - जीवन के, हमारे समाज के घटक हैं। उनकी विचारधारा कैसी भी हो, उन्होंने कुछ अच्छा कार्य भी किया है। अतः हमें शांतभाव से सोचना होगा। अपनी स्नेहमयी उदारता और बन्धुता की भावना हम उनके लिए नहीं, तो और किनके लिए प्रकट करेंगे ?"

देश पर महान् आपत्ति आयी, अनेक प्रांत हमसे छीन लिये गये तथा करोडों देशवासी उसकी लपटों में जल–भुन गये, परंतु गुरुजी ने इस पाप का दायित्व किसी भी दलविशेष के मत्थे मढने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इन सब आपत्तियों के मूल कारण का पता लगाकर यही प्रतिपादन किया कि सारे समाज को भविष्य में अपनी आँखें खोलकर इन कारणों को दूर करने के

लिए एकत्र होना चाहिए। इस समस्त दुर्भाग्यचक्र की कारण-मीमांसा करते हुए एक बार उन्होंने कहा था, " एकसंध समाज ही राष्ट्र-धारणा की आत्मा है। किन्तु इस बात को भुलाकर या उसकी उपेक्षाकर अन्य बातों को महत्व देने के कारण ही प्रादेशिक राष्ट्रवाद उत्पन्न हुआ है। इस भ्रान्त धारणा के कारण ही, कि इस देश में जो-जो रहने के लिए आये, उन सबकी सहायता लिये बिना राष्ट्र का हित नहीं किया जा सकता, हमने उन लोगों को, जो न आज हमारे हैं और न कभी थे ही, गले लगाने का प्रयास किया, इस निमित्त सब मूल्य चुकाने की तैयारी दिखायी तथा अंततः ऐनक खरीदने के लिए आँखों को ही मूल्य में दे देनेवाले मूर्ख के समान संसार में अपनी हँसी करायी।"

विभाजनोत्तर काल में श्रीगुरुजी इन असफल सिद्धांतों का निर्भीक विश्लेषण जनता के सामने रखते थे। उस समय "यह रहा सूर्य और यह रहा जयद्रथ" के सिद्धांतानुसार सप्रमाण विचार रखने की श्रीगुरुजी की शैली बहुत सफल सिद्ध होती थी। प्रादेशिक राष्ट्रवाद की विफलता सिद्ध हो जाने के बाद जब पुनर्विचार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, तब गुरुजी ने सबके सामने हिंदू राष्ट्रवाद का विशुद्ध विचार रखकर अनेकों के मन का संभ्रम समाप्त किया। उन दिनों होनेवाली संघ-कार्य की वृद्धि, स्वयंसेवकों द्वारा पंजाब, कश्मीर, सिंध तथा दिल्ली आदि में प्रदर्शित शक्ति तथा सेवा और श्रीगुरुजी द्वारा अपनी विशिष्ट वक्तृत्व-शैली से प्रतिपादित शुद्ध राष्ट्रवादी सिद्धांतों की विजय ही थी। इस तरह जिन दिनों दिन-दूनी रात-चौगुनी सफलता चरण चूम रही थी, श्रीगुरुजी के मन को असहिष्णुता ने स्पर्श तक नहीं किया। वे यही कहते रहते थे कि गलती चाहे जिसके हाथ से हुई हो, उसको सुधारने का प्रयास सबको मिलकर करना चाहिए। बंबई शाखा के मकर-संक्रमणोत्सव पर उन्होंने स्वयंसेवकों को

स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी कि, "किसी के कहने या करने से उत्पन्न होनेवाले क्षोभ के मैल को हृदय में प्रवेश तक करने न देते हुए, फिर से सिर उठा रहे पुराने भेदों को मिटाकर हम "वयं पंचाधिकं शतम्" वाली अपनेपन की भावना से, एकसूत्रबद्ध राष्ट्र के निर्माण में अपनी सारी शक्ति लगा दें, फिर चाहे हमारा संपूर्ण जीवन ही बरबाद क्यों न हो जाय।"

यह तो ठीक ही था कि गुरुजी संयत भाषा का प्रयोग करते हुए तथा किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न न होने देते हुए संघ-कार्य की प्रगति करते जा रहे थे, किन्तु उसी प्रगति के कारण अनेक लोग बेचैनी का अनुभव करने लगे थे, जिसमें प्रमुखता से यही एक डर रहता था कि यदि जनता का ध्यान संघ की ओर अत्यधिक आकर्षित हो गया तो हमारा आसन डावाँडोल हो जायगा। संघ के स्वयंसेवक अकृत्रिम सेवा-भाव से निर्वासित बंधुओं के पुनर्वास, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करने में लगे थे। किन्तु इस डर से कि इस सेवा के कारण संघ के स्वयंसेवक निर्वासितों के पहले से ही जले-भुने मनों को तथाकथित साम्प्रदायिक भावना से और अधिक भर देंगे, अनेक स्थानों की निर्वासित-बस्तियों में स्वयंसेवकों को जाने की मनाही कर दी। स्वतंत्र राष्ट्र में दुःखी जनों की सेवा करना भी अपराध हो गया। इतना ही नहीं, अनेक लोगों को संघ के विराट् कार्यक्रमों में, वहाँ दिखायी देनेवाले असाधारण अनुशासन तथा प्रभावी विचारों में "फासिज्म" तक दिखायी देने लगा। इससे यही व्यक्त होता है कि सत्ता की लालसा मनुष्य की विवेकबुद्धि पर ताले लगा दिया करती है। दुर्भाग्य से सत्तारूढ दल भी संघ की ओर इसी दृष्टि से देख रहा था।

सन् १९४७ के नवम्बर मास में महाराष्ट्र में एक लाख स्वयंसेवकों तथा हितचिंतकों की एक रैली पूना के पास चिंचवड नामक स्थान में करने का निश्चय किया गया। यह रैली १ तथा २ नवम्बर के लिए आयोजित की गयी। चिंचवड के खुले मैदान में हजारों स्वयंसेवक दिन–रात काम करने में जुट गये। उन्हें एक लाख व्यक्तियों के रहने का प्रबंध करना था। इस कार्यक्रम में सरसंघचालक श्रीगुरुजी तो उपस्थित रहनेवाले थे ही, भारत के गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी उपस्थित रहने का वचन दिया था। रैली में दिये जानेवाले उनके भाषण को रेडियो से प्रसारित करने के लिए ऑल इन्डिया रेडियो के अधिकारियों ने भी संघ के अधिकारियों से वार्ता करना आरंभ कर दिया था। किन्तु तभी बंबई के गृह मंत्री ने वातावरण की अस्थिरता का बहाना लेकर जिला अधिकारियों के द्वारा यह प्रबंध करवा लिया कि यह रैली न हो। हजारों स्वयंसेवकों द्वारा कडाके की सर्दी में दिन-रात काम करके शिविर खडे करने के लिए किया गया परिश्रम तथा रैली में भाग लेने को उद्यत लाखों व्यक्तियों का उत्साह व्यर्थ होता दिखायी देने लगा। किन्तु जिस द्वेष के कारण यह सारा कार्यक्रम छितरा दिया गया, उसे धन्यवाद दिया जाना चाहिए क्योंकि अब एक ही स्थान पर गुरुजी का कार्यक्रम होने के बजाय महाराष्ट्र के तेरह स्थानों में यह कार्यक्रम संपन्न किया गया।

प्रतिबंध तोडकर कार्यक्रम करने के लिए श्रीगुरुजी की सम्मति मिलना असंभव था। अत: प्रत्येक जिले का स्वतंत्र कार्यक्रम करना निश्चित करके श्रीगुरुजी का तूफानी दौरा आयोजित किया गया। २४ अक्टूबर से यह दौरा आरंभ हुआ और सभी जिला-रैलियों को सफल बनाकर ५ नवम्बर को गुरुजी पूना आये। उस दिन प्रातःकाल उनका जो स्वागत किया गया

वह अविस्मरणीय रहेगा। दासवाला पुल से शनि के चबूतरे तक १॥–२ मील के इस समस्त मार्ग में दोनों ओर गणवेशधारी स्वयंसेवक खडे थे। बारह दिन के इस अखंड प्रवास में लगभग चार लाख स्वयंसेवकों तथा नागरिकों ने श्रीगुरुजी के विचार सुने। स्थान-स्थान की इन रैलियों में तेरह सौ से अधिक ग्रामों के स्वयंसेवक तथा संघ-प्रेमी सज्जन एकत्र हुए थे।

इस समस्त दौरे के अपने भाषणों में गुरुजी ने चिंचवड कार्यक्रम तथा उस पर सरकारी रोक के संबंध में एक शब्द का भी उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत अनेक स्थानों पर तो उन्होंने इस बात पर संतोष ही व्यक्त किया कि ईश्वर ने उन्हें संपूर्ण महाराष्ट्र का दर्शन करने का सौभाग्य प्रदान किया। सभी स्थानों की ये रैलियाँ संख्या, अनुशासन तथा कार्यक्रम आदि सभी दृष्टियों से सफल हुई। इनमें गुरुजी ने समग्र भारत के हिन्दूमात्र की एकता, संघ की विशुद्ध राष्ट्रीयता, राजनीति से संघ की पृथकता, प्रादेशिक राष्ट्रवाद की विफलता, व्यष्टि और समष्टि के संबंधों का आदर्श आदि अनेक विषयों पर विशद और अधिकृत प्रकाश डाला। विभाजन को "हिन्दुओं की असंघटित अवस्था तथा आत्मविस्मृति के कारण, शत्रु से बिना युद्ध किये स्वर्गतुल्य प्रदेश हार जाने का संसार भर में एकमेव उदाहरण" बताकर उन्होंने उन लोगों की आँखों में एक प्रकार का अंजन डाला, जो बिना युद्ध किये स्वतंत्रता प्राप्त करने की डींग हाँकते नहीं अघाते थे। अपने पूना के भाषण में यह बताते हुए कि यद्यपि अंग्रेज चला गया है, तथापि अभी भी हमें संघटित होने की आवश्यकता है, उन्होने कहा, "स्वतंत्रता की प्राप्ति तो अनायास ही छीका टूट जाने के कारण बिल्ली को मिला मक्खन का गोला है।"

चिंचवड रैली पर लगायी गयी रोक राज्यकर्ताओं की मन:स्थिति का रुख पहिचान लेने के लिए पर्याप्त थी। संघटन

पर आनेवाले भावी भीषण संकट की वह मानो छाया ही थी। गुरुजी के इस दौरे के बाद नवम्बर के अंत में दिल्ली में सभी प्रान्तों के मुख्य मंत्रियों तथा गृह मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें प्रमुखतः इसी प्रश्न पर विचार किया गया कि संघ के स्वयंसेवकों की " हिंसात्मक " गतिविधि की रोकथाम किस प्रकार की जाय। इस सम्मेलन में निश्चय हुआ कि संघ पर सूक्ष्म दृष्टि रखते हुए फिलहाल केवल अपराधी व्यक्तियों पर ही कार्रवाई की जाय। ४ फरवरी को संघ पर प्रतिबंध लगानेवाली सरकारी विज्ञप्ति से ही, बाद में इस बात का पता चला था। वस्तुतः शासनकर्ताओं के मन में खलबली मचा देने के कारण भिन्न ही थे। संभव है, उन्हें यह प्रतीत होने लगा हो कि संघ की अखंड गति से बढनेवाली शक्ति आज नहीं तो कल, उनकी स्वार्थसिद्धि के लिए मारक सिद्ध होगी। उन्हें यह भी भय हो सकता था कि विभाजन के समय जनता के साथ किये गये विश्वासघात का संघ भण्डाफोड कर देगा। यह भी संभव है कि असफल सिद्ध हुए मुसलिम-अनुनय की जिद, संघटन के क्षेत्र में अपनी विफलता से उत्पन्न मत्सर, सत्ता के कारण आँखों में छाया नशा तथा अपने दल में न आनेवाले सभी व्यक्तियों को राष्ट्रद्रोही मानने की असहिष्णुता आदि कारणों से उनका मन परेशान रहने लगा हो। अतः अब भाषणों तथा समाचार-पत्रों के माध्यम से संघ पर साम्प्रदायिकता, प्रतिक्रियावाद, फासिज्म आदि आरोप लगाये जाने लगे। इन निंदनीय आरोपों की उपेक्षा कर संघ के स्वयंसेवक अपने कार्यक्रमों को अधिकाधिक उत्साह के साथ संपन्न करने में लगे थे।

सदा की भांति गुरुजी का भ्रमण जारी था। १९४८ के जनवरी मास के अन्त में वे आंध्र तथा तमिलनाड का दौरा कर रहे थे। बंगलौर में एक सम्मेलन का उत्साहपूर्ण कार्यक्रम संपन्न

कर २९ जनवरी को वे मद्रास गये । उस दिन सायंकाल वहाँ की शाखा का उत्सव था, जिसमें होनेवाले श्रीगुरुजी के भाषण को सुनने के लिए मद्रास की जनता हजारों की संख्या में उपस्थित थी । स्पष्ट है कि भारत के इस सुदूर दक्षिणस्थ प्रान्त में भी संघ ने कितना प्रभाव जमा लिया था । तमिल तथा तेलुगु भाषाएं सीखना कठिन होते हुए भी उत्तर से वहां गये प्रचारकों ने कुछ ही वर्ष की अवधि में भाषासंबंधी कठिनाई पर विजय पाकर अपने परिश्रम तथा साधना से जो कार्य किया था, उसी का यह मूर्त रूप था । उत्सव के दूसरे ही दिन प्रातः मद्रास के समाचार-पत्रों में, अमृतसर में दिया गया पं. नेहरू का भाषण छपा, जिसमें उन्होंने कहा था कि हम संघ को उखाडकर ही रहेंगे । उस समय मुत्तय्या चेट्टियर विद्यालय में कार्यकर्ताओं के समक्ष बोलते हुए श्रीगुरुजी ने यह स्पष्ट किया कि संघ ऐसी धमकियों से डरनेवाला नहीं है । उन्होंने कहा, "संघ पर कितने ही संकट लाये जायं, हम उन्हें दूर कर देंगे । यह कार्य किसी की कृपा के बल पर नहीं बढा है, जो दूसरों के आंखें दिखाने से नष्ट हो जाय । यह कार्य कागजी प्रस्तावों के सहारे भी निर्माण नहीं हुआ है । अतः यह किसी कागजी प्रस्ताव अथवा कागजी आदेश से नष्ट भी नहीं हो सकता ।"

सायंकाल "रामकृष्ण लंच होम" के श्रीअय्यर ने श्रीगुरुजी के सम्मान में एक उद्यान-जलपान का आयोजन किया था । नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उसमें निमंत्रित किया गया था । इस कार्यक्रम में श्रीगुरुजी का भाषण समाप्त ही हुआ था तथा वे चाय पीना आरंभ कर रहे थे कि समाचार प्राप्त हुआ– "आज सायंकाल दिल्ली के बिडला भवन में जब महात्मा गाँधी प्रार्थना के लिए जा रहे थे, तब किसी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी ।" चाय की प्याली वैसी ही रखकर कुछ

देर तक गुरुजी चुप बैठे रहे तथा फिर तुरंत कार्यक्रम स्थगित कर इग्मोर स्टेशन के पास संघचालक श्रीराजगोपालाचारी के निवासस्थान को चले गये। रात्रि को ८॥ बजे की ग्रांड ट्रंक एक्सप्रेस से उन्हें विजयवाडा जाना था, किन्तु उस कार्यक्रम को भी रद्द करके उन्होंने दूसरे दिन प्रातःकाल विमान से नागपुर लौटने का निश्चय किया।

महात्मा गांधी जैसे तपोवृद्ध देशभक्त की इस निर्मम रीति से हत्या कर दी जाने से श्रीगुरुजी अत्यंत दुःखित हुए। निष्पक्ष भूमिका पर खडे होकर अखंड रूप से स्वतः का जीवन कण-कण होमकर मातृभूमि को मंगल–दिवस दिखाने के लिए सेवारत गुरुजी को सदैव यही प्रतीत होता रहा है कि भारत के सभी दलों में सहयोग तथा सहिष्णुता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इसलिए मदभेद की तीव्रता का हत्या में अंत होना उनके लिए अत्यन्त व्यथित करनेवाली घटना थी। श्रीराजगोपालाचारी के बंगले पर आते ही उन्होंने प्रधान मंत्री पं. नेहरू, गृह मंत्री सरदार पटेल तथा महात्माजी के पुत्र श्रीदेवदास गांधी को सान्त्वना के तार भेजे।

दूसरे दिन प्रातःकाल विमान से वे नागपुर आगये। तत्काल उन्होंने भारत की सभी शाखाओं को महात्माजी की स्मृति में तेरह दिन तक शाखाएं बंद रखकर शोक मनाने का आदेश प्रसारित किया। इस नृशंस तथा दुर्भाग्यपूर्ण हत्या के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक वक्तव्य भी उन्होंने एसोशियेटेड प्रेस के द्वारा वितरित कराया। इस वक्तव्य में उन्होंने कहा, "आधुनिक युग के सर्वाधिक आदरणीय व्यक्ति की ऐसी नृशंस हत्या एक असाधारण पाशविक घटना है। इस कारण मेरे मन में जो भीषण दुःख उत्पन्न हुआ है, उसे व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि हत्यारा इसी

देश का तथा हिन्दू है। यह जानकर कि ऐसा कुकृत्य करनेवाला हमारा ही देशबन्धु है, प्रत्येक विचारवान व्यक्ति का मस्तक, इस शब्दातीत रूप से शोकाकुल अवस्था में भी, लज्जा से झुक जायगा।

"देश के इस संकट-काल में एकता तथा शान्ति की स्थापना करनेवाले व्यक्ति की नितांत आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति के लिए महात्माजी सबसे योग्य थे। उनकी हत्या करनेवाले ने राष्ट्र का अक्षम्य अपराध किया है। अतीव व्यथा से अपना दुःख व्यक्त करते हुए हम भविष्य की ओर देख रहे हैं। इस हृदय-विदारक घटना से, मुझे आशा है कि लोग प्रेम तथा सेवा का पाठ सीखेंगे तथा उसे व्यवहार में लायेंगे।"

इसी समय महात्माजी की हत्या में संघ का हाथ बताकर, उसके विरोधियों ने जनता को संघ के विरुद्ध भडकाने का प्रयत्न आरंभ कर दिया था, जिससे संघ के स्वयंसेवकों का सात्विक क्रोध भी उभड उठना स्वाभाविक ही था। ऐसी परिस्थिति के कारण देश में अराजकता फैलने के लक्षण प्रकट होने लगे थे, जिनको दबाने के लिए गुरुजी ने अपने इसी वक्तव्य में स्वयं-सेवकों को संयम तथा सहिष्णुता से काम लेने का आदेश देते हुए कहा था, "गलत धारणा से उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक परिस्थिति में स्वयंसेवकों को सबके साथ प्रेमपूर्वक ही पेश आना चाहिए। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि गलतफहमी के कारण लोगों के द्वारा दिया जानेवाला कष्ट भी, अपनी मातृभूमि का नाम समस्त संसार में गुंजा देनेवाले महापुरुष के प्रति, सारे देश के असीम प्रेम तथा आदर का ही परिचायक है।"

अत्यंत सात्विक विचार तथा भावना व्यक्त करनेवाला गुरुजी का यह वक्तव्य असहिष्णुता के कारण अनेक समाचार-पत्रों ने उचित ढंग से प्रकाशित नहीं किया। इस वक्तव्य के साथ ही

गुरुजी ने पं. नेहरू तथा सरदार पटेल को सांत्वना के पत्र भी लिखे।

महात्माजी का हत्यारा एक ब्राह्मण होने के कारण महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण विवाद ने सिर उठाया तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध वातावरण को एकदम गरम कर दिया। संघ के विरुद्ध जनता को उभाडने के सुयोजित प्रयास भी पहले से ही जारी थे। फलस्वरूप पूना, सतारा, कोल्हापुर, सांगली आदि स्थानों में उपद्रवों ने उग्रतम रूप धारण कर लिया। "अधिक अन्न उपजाओ" की भाँति "अधिक अफवाहें फैलाओ" का अभियान भी बहुत गरम था। महाराष्ट्र में सैकडों स्थानों पर एक ही समय नाथूराम गोडसे के आने तथा धन-संग्रह करने की बात फैली हुई थी। "महात्माजी की हत्या के बाद संघ के स्वयंसेवकों ने मिठाइयाँ खायीं" की अफवाह भी सर्वत्र सुनायी देती थी। इन अफवाहों के कारण जो अग्नि की ज्वाला प्रकट हुई, उसने महाराष्ट्र के लाखों निरपराध नागरिकों के घरबार जला दिये। करोडों रुपयों की संपत्ति नष्ट कर दी गयी तथा सहस्त्रों परिवार निराश्रय होकर दर-दर की खाक छानने लगे। अग्निकांडों के ये समाचार रेडियो तथा समाचार-पत्रों से प्रसारित कर आग में तेल झोंकने की होड सी लगी थी। इन सब घटनाओं के कारण हानि जो भी हुई हो, यह स्पष्ट होगया कि अहिंसा, बंधुता तथा प्रेम के नारे केवल दिखावटी हैं, उनमें सचाई नहीं हैं। अन्य प्रान्तों में भी संघविरोधी अत्याचारों ने जोर पकडा तथा वहाँ भी निरपराध स्वयंसेवकों को सताया गया।

नागपुर में ३१ जनवरी की रात से ही वातावरण में संघविरोधी गुनगुनाहट सुनाई देने लगी थी तथा १ फरवरी की प्रातः तो श्रीगुरुजी के निवासस्थान के सामने उकसायी हुई भीड ने पथराव आरंभ कर दिया। नेताओं का बहुत दिनों से

जमा हुआ संघ-द्वेष ही इस रूप में प्रकट हुआ था। इधर पथराव जारी था और उधर श्रीगुरुजी के मन में भारत में इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली अराजकता के प्रति घोर दुश्चिंता उत्पन्न होगयी थी। उनके मन में यह भय भी उत्पन्न होने लगा था कि आपसी कलह से विच्छिन्न समाज में इस आँधी के कारण आत्मीयता जगाने के संघ के प्रयत्न कुछ काल के लिए बंद तो नहीं हो जायेंगे। अतः यह निश्चय करके कि गलत धारणा के कारण उत्तेजित लोगों के कहीं संघ के स्वयंसेवकों से दो-दो हाथ नहीं होने चाहिए, गुरुजी ने देशभर की सब शाखाओं को "सभी परि-स्थितियों में शान्त रहो" के तार भिजवाये। इस आदेश के द्वारा उन्होंने अराजकता की ताली को दोनों हाथों से बजा सकना असम्भव कर दिया। कुछ लोगों को यह नीति शरणागति की प्रतीत हुई, परंतु गुरुजी को विश्वास था कि गत अनेक वर्षों से जिस एकात्मता के लिए हमारा संघर्ष जारी है, उस ध्येय के अनुरूप यही नीति होगी। इसी विश्वास के कारण तरुण स्वयं-सेवकों द्वारा यह उत्तेजना प्रकट करने पर कि अभी हम इस भीड को तितर-बितर किये देते हैं, उन्होंने कहा, " अपने घर के सामने हिन्दू बंधुओं का रक्त गिरने देना मुझे कदापि स्वीकार नहीं। मेरी रक्षा के लिए किसी को भी यहां रहने की आव-श्यकता नहीं है। अच्छा हो, आप सब लोग अपने-अपने घर चले जायं।"

पथराव जारी था और भीड भी बढती जा रही थी। उस समय पुलिस के अफसर भी वहां आ पहुंचे। गुरुजी नीचे उतर-कर आंगन में आये। आंगन के एक कोने में पत्थरों का ढेर देखकर पुलिस के अधिकारी यह कहना ही चाह रहे थे कि " मालूम होता है, आपने पत्थर जमा कर रखे हैं," कि बाहर से आकर गिरनेवाले पत्थरों को बीनकर एक स्वयंसेवक ने उस

ढेर पर डाल दिया। अधिकारी के इस संदेह का स्वयमेव निराकरण होगया कि मारपीट के लिए स्वयंसेवकों ने ही पत्थर जमा किये होंगे।

उसी दिन दोपहर में रेशमबागस्थित प. पू. आद्य सरसंघचालक डॉ. हेडगेवारजी की समाधि के शिखरों तथा तुलसी-वृन्दावन को संघ-द्वेष के नशे में उन्मत्त लोगों ने तोड डाला। इस विषय में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साहित्यिक तथा नेता श्री ग. त्र्यं. माडखोलकर के उद्‌गार कि "डॉक्टर हेडगेवार की समाधि का ध्वंस केवल ध्वंस नहीं, अपितु यह मानव-जीवन की संपूर्ण पवित्रता की विडम्बना है," अत्यंत यथार्थ हैं। जिन राष्ट्रभक्त कहलानेवालों ने यह कुकृत्य किया तथा कराया होगा, उन्होंने सोचा होगा कि इसके कारण संघ का अस्तित्व ही मिट जायगा। उन्हें क्या पता था कि प. पू. डॉक्टरजी की समाधि को तोडकर वे स्वतः अपने ही मुख पर कालिख पोत रहे हैं और सूर्य पर थूकने की मूर्खता कर रहे हैं। कदाचित् उनमें यह समझ पाने की शक्ति नहीं थी कि परलोकवासी महापुरुष के तेज को कम करने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती।

दि. १ फरवरी को दिनभर नगर में उपद्रव जारी रहे। यह अफवाह गरम रही कि रात को गुरुजी के घर पर जोरदार हमला करने का निश्चय संघ-विरोधी लोगों ने कर लिया है। नगर में छायी गंभीरता भी इसकी पुष्टि कर रही थी। किन्तु श्रीगुरुजी ने तो किसी भी परिस्थिति में भयभीत होना नहीं जाना है। इसी अस्थिर वातावरण में गुजरात प्रांत के प्रचारक उनसे मिलने आये थे। गुरुजी सडक पर होनेवाले शोर तथा उपद्रव के प्रति तनिक भी चिंतित नहीं थे। उन्होंने प्रचारक महोदय से यात्रा आदि के कष्ट के संबंध में पूछताछ की तथा उनके स्नान का प्रबंध करने नीचे आये।

सुबह से ही श्रीगुरुजी के घर की निगरानी के लिए सशस्त्र पुलिस तैनात कर दी गयी थी तथा आज्ञा के बिना किसी भी व्यक्ति का आना जाना निषिद्ध हो गया था। सायंकाल चिटणीस पार्क में एक आम सभा हुई, जिसमें संघ के विरुद्ध लोगों को उत्तेजित किया जा रहा था। सभा प्रारंभ होने के कुछ ही देर बाद दिखायी दिया कि पुलिस का पहरा हट गया है। इस परिस्थिति में संघ के कार्यकर्ता चिंतित होकर सोचने लगे कि सभा खत्म होने के बाद उपद्रवी लोग पास ही स्थित गुरुजी के घर में घुसकर पता नही क्या करेंगे। अपने ही बल पर भीड को रोक रखना उनके लिए कतई असंभव नहीं था परंतु वे जानते थे कि गुरुजी प्रतिकार के विरुद्ध हैं। अतः या तो उन्हें चुप खडे रहकर अवांछनीय घटनाओं को देखना पडता अन्यथा गुरुजी की इच्छा के विरुद्ध उनकी रक्षा के लिए खडा होना पडता। इस द्विविधा के कारण दो कार्यकर्ता उनसे यह अनुरोध करने गये कि वे अपने निवासस्थान को छोडकर अन्यत्र चलने को तैयार हो जायं।

गुरुजी ने उनकी बात सुनी तथा थोडी देर रुककर कहा, " ज्ञात होता है, आप लोग बाहर की परिस्थिति तथा आपत्तियों के कारण उत्तेजित हो उठे हैं। आप लोग अब यहां से जायं और मुझे शांतिपूर्वक रहने दें। मेरी चिन्ता आप बिलकुल न करें। आप कहते हैं कि मैं अन्यत्र चलूं, लेकिन क्यों ? आजतक मैं जिस समाज के लिए कार्य करता आया हूं, वह समाज ही यदि मुझे नहीं चाहता, तो मैं कहां जाऊं और क्यों जाऊं ? जो भी होना हो, होने दीजिये। अब मेरे संध्या-वंदन का समय होगया है, अतः अ प लोग जाइये।" यह कहकर वे संध्या के लिए चले गये।

किन्तु संयोगवश सभा समाप्त होने के कुछ ही मिनट पूर्व पहरा पुनः लग गया और गुरुजी के घर की ओर जानेवाले सभी रास्ते उपद्रवकारियों के लिए बंद हो गये।

रात के १२ बजे तक गुरुजी अपने ऊपर के कमरे में बैठे रहे। स्थान-स्थान पर स्वयंसेवकों पर होनेवाले अत्याचारों के समाचार निरन्तर आते ही रहते थे। गुरुजी विचारमग्न बैठे थे। इससे स्पष्ट प्रकट होता था कि नेत्रों के सम्मुख निःस्वार्थ देशभक्तों की दुर्दशा से उनको असीम वेदना हो रही थी। तभी उन्हें गिरफ्तार करने के लिए पुलिस की मोटर द्वार पर आयी। वारंट देखकर वे पहले तो हँसे, फिर जाने को तैयार हुए। चलते समय उन्होंने उपस्थित लोगों से कहा, "संदेह का यह पटल गल जायगा तथा हम लोग निष्कलंक बाहर आ जायेंगे। तबतक अनेक प्रकार के अत्याचार होंगे परंतु हमें संयम के साथ उन सबको सह लेना चाहिए। मुझे विश्वास है कि संघ के स्वयंसेवक इस कसौटी पर खरे उतरेंगे।" इतना कहकर वे पुलिस की मोटर में जाकर बैठ गये।

लाखों देशबंधुओं को अपने जीवन से उदात्त देशभक्ति तथा सेवा के लिए उद्यत करनेवाले तथा राष्ट्र को परमवैभव तक पहुंचाने के लिए आसेतुहिमाचल प्रचण्ड संघटन खडा करने का प्रयत्न करनेवाले श्रीगुरुजी आज महात्मा गांधी की हत्या के एक अभियुक्त के नाते कारा में प्रवेश कर रहे थे। उन पर धाराएं ३०२ तथा १२० के अन्तर्गत मुकदमा चलाया जानेवाला था। सत्ता के आगे बुद्धि व्यर्थ होती है, यही मानो इस घटना से सिद्ध हो रहा था। संभव है कि कारा की दीवारों ने गुरुजी को यही संदेश सुनाया हो कि सुकरात को विष का प्याला पिलाने तथा ईसा को सूली पर लटकानेवालों की परंपरा अभी-तक कायम है। कुटिल सत्ता स्वैरिणी हो गयी थी। पक्षाभि

निवेश का हाथी बेकाबू होगया था, उसके पैरों तले मानवता कुचली जा रही थी और सत्य की धज्जियां उडायी जा रही थीं।

दि. ४ फरवरी को सरकार ने एक विज्ञप्ति के द्वारा भारत के सभी प्रांतों में संघ पर प्रतिबंध लगाने की घोषणा की। यहां यह उल्लेखनीय है कि जब यह घोषणा की जा रही थी, तब पश्चिमी पंजाब के हिन्दुओं को सुरक्षित लाने तथा पूर्वी पंजाब में उनको बसाने में लाखों स्वयंसेवक लगे हुए थे। ऐसे समय पर प्रतिबंध की घोषणा करनेवाली विज्ञप्ति में कहा गया था कि,

" भारत सरकार ने २ फरवरी की अपनी घोषणा में कहा है कि उसने उन सभी विद्वेषकारी तथा हिंसक शक्तियों को जडमूल से नष्ट कर देने का निश्चय कर लिया है, जो राष्ट्र की स्वतंत्रता को खतरे मे डालकर उसके उज्ज्वल नाम पर कलंक लगा रही हैं। उसी नीति के अनुसार चीफ कमिश्नरों के अधीनस्थ सब प्रदेशों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अवैध घोषित करने का निश्चय भारत सरकार ने कर लिया है। गवर्नरों के अधीन राज्यों में भी इसी ढंग की योजना जारी की जा रही है।

" अन्य जनतांत्रिक सरकारों की ही भाँति भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकारें सभी दलों तथा संघटनों और सभी सच्चे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यों को योग्य अवसर प्रदान करने को सदा उत्सुक रहती हैं। औचित्य तथा कानून की सर्वसम्मत सीमाओं के भीतर रहकर काम करनेवाली संस्थाओं को, चाहे वे सत्तारूढ दल की समर्थक हों अथवा विरोधी, सहन किया जा सकता है। रा. स्व. संघ का घोषित ध्येय है हिन्दुओं का शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास करते हुए उनमें बंधुता तथा सेवाभाव निर्माण करना। जनता के सभी वर्गों का शारीरिक तथा बौद्धिक विकास करने की ओर सरकार का अत्यधिक ध्यान

रहता है तथा इस उद्देश्य के निमित्त, विशेषकर देश के नवयुवकों को शारीरिक तथा सैनिक शिक्षा देने के लिए आवश्यक योजनाएं उसने आरंभ की हैं। किन्तु खेद का विषय है कि रा. स्व. संघ के सदस्य घोषित ध्येय के अनुसार व्यवहार नहीं करते।

"संघ के स्वयंसेवक अनुचित कार्य भी करते रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से आगजनी, लूट-मार, डाके, हत्याएं तथा लुक-छिपकर शस्त्र, गोला और बारूद का संग्रह करने जैसी हिंसक कार्यवाइयाँ कर रहे हैं। यह भी देखा गया है कि ये लोग ऐसे पर्चे भी बाँटते हैं, जिनमें जनता को आतंकवादी मार्गों का अवलंबन करने, बंदूकें एकत्र करने तथा सरकार के बारे में असन्तोष निर्माणकर सेना और पुलिस में उपद्रव कराने की प्रेरणा दी जाती है। वे इस भाँति के कार्य गुप्त रूप से किया करते हैं तथा सरकार ने समय-समय पर इस सम्बन्ध में चर्चा की है कि इन सभी स्वयंसेवकों का विचार एक संस्था के रूप में किया जाय अथवा नहीं। नवम्बर के अत में प्रान्तों के मुख्य मंत्रियों तथा गृह मंत्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ था, जिसमें निश्चय किया गया था कि अभी वह समय नहीं आया है, जब संघ का एक संस्था के रूप में विचार किया जाय, अत: व्यक्तियों के लिए ही, स्वतंत्र रूप से जो उपाय काम में लाये जा सकते हों, लाये जाने चाहिए। किन्तु उसके बाद भी संघ की आक्षेपजनक तथा घातक कार्रवाइयाँ जारी रहीं और संघ द्वारा समर्थित हिंसा-वृत्ति के अनेक व्यक्ति शिकार हुए, जिनमें से स्वत: गाँधीजी ही नवीनतम बलि हैं।

"ऐसी दशा में हिंसा की इस उग्र अभिव्यक्ति का दमन करने के लिए कडे उपाय काम में लाना सरकार अपना कर्तव्य समझती है, जिसकी पूर्ति की दिशा में उठाये गये पहले कदम के रूप में संघ को अवैध घोषित किया जाता है। सरकार को इस

बात में तिलमात्र भी संदेह नहीं कि सभी नीतिनिपुण तथा देशहितैषी नागरिक इस कदम का समर्थन करेंगे ।"

इस विज्ञप्ति के साथ ही देश भर में सहस्त्रों स्थानों के कार्यकर्ताओं को बंदी बनाया गया। इन कार्यकर्ताओं को गांधीजी की हत्या जैसे निंदनीय कृत्य से संबंधित बताने में सरकार का यह इरादा स्पष्ट था कि लोग संघ से घृणा करने लगें तथा संघ की जड खोद देने को तत्पर हो जायं । संघ को इस प्रकार चारों ओर से घिरा पाकर अनेक नेताओं को जोश चढा और वे संघ के सरसंघचालक को तानाशाह, डॉक्टर हेडगेवार को जर्मनी से नाजियों का तंत्र सीखकर आया हुआ, संघ को फासिस्ट, हिंसक तथा गांधीहत्या के षड्यंत्र की रचना करनेवाला आदि कहने लगे । कुछ समाचार-पत्रों ने प्रकाशित किया कि, "गांधी-हत्या के षड्यंत्र में एक ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया है, जिसकी दाढी तथा सिर के बाल लंबे हैं ।" कुछ ने इससे भी आगे बढकर यह सनसनीखेज समाचार छापा कि, "गुरुजी का गांधीहत्या में प्रत्यक्ष हाथ था तथा बंबई में हुई शिनाख्त में मदनलाल ने गुरुजी को पहिचान लिया है ।" उस समय इन सबकी धारणा यही प्रतीत होती थी कि जो कोई इस अनर्गल आलोचना तथा द्वेष के प्रवाह में नहा नहीं लेगा, वह बडा अभागा है ।

महात्मा गाँधी की हत्या के बाद पं. नेहरू ने अपने भाषण में कहा था कि, "साम्प्रदायिकता का खात्मा कर दिया जाना चाहिए ।" किन्तु साम्प्रदायिकता का अर्थ क्या ? उसका खात्मा यानी किसका नाश ? और यह नाश कौन करेगा ? आदि प्रश्नों के विभिन्न सत्तालोलुप गुटों ने अपनी अपनी सुविधा के अनुसार उत्तर ढूंढ लिये । कलकत्ता के कम्युनिस्ट पत्र "स्वाधीनता" ने लिखा, "गांधीजी के देहान्त के पश्चात् केवल आँसुओं की धारा

बहाना पर्याप्त नहीं । अब शोक बहुत हो चुका । अब तो अग्नि बरसानेवाले क्रोध तथा चरम सीमा तक पहुँची हुई घृणा का समय आगया है । आज हम यह भीष्म–प्रतिज्ञा करते हैं कि भविष्य में उन लोगों का नामोनिशान तक नहीं रहने देंगे, जिन्होंने गांधीजी की हत्या की है । पहिचानिये, अपने शत्रुओं को पहि–चानिये । क्रोध से भभक उठिये । उसके ज्वालामुखी को धधकने दीजिये । क्षुब्ध जनता के दावानल में साम्प्रदायिकता भस्म हो जाय । आइये, शत्रु की जड खोद देने के लिये आगे बढें ।"

असम के कम्युनिस्टों ने तो एक वक्तव्य में सात संघ–कार्यकर्ताओं के नाम गिनाये थे तथा उनकी हत्या करने की धमकी दी थी ।

कारागार में गुरुजी को यह समाचार ज्ञात हो चुका था कि संघ पर प्रतिबंध लग चुका है । इस पर श्रीगुरुजी ने अपने मित्र श्रीदत्तोपंत देशपांडे को, जब वे ५ फरवरी को उनसे मिलने जेल गये थे, संघ के विसर्जन का एक वक्तव्य लिखकर दिया तथा कहा कि वे उसे प्रकाशित करा दें । इस वक्तव्य में गुरुजी ने लिखा था, "रा. स्व. संघ की आरंभ से यही नीति रही है कि सरकारी प्रतिबंधों का पालन करते हुए ही अपने कार्यक्रम किये जायँ । इस समय सरकार ने उसे अवैध घोषित कर दिया है, अत: मैं यही उचित समझता हूँ कि प्रतिबंध हटाया जाने तक संघ को विसर्जित कर दूं । तथापि सरकार ने संघ पर जो आरोप लगाये हैं, उन्हें मैं पूर्णतया अस्वीकार करता हूँ ।"

यह वक्तव्य लेकर श्रीदेशपांडे घर आये और उसे तार द्वारा दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, बंबई, पूना आदि स्थानों को भिजवाया । किन्तु सरकार ने यह सोचकर कि यदि ये तार सर्वत्र पहुँच जायेंगे, तो अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रान्तों में संघ के कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करना कठिन हो जायगा, नागपुर में

ही सब तार रोक लिये। किन्तु श्रीदेशपांडे को यह आशंका थी, अतः उन्होंने अन्य उपायों की व्यवस्था कर रखी थी। इस कारण, कुछ देर से ही सही, यह सूचना सर्वत्र पहुंचकर प्रकाशित हो ही गयी।

गुरुजी तथा हजारों स्वयंसेवकों को इस तरह के गंदे अभियोग में जेलों में ठूंसकर तथा संघ पर प्रतिबंध का रोलर चलाकर दिन-दहाडे सत्य की हत्या कर दी गयी थी। कहना पडेगा कि यदि एक विरोधी ने गांधीजी की हत्या की, तो गांधीजी के अनुयायियों ने गांधीवाद की हत्या कर डाली।

यह उल्लेखनीय है कि संघ के विसर्जन संबंधी गुरुजी का वक्तव्य सर्वप्रथम, ६ फरवरी को पाकिस्तानी पत्र "डॉन" ने ही छापा। लीग की हरकतों पर रोक लगानेवाले संघ पर सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया तथा स्वतः संघ के नेता ने उसे विसर्जित कर दिया, इस बात का उसको हर्ष होना स्वाभाविक ही था। "डॉन" के बाद अन्य पत्रों ने भी उसे प्रकाशित किया। फिर क्या था ? कुछ लोगों ने समझा कि संघ समाप्त हो गया। संघ-विरोधियों ने यह जानकर चैन की साँस ली कि संघ का संघटन दफना दिया गया। किन्तु वे नहीं जानते थे कि कपास जैसे हलके और पोले आरोपों के नीचे दबा संघ का स्फुलिंग जैसा तेजस्वी संघटन कपास को ही जलाकर खाक कर देगा तथा अधिकाधिक प्रज्वलित होकर धधक उठेगा।

कारा–पर्व

श्रीगुरुजी को कारागार में भेजने के ५–७ दिन बाद ही सरकार ने उन पर से गाँधीहत्या सम्बन्धी अभियोग वापस ले लिया। ७ फरवरी से उन्हें हत्या तथा षड्यंत्रकारी न मानकर साधारण स्थानबद्ध बंदी ही माना जाने लगा।

गुरुजी की मनःस्थिति इस समय भी शान्त थी। कारागार में जाने के पहले दिन से ही उन्हें प्रतीत होता था कि भ्रम के कारण उत्पन्न यह बवंडर अपने आप शांत हो जायगा। उन्हें कुछ दिन तक अकेले में रखा गया, परंतु १५ फरवरी से उनके साथ नागपुर के संघचालक श्रीबाबासाहब घटाटे, श्रीबच्छराज व्यास, बरार प्रान्त–संघचालक श्रीबापूसाहब सोहनी, सरकार्यवाह श्रीअप्पाजी जोशी आदि को भी लाकर रखा गया। नागपुर जेल की निचली मंजिल पर उन्हें एक बडी बैरक दी गयी थी।

जब वे अकेले थे, उस समय भी समय बिताने की समस्या उनके सामने खडी नहीं होती थी। उनकी ध्यान–धारणा के लिए यह मानो सुअवसर ही था। ईश्वर–चिंतन का इतना अच्छा योग उन्हें सारगाछी के बाद अब मिला था। ईश्वर–चिंतन से बचे समय में वे मन ही मन विभिन्न संघ–शाखाओं तथा उनके स्वयंसेवकों का चिंतन करते थे। बाद में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए नागपुर के एक भाषण में उन्होंने कहा था, "मुझे चहारदीवारी में जाकर बैठना पडा। वहाँ मैं अकेला था। मेरे सामने प्रतिदिन २४ घण्टे होते थे। इनमें से कई घण्टे में एक-एक स्थान को याद करने, वहाँ के स्वयंसेवकों के चेहरों को आँखों के

सम्मुख लाने तथा, मानो मैं बैठक में उनसे परिचय कर रहा हूँ, इस प्रकार के काल्पनिक चित्र देखने में बिताता था। इस प्रकार अव्यक्त का चिंतन क्लेशकारक होता है। मेरे अन्तःकरण को भी क्लेश हुआ किन्तु भावनाओं के इस संघर्ष की उपेक्षाकर मैं इष्ट कर्तव्य को करता ही रहा।"

कारागार में उनका दिनक्रम साधारणतः एक समान ही रहता था। वे प्रातः ५ बजे जागते, प्रातर्विधि से निवृत्त होकर चाय पीते तथा फिर कमरे में टहलते हुए सम्पूर्ण गीता का पाठ करते। तत्पश्चात् वे और कुछ घण्टे संध्या-वंदन तथा ध्यान धारणा में बिताते। स्नान के लिए उन्हें एक दिन पहले लोहे के बर्तन में रखे पानी का उपयोग करना पडता था। कभी-कभी स्नान से पहले वे योगासन करते तथा अपने सहयोगियों को यह सब सिखाते थे। उस समय कुछ लोगों के पैर पद्मासन लगाते समय जाँघों पर चढने से इनकार कर देते, अतः अन्यों की सहा-यता लेनी पडती तथा यह कार्यक्रम पर्याप्त मनोरंजक होता था। दोपहर को १२ बजे तक वे पढते, जिनमें ज्ञानेश्वरी, वाल्मीकीय रामायण, तुलसी-रामायण, तुकाराम की गाथा, दासबोध तथा महाभारत आदि प्रमुख होते। इस कारावास के अन्तिम दो-तीन मासों में उन्हें समाचार-पत्र भी मिलने लगे थे किन्तु प्रायः वे उन्हें पढते नहीं थे। उन्हें लेटकर, चहलकदमी करते हुए या बोलकर पढना पसंद नहीं, अतः वे सदा बैठकर दत्तचित्तता से ही पढते थे। सदा की भाँति वे कारावास में भी दिन में एक ही बार भोजन करते थे।

अपनी सेवा के लिए तैनात कैदी की अस्वच्छता देखकर गुरुजी अपने पहले उसी को नहलाते थे। अन्य कैदियों तथा पहरेदारों के साथ भी उनका व्यवहार आत्मीयतापूर्ण होता था। वे उनकी घरेलू बातों में रुचि लेते तथा कुछ समय हँसी-मजाक

में बिताते थे । जेल के अधिकारियों से कभी-कभी वे पूछते, " क्या आपने कभी अनुभव किया है कि एक बार अपराधी बनकर जेल आया व्यक्ति निकलते समय कैसा हो जाता है ?" इस विषय के विभिन्न अनुभवों को सुनकर वे कहा करते थे कि ऐसी प्रणालियों से लोगों में जो सुधार नहीं किया जा सकता, वह संस्कारों के प्रभाव से किया जा सकता है ।

दोपहर को २–३ बजे तक वे भोजन तथा विश्राम करते और फिर या तो अपने साथियों से वार्तालाप करते अन्यथा पढते थे । देश पर जब महान् संकट पहले से ही छाया हुआ था, तब जनता की शक्ति इस तरह अराजकता में नष्ट होती देखकर उन्हें अत्यंत दु:ख होता था । संघ पर आयी आपत्ति भी उन्हें व्यथित करती थी तथा बातचीत में उनके तत्संबंधी विचार भी व्यक्त हो जाते थे । यह पूछा जाने पर कि " प्रामाणिकता तथा प्रमादहीनता से काम करने पर भी हमारे ऊपर यह संकट क्यों आया," वे आत्मविश्वासपूर्वक उत्तर देते कि " शक्ति के कारण ही आपत्ति आयी और शक्ति के प्रभाव से ही वह दूर हो जायगी ।" इतना ही नहीं, कभी-कभी वे यह भी कहते, " इस आपत्ति की कसौटी पर यदि संघ खरा उतरता है, तो उसकी अधिक उन्नति ही होगी ।"

कारागार के नियमों के अनुसार वहीं मिल सकने अथवा बाहर से लायी जा सकनेवाली वस्तुओं की उन्होंने कभी कोई मांग नहीं की । कई दिन तक तो उन्होंने जेल की दरी, चादर तथा कंबल से ही काम चलाया । उन्होंने यह भाव कभी व्यक्त नहीं किया कि कैदी के नाते हमारे ये-ये अधिकार हैं तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए हम झगडा भी करेंगे । सहज मिलनेवाली वस्तुओं में ही उन्होंने संतोष माना । इसी अवधि में उनकी ऐनक खराब हो जाने के कारण उन्हें उसके बिना ही पठन

करना पडा। फलस्वरूप आगे चलकर उन्हें सिरदर्द की बीमारी लग गयी परंतु फिर भी न तो उन्होंने पढना बंद किया और न ऐनक की ही मांग की। वे अपने चारों ओर अत्यंत स्वच्छता रखते थे तथा कागज के टुकडे को भी इधर-उधर नहीं गिरने देते थे। रात को चाय पीने के बाद चहलकदमी करके वे पुनः ध्यानस्थ होकर बैठ जाते थे तथा १०–११ बजे के लगभग सोते थे।

इसी समय देश के अन्य सहस्रों युवक भी कारावास में नजरबंद थे। अनुमान यह था कि एक–डेढ मास में सरकार स्वतः उन सबको रिहा कर देगी किन्तु इस दिशा में कोई कार्रवाई होती न दिखायी देने के कारण बंबई, पूना, नागपुर तथा अन्य प्रांतों के स्वयंसेवकों ने नजरबंदी के विरुद्ध न्यायालयों में "हैबियस कार्पस" देना आरंभ कर दिया। इसमें सफलता मिलती देखकर अन्य सभी स्थानों के स्वयंसेवकों ने भी इसी मार्ग का अवलंबन किया। इस प्रकार न्यायालय की आज्ञा से जेलों के ताले खुलने लगे और स्वयंसेवक बाहर आने लगे। बाहर आकर उन्होंने सरकार की विषाक्त नीति का पर्दाफाश करना शुरू किया। अनेकों की गिरफ्तारी का कारण सरकार ने यह बताया था कि वे रा. स्व. संघ के सदस्य थे और संघ के प्रति जनता का क्षोभ होने कारण उन्हें संरक्षण देने के लिए जेल में रखा गया। सरकार की इस संरक्षण-योजना की स्थान-स्थान के उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों ने धज्जियां उडाकर रख दीं। गुण्डों को मनमानी करने की छूट देकर, सज्जनों को गिरफ्तार करना एक हास्यास्पद बात ही थी।

गुरुजी के साथियों ने उनसे भी आग्रह किया कि वे भी "हैबियस कार्पस" से अपनी रिहाई करा लें, परंतु गुरुजी ने

स्वत: इनकार करते हुए अन्य व्यक्तियों को इस मार्ग का अवलंबन करने का परामर्श दिया। किसी के आग्रह करने पर वे हँसकर कहते, " जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया है, वे ही अपने हाथों से मुझे रिहा करेंगे। फिर उसका प्रयत्न क्यों किया जाय ? कारागारों से बाहर आे स्वयंसेवक गुरुजी की रिहाई की प्रतीक्षा कर रहे थे। ६ अगस्त को उनकी स्थानबद्धता की अवधि यद्यपि समाप्त हो रही थी, परंतु फिर भी इसमें संदेह था कि सरकार उनको रिहा करेगी। किन्तु यह संदेह व्यर्थ सिद्ध हुआ और वे रिहा कर दिये गये। यह समाचार पाकर सर्वत्र स्वयंसेवकों तथा संघ के शुभचिंतकों में आनंद छा गया। अब यह आशा प्रकट होने लगी कि अब संघ पर से प्रतिबंध हटवाने का कोई मार्ग निकल आयेगा। किन्तु गुरुजी की रिहाई के तुरंत बाद ही समाचार मिला कि उनकी गतिविधि पर कडे बंधन लगा दिये गये हैं, जो इस प्रकार थे:—

१. वे नागपुर नगरपालिका की सीमा के भीतर ही रहें तथा जिलाधिकारी की अनुमति के बिना बाहर न जायँ।

२. किसी सभा में भाषण न दें।

३. किसी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र में जिलाधिकारी की अनुमति के बिना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कुछ भी न लिखें।

४. प्रांतीय या केन्द्रीय सरकार के प्रति असंतोष उत्पन्न करनेवाली कोई कार्रवाई प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में न करें तथा ऐसे व्यक्तियों से संबंध भी न रखें। विभिन्न वर्गों में द्वेष या शत्रुता उत्पन्न करके शांति भंग न करें।

इन चार शर्तों में से अंतिम शर्त पढकर गुरुजी मुस्कराये क्योंकि उसमें सरकार के प्रति असंतोष उत्पन्न करनेवाले व्यक्तियों से संबंध न रखने की बात कही गयी थी। इस शर्त में छिपी

हास्यास्पदता की ओर ध्यान खींचने के लिए कहते हैं कि उन्होंने एक पत्र लिखकर सरकार से माँग की कि सरकार के प्रति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ऐसी कार्रवाइयाँ करनेवालों की सूची मेरे पास भेजी जाय, जिससे उनके साथ संबंध न रखने में सुविधा हो।

इन शर्तों में संभवत: भूल से ही "किसी को पत्र भी न लिखें" की शर्त लिखना रह गया था। उसी से लाभ उठाकर गुरुजी ने ११ अगस्त को प्रधान मंत्री पं. नेहरू तथा सरदार पटेल को पत्र लिखे। पं. नेहरू को लिखे गये पत्र का आशय था कि "मेरी समझ में नहीं आता कि मुझे तथा मेरे साथियों को बंदी क्यों बनाया गया था। मान लें कि परिस्थिति कुछ विचित्र थी परंतु मुझे यह संभव नहीं प्रतीत होता था कि आप जैसा व्यक्ति संतुलन खो देगा। अभी भी मैं आपकी ओर मित्रतापूर्वक ही देख रहा हूँ। मित्रता के इस संदेश को मुझे सर्वत्र पहुँचाने दें और चूंकि सारे आरोप झूठे सिद्ध हुए हैं, उन्हें वापस ले लिया जाय।"

इस पत्र में दो वाक्य अत्यंत मर्मस्पर्शी थे। उन्होंने लिखा था, "मैं इस बात पर विश्वास करना नहीं चाहता था कि अत्युच्च पद पर आसीन व्यक्ति भी उतावली कर सकते हैं, मन का संतुलन खो सकते हैं या मनमानी कर सकते हैं। किन्तु अब इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मैं विवश हो रहा हूँ।" नागपुर में स्थानबद्ध किये जाने के संबंध में उन्होंने लिखा, "मेरी रिहाई से यही हो पाया है कि अब मैं एक बडे कारागृह में आ पडा हूँ।"

इन पत्रों का कोई उत्तर प्राप्त न होने के कारण उन्होंने २४ सितंबर को पुन: पं. नेहरू तथा सरदार पटेल को दो पत्र लिखे। उसमें उन्होंने यह आत्मविश्वास व्यक्त किया कि देश में कम्युनिस्टों की लहर को संघ ही रोक सकता है। किन्तु तभी ११ अगस्त को सरदार पटेल को लिखे पत्र का उत्तर प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने लिखा था, "रा. स्व. संघ ने हिन्दू समाज की सेवा की, इसमें तो कोई

संदेह नहीं। ऐसे क्षेत्रों में, जहां उनकी सहायता की आवश्यकता थी, संघ के नवयुवकों ने स्त्रियों तथा बच्चों की रक्षा की तथा उनके लिए काफी काम किया।" पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा, "मुझे विश्वास है कि संघ के लोग कांग्रेस के साथ मिलकर ही अपने देशप्रेम को सफल कर सकते हैं।"

२४ सितंबर को लिखे पत्रों में से पं. नेहरू का उत्तर ४ अक्टूबर को तथा सरदार पटेल का उत्तर २६ सितंबर को प्राप्त हुआ। पं. नेहरू के पत्र का आशय था, "संघ साम्प्रदायिक है। संघ के नेता जो कुछ बोलते हैं, वह कृति में दिखायी नहीं देता।" सरदार पटेल ने "कांग्रेस के समान बनने" की बात कहते हुए लिखा कि "प्रांतीय सरकारें प्रतिबंध उठाने के पक्ष में नहीं हैं।"

यह पत्र-व्यवहार जब जारी था, नागपुर के स्वयंसेवक गुरुजी से मिलते रहते थे। अब जनता में मचायी गयी हलचल मंद पड गयी थी, क्षोभ का धुआँ समाप्त होगया था तथा कुप्रचार की बाढ उतर गयी थी। गुरुजी की रिहाई के बाद भी प्रतिबंध उठने के लक्षण न दीखने के कारण स्वयंसेवकों का अधीर हो उठना स्वाभाविक ही था। ये लोग पं. नेहरू को संघ से प्रतिबंध हटाने तथा गुरुजी को वार्ता शुरू करने की प्रार्थना करनेवाले पत्र भेजने लगे थे। इन पत्रों की संख्या बढते-बढते लाखों तक पहुँच गयी तथा उनका वितरण करने के लिए दिल्ली तथा नागपुर के डाक विभागों को कर्मचारी बढाने पडे। इसका यह प्रभाव हुआ कि १३ अक्टूबर को समाचार प्रकाशित हुआ कि गुरुजी की गतिविधियों पर लगे प्रतिबंध हटा लिये गये हैं।

इस प्रकार वार्ता आरंभ करने की राह खुलते ही १७ अक्टूबर को प्रातः श्रीगुरुजी दिल्ली पहुँच गये। विभाजनोत्तर काल में हुए उपद्रवों के बाद वे पहली बार दिल्ली आये थे।

अतः उनके आगमन का समाचार प्रकाशित न होने पर भी दिल्ली स्टेशन पर हजारों स्वयंसेवक तथा नागरिक प्रतीक्षा करते हुए मिले। उनका स्वागत किया गया तथा उनपर विपुल पुष्पवर्षा की गयी। अनेक व्यक्ति इन पुष्पों को माथे से लगाकर स्मृतिस्वरूप रखने के लिए घर ले गये। अंग्रेजी के "आर्गनाइजर" साप्ताहिक ने इस अवसर पर विशेषांक निकालकर प्रसन्नता व्यक्त की। गुरुजी के आगमन के कारण सारे देश का ध्यान दिल्ली पर केन्द्रित होगया था। उनके दर्शनकर संघ पर से प्रतिबंध हटाने के संबंध में अपनी आतुरता व्यक्त करने के लिए पंजाब, राजस्थान, मध्य-भारत, उत्तर प्रदेश आदि से हजारों स्वयंसेवकों का तांता लग गया।

दिल्ली-आगमन के पहले ही दिन सायंकाल गुरुजी ने सरदार पटेल से भेंट की। उस समय बातचीत पूर्ण न हो सकने के कारण वे २३ अक्टूबर को पुनः उनसे मिले। इन दोनों भेंटों में सरदार पटेल ने यही आग्रह किया कि संघ कांग्रेस में विलीन हो जाय। इसके लिए गुरुजी का स्पष्ट इनकार हो जाने के बाद सरदार पटेल ने कहा कि मुझे प्रतिबंध उठाने के प्रश्न पर प्रांतीय सरकारों से राय लेनी पडेगी और इस निमित्त कुछ समय चाहिए। वस्तुतः यह प्रतिबंध उठाने से इनकार करने की ही भूमिका थी। आरोपों को वापस लेने की बात को कांग्रेस में सम्मिलित हो जाने के आग्रह से तथा प्रतिबंध उठाने की बात को प्रांतों से राय लेने की आवश्यकता बताकर सरदार पटेल ने अपनी सुप्रसिद्ध कूटनीतिज्ञता का ही परिचय दिया था। किन्तु गुरुजी ने स्पष्ट कहा कि चूंकि संघ पर लगाये गये आरोप असत्य सिद्ध हुए हैं, अतः या तो उन्हें वापस लेकर प्रतिबंध हटाया जाय अन्यथा संघ को न्यायालय में लाकर ये आरोप सिद्ध किये जायँ। इन दो भेंटों से यद्यपि कोई अंतिम उत्तर प्राप्त नहीं

हुआ, परंतु जो भी विचार-विनिमय हुआ, वह निराशाजनक नहीं था।

२३ अक्टूबर को ही सरदार पटेल बंबई चले गये तथा इधर गुरुजी के विविध कार्यक्रम जारी रहे। एक दिन उन्होंने महात्मा गांधी के सुपुत्र श्रीदेवदास गांधी से भेंटकर महात्माजी की हत्या के विषय में अपना हार्दिक दुःख व्यक्त किया। "ग्लोब" समाचार समिति तथा "स्टेट्समैन" के प्रतिनिधियों ने उनसे भेंट ली। इन भेंटों में प्रतिबंध उठवाने के लिए सरकार को कुछ आश्वासन देने का प्रश्न उपस्थित किया जाते ही गुरुजी ने कहा, "चूंकि संघ ने जरा सा भी अपराध नहीं किया है, सरकार को आश्वासन देने का कोई प्रश्न ही खडा नहीं होता।" "स्टेट्समैन" के संवाददाता से वार्तालाप करते हुए उन्होंने संघ को सताने की सरकारी नीति का बहुत चुभता हुआ मजाक उडाया था। उन्होंने कहा, "मैं दिल्ली में आकर लाला हंसराजजी के यहां ठहरता हूं, इसलिए सरकार ने उन्हें भी गिरफ्तार किया। अब कहीं ऐसा न हो कि गत अनेक वर्षों में मेरे देश-भ्रमण में सहायक होनेवाले रेलवे के गार्डों को भी वह गिरफ्तार करा ले।"

दिल्ली में वार्ता जारी होने तथा संघ पर से प्रतिबंध हटने की जरा भी परिस्थिति दिखायी देते ही पाकिस्तानी तथा कम्युनिस्ट पत्रों ने फिर शोर मचाना शुरू कर दिया। बंबई के "ब्लिज" ने तो यहाँ तक कहा कि प्रतिबंध हटा लेने से पुनः फरवरी के दृश्यों की पुनरावृत्ति होने लगेगी। उसकी हाँ में हाँ मिलाकर कुछ कांग्रेसियों तथा विधान सभाई सदस्यों ने भी "प्रतिबंध मत हटाइये" का शोर मचाना आरंभ कर दिया। सरकार ने भी मामले को लटकाये रखना तय किया तथा ३० अक्टूबर को सरदार पटेल ने गुरुजी को मौखिक संदेश भिजवाते हुए कहा कि

''इससे आगे विचार-विनिमय संभव नहीं, अतः आप नागपुर वापस चले यायं ।'' यह संदेश पाकर भी गुरुजी वहीं रहे। इसलिए ४ नवंबर को दिल्ली के जिलाधीश ने उनकी गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने का आदेश जारी कर दिया। आदेश-पत्र की पीठ पर ही खरा उत्तर लिखकर गुरुजीने उसे वापस भेज दिया। उन्होंने लिखा, ''इस आदेश को मैं पूर्णतः अनावश्यक समझता हूं। यह राज्य के न्यायप्रिय नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। इस आदेश को मानना सरकार के अन्यायपूर्ण तथा अनावश्यक कार्य में सहभागी बनना है। यही नहीं, अपितु इसको मानकर मैं स्वतंत्र देश के न्यायप्रिय नागरिक के कर्तव्य की भी अवेहलना करूंगा।''

सरदार पटेल का संदेश पाते ही गुरुजी ने हवा का रुख पहिचान लिया तथा समझ लिया कि अब कोई अन्य ही मार्ग अपनाना पडेगा। इससे पूर्व संघ की न्यायसंगत भूमिका सबके समक्ष रखने के लिए उन्होंने २ नवम्बर को पत्रकारों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें संदेहों का निराकरण करनेवाले दो पत्रक भी प्रकाशित किये। इनमें से एक पत्रक में उन्होंने संघ का ध्येय, चारित्र्य-निर्माण के लिए संघ का प्रयास, संघ पर लगाये गये आरोपों का मिथ्यात्व, राजनीतिक क्षेत्र में काल्पनिक प्रति-द्वंद्विता को समाप्त करने के लिए संघ पर लगाया गया प्रतिबंध आदि बातों का प्रतिपादन कर कुछ लोगों के इस सुझाव को एक-दम अस्वीकार कर दिया कि संघ को एक राजनीतिक दल के रूप में बदल दिया जाय। इस संबंध में उन्होंने कहा, ''संघ को राजनीतिक दल बनाने का यही अर्थ होगा कि राजनीतिक दलों के अतिरिक्त अन्य किन्हीं सांस्कृतिक और सात्विक कार्य करनेवाले दलों को देश में जीवित रहने का अधिकार नहीं है।

यह विचार मात्र असहनीय है तथा जिनके मन में यह आया हो, वह भी भूषणावह नहीं।" इसी पत्रक में यह कहते हुए कि अब संघ के लिए दो ही मार्ग बचे हैं कि या तो वह प्रतिबंध को ठुकरा दे अथवा प्रतिबंध हटने तक अन्य मार्गों से समाज की सेवा करे, उन्होंने संघ के स्वयंसेवकों को दूसरा मार्ग ही अप-नाने का सुझाव दिया।

दूसरे पत्रक में गुरुजी ने अनेक विषयों पर विचार प्रकट किये थे। यह कहते हुए कि संघ पर लगाये गये सब आरोप काल्पनिक हैं तथा संघ राजनीतिक दल नहीं है, उन्होंने लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्ष राज्य, राज्यध्वज, गुप्त कार्य, निजी सेना तथा सरकार उलटने के षडयंत्र आदि प्रश्नों का असंदिग्ध निराकरण किया। गुप्तता के आरोप का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा, "देश में महत्वपूर्ण संघटन का निर्माण होना, उसमें प्रचंड वृद्धि होना तथा उसका दीर्घकाल तक बना रहना आदि ऐसी बातें हैं, जो गुप्तता बरतकर संभव ही नहीं हो सकतीं।"

यद्यपि ये दोनों पत्रक जनता के मन को संदेहमुक्त करने के लिए पर्याप्त थे परंतु वे सरकार के लिए औंधे घडे पर पानी डाले जाने के समान ही सिद्ध हुए। नवम्बर के प्रारंभ में ही प्रधान मंत्री पं. नेहरू यूरोप की यात्रा से वापस लौटे तथा ५ नवम्बर को सरदार पटेल भी दिल्ली वापस पहुंच गये। अत: इन दोनों से भेंट करके पुन: आगे के कार्य में लगने के विचार से गुरुजी ने पत्र लिखकर दोनों से समय मांगा। इन पत्रों में उन्होंने सरकार से यह माँग की कि वह प्रमाण देकर अपने आरोपों को सिद्ध करे तथा अपने दिल्ली में ही रहने के समर्थन में लिखा कि चूंकि नागपुर में लगाये गये प्रतिबंध बिना शर्त हटा लिये गये थे, अत: दिल्ली से वापस जाने को कहने का कोई कारण नहीं है। पं नेहरू को लिखे पत्र का उत्तर १०

नवम्बर को प्राप्त हुआ, जिसमें भेंट का समय न होने की बात कही गयी तथा १२ नवम्बर को प्राप्त सरदार पटेल के उत्तर में प्रधान मंत्री के ही उत्तर को स्वीकार करते हुए तुरंत नागपुर लौट जाने की बात कही गयी थी।

आरंभ से ही गुरुजी की हार्दिक इच्छा थी कि संघर्ष न हो। इस कारण वे शांतिपूर्ण नीति ही बरतने के पक्ष में थे। परंतु इस पत्र से यह स्पष्ट होगया कि सरकार उनकी शांतता को उनकी दुर्बलता समझकर, जिस प्रकार बिल्ली चूहे को खेल खिलाती है, उस प्रकार का खेल खिलाना चाहती है। अतः उन्होंने आन्दोलन करने का निर्णय किया तथा अपने सहयोगियों को इसकी कल्पना भी दे दी। यह निर्णय करते हुए उन्हें अतीव दुःख हुआ और उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा कि "प्रेम असफल होने पर ही कटु कर्तव्य करना पडता है परंतु वह भी प्रेम से ही करना चाहिए।" २ नवम्बर के पत्रक में उन्होंने स्वयंसेवकों से विधायक समाज-सेवा का मार्ग अपनाने को कहा था। उस समय उन्हें आशा थी कि शीघ्र ही सरकार अपनी भूल पहिचान कर संघ से प्रतिबंध हटा लेगी। किन्तु यह आशा गलत सिद्ध होने के कारण उन्हें अपना विचार बदलना पडा।

लाला हंसराज गुप्त के निवासस्थान पर रात में सदा की भाँति गुरुजी बाचचीत कर रहे थे कि एक बजे के लगभग सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि "संघ के नेता का निवेदन स्वयंसेवकों की कृति के साथ असंगत होने के कारण प्रान्तीय सरकारों को प्रतिबंध उठा लेने का आदेश देना भारत सरकार के लिए असंभव है। प्रधान मंत्री ने इसी कारण श्रीगोळवलकर से भेंट करने से इनकार किया था।" रात में ही गुरुजी से पूछा गया कि "क्या आप इस विज्ञप्ति का उत्तर देना चाहेंगे?" इस पर उन्होंने कहा, "इसकी सभी बातों का उत्तर मैंने पहले दे दिया है, अतः फिर

से उत्तर देने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। इतना कहकर वे सोने के लिए चले गये। उनका १२ नवम्बर का संपूर्ण दिवस अत्यंत व्यस्त तथा आगामी आन्दोलन के आयोजन में बीता था, फिर भी उनके मन की प्रसन्नता कम नहीं हुई थी। आन्दोलन की रूपरेखा बनाते हुए उन्होंने मजाक में लाला हंसराजजी से कहा, "यहाँ रहकर मैं हमेशा आपको कष्ट देता ही हूँ, अब मालूम होता है कि जाते-जाते भी और बहुत सा कष्ट देने की योजना बना जाऊँगा।"

गुरुजी को सोते हुए कठिनाई से दो-तीन घण्टे बीते होंगे कि नयी दिल्ली के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट सदलबल वहाँ आ पहुँचे तथा केन्द्रीय गृह सचिव की आज्ञानुसार उन्होंने गुरुजी को हिरासत में ले लिया। इस गिरफ्तारी के लिए सरकार ने, पराधीनता-काल में "गुलामी का स्मारक" कहलानेवाले सन् १८१८ के "बंगाल स्टेट प्रिजनर्स एक्ट" का प्रयोग किया। प्रातः ही दिल्ली के हवाई अड्डे पर देखा गया कि पुलिस के पहरे में श्रीगुरुजी अत्यंत शांत मुद्रा में हवाई जहाज पर चढ रहे हैं। उनके पीछे उनकी शाल तथा अटैची लेकर प्रवास में उनके साथ रहने के लिए नियुक्त सरकारी अधिकारी भी जहाज में बैठा। हवाई जहाज के नागपुर पहुँचने तक सभी का अनुमान था कि उन्हें उनके घर पर ही स्थान-बद्ध किया जायगा किन्तु वहाँ भी पुलिस अधिकारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनसे पूर्वपरिचय होने के कारण नमस्कार का आदान-प्रदान हुआ तथा गुरुजी को लेकर मोटर कारागृह की ओर चल दी।

दिल्ली में गिरफ्तारी से पूर्व गुरुजी के मन की जो स्थिति थी, वह उनके द्वारा १० नवम्बर वाले पं. नेहरु के पत्र के उत्तर में भली भाँति प्रकट होती है। उस पत्र में अन्याय के प्रति गुरुजी का सात्विक क्रोध तथा विचारों की तर्कसंगतता व्यक्त होती है। इस पत्र से दिल्ली में हुई वार्ता के अंतरंग का पता लगता है, अतः ये दोनों पत्र नीचे दिये जा रहे हैं।

पं. नेहरू का पत्र

नयी दिल्ली,
१० नवम्बर १९४८

प्रिय श्रीगोळवलकर,

आपके ३ तथा ८ नवम्बर के पत्र प्राप्त हुए। देश के आन्तरिक मामले भारत सरकार के अधीन होते हैं, अतः रा. स्व. संघ का विषय भी उसी विभाग के अधीन है। मुझे पता है कि उस विभाग के अधिकारियों ने इस विषय में खूब ध्यान दिया है तथा प्रान्तीय सरकारों से भी सलाह ली है। मेरी सूचना है कि आप सीधे उसी विभाग से वार्ता करें। आपके पत्रों को भी मैं उनके पास भेज रहा हूँ।

गत एक वर्ष में केन्द्रीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारों के पास संघ के उद्देश्य एवं गतिविधियों के संबंध में ढेरों जानकारी आयी है, जो आपके द्वारा इस विषय पर प्रस्तुत वक्तव्य से मेल नहीं खाती। यही प्रतीत होता है कि आपके द्वारा घोषित उद्देश्यों की संघ के सही उद्देश्यों से तथा संघ से संबंधित लोगों द्वारा विभिन्न मार्गों तथा भिन्न भिन्न रूप से की गयी कार्रवाइयों से वास्तव में कोई संगति नहीं है। आपके सही उद्देश्य भारतीय संसद के निर्णयों तथा प्रस्तावित भारतीय संविधान की धाराओं से एकदम असंगत दिखायी देते हैं। हमारी जानकारी के अनुसार संघ की गतिविधियाँ राष्ट्रघातक तथा अनेक अवसरों पर उत्पात-पूर्ण तथा हिंसक होती हैं। अतः आप भी स्वीकार करेंगे कि निरे विपरीत बयान देने मात्र से कोई लाभ न होगा।

यूरोप से लौटने के बाद मैं बहुत व्यस्त हूँ। फिर भी आपसे मैं सहर्ष भेंट कर लेता, किन्तु मैं नहीं समझता कि ऐसी भेंटों से

कुछ लाभ हो सकता है। चूंकि यह मामला गृहविभाग के अधीन है, अतः यही उचित होगा कि आप उन्हीं के साथ वार्ता करें।

भवदीय
(ह.) जवाहरलाल नेहरू

श्रीगुरुजी द्वारा दिया गया उत्तर

२०, बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली,
१२ नवम्बर १९४८

मा. पं. जवाहरलाल नेहरू,

सादर वन्दे। मेरे पत्र का उत्तर आपने तुरंत ही १० नवम्बर को दे दिया, इस कृपा के लिये आभारी हूँ। आशा है, वह पत्र आपने पूर्ण विचार कर लेने के पश्चात् ही भेजा होगा। उस पत्र से जब कि यह साफ साफ दिखायी दे रहा है कि यह प्रश्न आपने अपने मस्तिष्क से ही निकाल दिया है, मैं आपसे पत्र-व्यवहार जारी न रखता किन्तु उस पत्र में कही गयी कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत हो रहा है। मैं सोचता हूँ कि आपका यह दावा कि रा. स्व. संघ के बारे में सरकार अधिक ज्ञान रखती है तथा संघ के बारे में उसके पास ढेरों जानकारी आयी है, अतिरंजित है। नौ मास से अधिक की अवधि से देश में रा. स्व. संघ का अस्तित्व ही नहीं रहा है। संघ के स्वयंसेवकों के व्यक्तिगत कार्य के बारे में कहना हो, तो सभी प्रमुख कार्यकर्ता इस अवधि में प्रायः लगातार कारागृह में ही रहे हैं। अतः वे कोई ऐसा कार्य करने को मुक्त ही नहीं थे, जिसके विषय में प्रतिकूल जानकारी मिल सकती हो। मुझे विश्वास है कि आप अपने पत्र की इस परस्परविरोधी बात पर विचार करेंगे।

दूसरे, प्राप्त जानकारी के आधार पर संघ की गतिविधियों को आपने राष्ट्रघातक कहा है। यह एक अति गंभीर आरोप

है तथा यह इतनी सहजता से किया भी नहीं जा सकता। इसके पीछे महत्वपूर्ण ठोस प्रमाणों का बल आवश्यक है। इस विषय में कोरी कल्पनाओं या रायों का कोई मूल्य नहीं। इस बात में कोई बल नहीं है कि जिन पर आरोप लगाये जा रहे हैं, उन लोगों को आरोपों की जानकारी तथा सफाई का अवसर दिये बिना सरकार केवल यह रट लगाती रहे कि उसके पास सबूत मौजूद हैं। अतः अच्छा हो कि हम यह बात स्वीकार कर लें कि "केवल जोरदार बयान देने से काम नहीं चलेगा।" निर्विवाद प्रमाणों के आधार पर आरोपों को सिद्ध करने का दायित्व पूर्ण किये बिना सरकार जबतक यह आरोप करती जायगी, तबतक हम भी यही कहते रहने को विवश होंगे कि ये आरोप झूठ हैं तथा हम पर अन्याय किया जा रहा है।

छोटे से अपराध के मामले में भी यदि कोई न्यायाधीश किसी प्रकार का प्रमाण दिये बिना, केवल यह कहकर ही कि "अभियुक्त के विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं," उसे दोषी ठहराये तो यह बात स्वतः न्यायाधीश के ही लिए कलंक सिद्ध होगी। अतः इसके बारे में क्या कहा जाय कि रंचमात्र भी प्रमाण प्रस्तुत किये बिना हमारे ऊपर इतने गंभीर आरोप किये जा रहे हैं। कहीं हम लोग उस जंगली युग में तो वापस नहीं पहुँच गये, जब किसी व्यक्ति या समूह की भावनाओं को न्याय्य समझते हुए या मजाक के तौर पर ही किसी व्यक्ति या गुट को प्राणदंड दे दिया जाता था? मनमानी पर आधारित यह कार्य या इसकी पद्धति अन्य किसी भी काल्पनिक कार्य की अपेक्षा क्या भारतीय संसद के सिद्धान्तों के विपरीत नहीं है?

मेरी जानकारी के अनुसार रा. स्व. संघ में ऐसी एक भी बात नहीं है, जो भारतीय संसद के लिए आक्षेपयोग्य या उसके निर्णयों के विपरीत हो। आप कहते हैं कि संघ का कार्य प्रस्तावित संविधान की धाराओं से असंगत है। इस संबंध में

मेरा मत है कि अच्छा होता यदि यह बात आप--यानी प्रधान मंत्री--के द्वारा न कही गयी होती। आपका यह तर्क उतना ही विलक्षण है, जितना कि एक-डेढ वर्ष बाद जन्म लेनेवाले बालक की हत्या के अभियोग में आज ही किसी को दंडित किया जाना।

और एक बात। आपने लिखा है कि हमारे घोषित उद्देश्य और कार्य से हमारा सही उद्देश्य और कार्य भिन्न है। किन्तु इस विषय में हम सभी लोग बिलकुल अज्ञ हैं। हम लोग अपने प्रकट उद्देश्यों को ही सच्चा मानते हैं तथा सदा अपने सच्चे उद्देश्यों को ही प्रकट किया करते हैं। वेश बदलकर वास्तविकता को छिपाना, मन में न हो वह बोलना या कभी न बोली गयी बात को मन में रखे रहना, वाणी तथा व्यवहार में मेल न रखने का प्रयास करते रहना आदि छलकपट के विविध पहलू तो चालबाजों तथा रंग बदलने के फन में उस्ताद राजनीतिज्ञों के ही गुण हैं--शायद हो सकता है कि वे गुण उन लोगों के लिए आवश्यक भी हों। परमात्मा की कृपा से हम लोग अपने समाज की, सांस्कृतिक क्षेत्र में सेवा करनेवाले विनम्र सेवक हैं तथा राजनीति से दूर रहकर देश में एकता निर्माण कर रहे हैं। घोषित और सही उद्देश्यों में असंगति बनाये रखने की कला के लिए हमारे कार्य में कोई स्थान नहीं है।

स्पष्ट लिखने के लिए क्षमा करें, अखंड रूप से किये जानेवाले अन्याय एवं ढेरों जानकारी की रट लगाते हुए भी उसे प्रकट करने का साहस न दिखा सकने तथा नित्य नये आरोप लगाते जानेवाली सरकार के रवैये ने मुझे उपर्युक्त रूप में अपने मन के विचार व्यक्त करने को बाध्य किया है। सरकार की ऐसी नीतियों से ऐसा दुर्दैवपूर्ण उदाहरण उपस्थित किया जायगा, जिसके कारण, मुझे भय है कि हमारा अभागा देश दलबंदी की अनेक कार्यवाहियों तथा भयंकर पारस्परिक अविश्वास में उलझ जायगा। हमारा गत सहस्र वर्षों का इतिहास

ऐसी ही कार्रवाइयों से भरा पडा है, जिनकी परिणति राष्ट्रीय पराजय तथा अध:पात में ही हुई है। आज जब दस शताब्दियों के बाद हम लोग फिर सिर उठा रहे हैं, मुझे विश्वास है कि आप अधिक बुद्धिमानी से काम लेकर देश के दुर्भाग्य की पुनरावृत्ति नहीं होने देंगे।

इतना ही बस। आपसे भेंट करने का अवसर मिलता तो मुझे अत्यधिक आनंद तथा समाधान हुआ होता। किन्तु प्रतीत होता है कि आप भेंट नहीं चाहते थे। हमारे मार्ग भिन्न हैं। माता की पूजा विभिन्न मार्गों से की जा सकती है। आज या कल वे मार्ग उसके पावन चरणों में पहुंचकर अवश्य एक हो जायेंगे। मैंने इस आशा से प्रयत्न किये कि हमारे कार्य एक दिशा में केन्द्रित होकर एकत्र हो जायँ। किन्तु शायद जगन्माता वैसा नहीं होने देना चाहती। मैं उसकी इच्छा सिर-आंखों पर चढाकर, आपके बारे में प्रेम तथा सद्भावपूर्वक जगन्माता द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने को तैयार हूं।

इस पत्र का विचार करके यदि उत्तर भेजेंगे, तो महत्कृपा होगी।

भवदीय

(ह.) **मा. स. गोळवलकर**

यह "महत्कृपा" दूसरी बार के कारावास के रूप में गुरुजी को तुरंत ही प्राप्त होगयी।

संघ का सत्याग्रह

श्रीगुरुजी की पुनः गिरफ्तारी से चारों ओर का वातावरण क्षुब्ध हो उठा। "सत्यमेव जयते" की घोषणा करनेवालों के द्वारा लाखों देशभक्तों की भावना पर कुठाराघात किया जाने से संपूर्ण देश धिक्कार कर उठा। अनेक समाचार-पत्रों ने सरकार की इस कार्रवाई की कडी आलोचना की। दिल्ली के कुछ पत्रों ने इस घटना पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखा, "पं. नेहरू को क्रिकेट का मैच देखने का अवकाश तो मिल जाता है, परंतु इतने बडे संघटन के नेता से मिलने का समय नहीं मिलता।" सरकार की धारणा थी कि ४ फरवरी १९४८ की विज्ञप्ति में संघ पर लगाये गये "अत्याचारी, हिंसक, डाकू, हत्यारे" आरोपों के कारण उसके स्वयंसेवक अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकेंगे और इस प्रकार उनका संघटन समाप्त हो जायगा। इस परिस्थिति में दो ही पर्याय संघ के पास थे—एक यह कि वैध उपायों का प्रयोग करते हुए प्रतिबंध उठवाकर अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेना अथवा सरदार पटेल के कहने के अनुसार कांग्रेस में मिल जाना।

सरकार चाहती थी कि संघ या तो कांग्रेस में मिल जाय, नहीं तो समाप्त हो जाय। यह एक जाल की तरह था कि एक ओर तो कांग्रेसी नेता संघ पर विविध आरोप लगाकर नतमस्तक करने का प्रयत्न करें, दूसरी ओर उन्हीं के अन्य साथी "कांग्रेस में आकर ही बचाव हो सकता है" का भय दिखाकर उन्हें अपने दल में फँसाने का प्रयत्न करें। "स्वयमेव मृगेन्द्रता" का आदर्श लेकर संपूर्ण संसार में हिन्दू संस्कृति का जयघोष बुलंद करने की

महत्वाकांक्षा से बढनेवाले स्वयंसेवकों को इस जाल में फँसने का आग्रह ऐसा था, जैसे पिंजरे में बंद शेर को घास खिलाने का प्रयत्न करना। दिल्ली – वार्ता की विफलता का अर्थ यही था कि उस केसरी ने घास खाने से इनकार कर दिया है।

अब श्रीगुरुजी की योजना के अनुसार सारे देश में आन्दोलन की तैयारियाँ होने लगीं। भारत के नगर – नगर तथा ग्राम – ग्राम में लक्षावधि युवकों के बीच उनका संदेश फैलने लगा तथा वे अपनी घर – गृहस्थी, काम – धंधों तथा पढाई – लिखाई को कुछ काल के लिए स्थगितकर आन्दोलन की तिथि की प्रतीक्षा करने लगे। गुरुजी के संदेश के शब्द – शब्द में उनका तेज, उनका आदर्श तथा आह्‌वान छिपा था, जिसने चमत्कारपूर्वक क्षण भर में सबको उठाकर खडा कर दिया। अभारतीय प्रवृत्तियों के कारण संघ पर किस भाँति अत्याचार किया जा रहा है, इसका वर्णन करते हुए अपने संदेश में उन्होंने कहा था,

"देश को अभारतीयता के प्रभाव तथा आन्तरिक दुष्टताओं से मुक्त करना है। माँ की सभी संतानों को स्वार्थी सत्ता द्वारा किये जानेवाले उनके अधिकारों के अपहरण से बचाना है। सबको स्वतंत्र, सुखपूर्ण तथा सम्मानयुक्त जीवन दिलाना है। और यह कार्य हमको ही करना है।

"कार्य श्रेष्ठ है, महान् है, ईश्वरीय है। इसकी पूर्ति में मानवता की उच्चतम अभिव्यक्ति तथा भगवान् का साक्षात्कार है।

"अतः उठो और दस मास से स्थगित अपना कार्य पुनरारंभ करो। दस मास की अकर्मण्यता की क्षति-पूर्ति करो। सत्य हमारे साथ है। अन्याय के समय सोते रहना उसका भागी बनकर पाप कमाना है। हम पाप का परिमार्जन करें। अन्तःकरण में न्यायपूर्ण सत्य के अधिष्ठाता श्रीपरमात्मा को दृढ विश्वासपूर्वक धारणकर समस्त प्राणशक्ति से भारत माता का ध्यान करते हुए उसकी

संतानों के प्रेम से प्रेरित होकर उठो, कार्य खडा करो, बढाओ और सफलता मिलने तक कहीं पर भी न रुकते हुए आगे बढ चलो।

"यह धर्म का अधर्म से, न्याय का अन्याय से, विशालता का क्षुद्रता से तथा स्नेह का दुष्टता से सामना है। विजय निश्चित है क्योंकि धर्म के साथ श्रीभगवान् और उनके साथ विजय रहती है।"

"अतः हृदयाकाश से जगदाकाश तक भारतमाता की जय-ध्वनि ललकार कर उठो और कार्य पूर्ण करके ही रहो।"

भारतमाता की जय ।।

संघ की शाखाएं पुनः आरंभ करने के लिए देशव्यापी आन्दोलन छेडा जानेवाला है, इसकी आहट सरकार ने भी पा ली थी। इस चर्चा से काँग्रेस के उच्च पदस्थ नेता मानो खिसिया गये। सरदार पटेल ने ५ दिसम्बर को ग्वालियर में कहा, "कुछ लोग बताते हैं कि संघ सत्याग्रह करने जा रहा है। किन्तु वे लोग कभी सत्याग्रह नहीं कर सकेंगे। उनका सत्याग्रह किसी दशा में सफल नहीं हो सकता, जिनके मन विकारों के वश में रहते हैं।" आगे उन्होंने कहा, "हमने उन्हें काँग्रेस में सम्मिलित हो जाने की सलाह देकर उनका हृदय-परिवर्तन करने का प्रयास किया किन्तु उन्होंने शक्ति आजमाने तथा देशद्रोह का मार्ग अपनाया है। मैं उन्हें चेतावनी देता हूँ कि इस ढंग की चुनौतियों का सामना करने के लिए हम तैयार हैं।"

सरकार की ओर से ऐसी धमकियाँ देना जारी था कि ९ दिसम्बर को सरकार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी के नेतृत्व में देश भर में शाखाएं प्रारंभ करने का आन्दोलन आरंभ होगया। "भारत माता की जय" तथा "संघ अमर रहे" के नारों से स्थान-स्थान पर लगनेवाली शाखाओं को देखने के लिए असंख्य जनता उमडने

लगी । भारत के सहस्रों नगरों तथा ग्रामों से अन्याय का प्रतिकार करने के लिए स्वयंसेवकों के जत्थे पर जत्थे निकलने लगे । लाखो दीवारें "संघ पर हुआ अन्याय दूर करो" की माँग से रँग गयीं तथा संघ पर लगाये गये आरोपों का खंडन करते हुए उसकी राष्ट्रीय भूमिका को प्रकट करनेवाले पर्चों तथा चौपतियों की तो मानो मूसलाधार वर्षा होने लगी । सरकार के मलीदे पर पलने-वाले समाचार-पत्रों को छोडकर अन्य समस्त जनता यही कहने लगी कि सरकार दिन-दहाडे संघ पर अत्याचार कर रही है ।

संघ के इस आन्दोलन में हिन्दू समाज की एकात्मता व्यक्त होती थी । आन्दोलन जाति, संप्रदाय, पंथ, भाषा, शिक्षा, धन, प्रान्त और व्यवसाय जैसे बाह्य भेदों की अवहेलना करता हुआ चलने लगा । हजारों युवकों ने नौकरियों पर लात मार दी, असंख्य छात्रों ने अध्ययन को स्थगित कर दिया । अस्सी हजार स्वयंसेवकों के हाथों की खनखनाती श्रृंखलाओं ने दसों दिशाओं को यह बता दिया कि भारत में किस भाँति नागरिक स्वतंत्रता का गला घोंटा जा रहा है ।

यह तो स्वाभाविक ही था कि देश भर में इस तरह एक साथ खडे हो उठनेवाले इस आन्दोलन के समाचार दुनिया भर के पत्रों में प्रकाशित होते । इन समाचारों को पढकर व्यवसाय के लिए या शिक्षा प्राप्त करने विदेशों में गये स्वयंसेवकों का भी मन बेचैन हो उठा । या तो आन्दोलन में भाग लेना तथा यदि यह असम्भव हो तो किसी न किसी प्रकार उसकी सहायता करना वे अपना कर्तव्य मानते थे । लंदन का एक व्यापारी अमृतसर आया और उसने सत्याग्रह में भाग लिया । सत्याग्रह करते समय उसने अपने भाषण में कहा, "मेरे समान ही इंग्लैंड के अनेक स्वयंसेवक सत्याग्रह में सम्मिलित होने को उत्सुक हैं परंतु उन्हें यहाँ आने के लिये पारपत्र प्राप्त करने में विलम्ब हो रहा हैं ।"

आन्दोलन की जानकारी अफ्रीका की "हिन्दू सन्देश" नामक पत्रिका ने वहाँ के भारतीय नागरिकों को दी। कुछ दिन बाद, २५, २६, तथा २७ दिसम्बर को नैरोबी के पास नवासा में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें पूर्वी अफ्रीका, युगांडा तथा टांगानिका की विभिन्न संस्थाओं के सवा सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित कर भारत सरकार से प्रार्थना की गयी कि वह संघ पर से प्रतिबंध हटा ले।

आन्दोलन को दबाने के लिए पंजाब में पुलिस ने स्वयंसेवकों को पकड–पकड कर कडाके की सर्दी में तालाबों, नदियों तथा नहरों में फेंका। कारागार ठसाठस भर जाने के कारण अनेक स्थानों पर स्वयंसेवकों को ७०–८० मील दूर छोडना शुरू किया। पंजाब में स्वयंसेवकों को अत्यंत कष्ट दिये गये। कारागार के नियमों के अनुसार मिलनेवाली सुविधा भी प्राप्त न होने के कारण १२०० स्वयंसेवकों ने लगातार ४० दिन तक भूख हडताल रखी। परतंत्र भारत की कारा में एक श्रीयतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से शासकों ने श्रेणी-विभाजन तथा राजबन्दियों को सभी आवश्यक सुविधाएं देना आरंभ कर दिया था परंतु स्वतंत्र भारत की कारा में १२०० युवकों के ४० लम्बे दिनों तक भूखे रहने का कोई परिणाम नहीं हुआ। फीरोजपुर की जेल में उन्हें २०–२० घंटे तक बिना पानी के रखा जाता था और दिन का भोजन दो बजे दोपहर तथा रात का भोजन २ बजे सुबह दिया जाता था। हावडा, जोधपुर, आगरा, बक्सर, बरेली, ग्वालियर आदि जेलों में उन पर लाठी–चार्ज भी किये गये। मद्रास प्रान्त में तो मोपलों के विशेष रूप से तैनात दस्तों ने सैकडों युवकों की हड्डी पसली एक कर दी। रामपुर में उनको हाथ–पैरों में कडे पहनाकर रखा गया तथा उनसे चक्कियाँ चलवायी गयीं। मद्रास के नृशंस लाठी–चार्ज पर संसद–सदस्य स्वामी श्रीवेंकटाचलम् चेट्टी ने एक वक्तव्य में कहा, "कांग्रेस सरकार

का यह अत्याचार दैव का महान् दुर्योग है।" उदार दल के प्रमुख श्री टी. आर. वेंकटराम शात्री ने भी एक वक्तव्य प्रकाशित कर सरकार की भर्त्सना की।

इसी समय जयपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था, जिसमें भाषण देते हुए प्रधान मंत्री पं. नेहरू ने आन्दोलन को "संघ के बच्चों का दुराग्रह" बताते हुए घोषणा की कि, "हम अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर आन्दोलम को दबा देंगे।" इतना ही नहीं, उन्होंने अपने मन की बात प्रकट करते हुए कहा, "हम इन लोगों को फिर कभी सिर नहीं उठाने देंगे।" सरदार पटेल ने भी नेहरूजी की घोषणा का समर्थन करते हुए कहा, "संघ के पास उसकी अपनी सेना थी। ऐसी सेना से राष्ट्र को खतरा होता है, अतः उसे नष्ट करना आवश्यक होता है।" इसके साथ ही उन्होंने अपनी पुरानी बात भी दोहरायी, "यदि संघ के स्वयंसेवकों के अंतःकरण में सचमुच ही देश के प्रति कोई भावना हो, तो उनको कांग्रेस में शामिल हो जाना चाहिए।"

नेताओं की इस बौखलाहट के कारण संघ का आन्दोलन जनता को और अधिक आकृष्ट करने लगा। ५ या १० स्वयंसेवकों के सत्याग्रह करते हुए किसी स्थान पर शाखा लगाते समय पाँच-पाँच हजार नागरिक एकत्र होकर संघ की जय बोलते थे। माताएं तथा बहिनें बडी संख्या में आकर राष्ट्र के लिए कारा का वरण करनेवाले अपने पुत्रों तथा भाइयों की आरती उतारती थीं तथा उनको तिलक करती थीं। उन पर पुष्पों की वर्षा होती थी तथा मेवा और मिठाई खिलायी जाती थी। सरकार के दमनचक्र से त्रस्त जनता का प्रबल मोर्चा संघ के आन्दोलन के पीछे खडा होगया था। लाखों मुखों से मांग की जाने लगी कि "संघ से प्रतिबंध हटाओ," "श्रीगुरुजी को रिहा करो।"

जनता ने स्थान-स्थान पर जुलूस निकाले। नागपुर तथा बंबई में महिलाओं के भी विराट् जुलूस निकले। नागपुर के जुलूस में श्रीगुरुजी की माताजी ने भी भाग लिया। संघ पर प्रतिबंध लगने के समय स्वार्थी नेताओं के द्वारा भडकाये जाने के कारण जो लोग स्वयंसेवकों को मारने तथा उनके घर जलाने को एकत्र होते थे, वे ही अब स्थिति साफ हो जाने पर मानो अपने पिछले कुकृत्यों का प्रायश्चित्त करने के लिए इन विराट् जुलूसों में सम्मिलित होकर संघ पर से प्रतिबंध हटाने की माँग करने लगे।

संघ का आन्दोलन संख्या, व्यापकता, अनुशासन तथा सौजन्य आदि सभी दृष्टियों से अद्वितीय था। एक भी स्थान ऐसा नहीं था, जहां स्वयंसेवकों के कारण रत्ती भर भी उपद्रव हुआ हो। सरकारी अत्याचारों से उत्तेजित होकर भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके इन गुणों को उन आलोचकों ने भी स्वीकार किया, जो पहले टीका करते थे। सत्याग्रह का ठेका अपने ही दल के पास माननेवाले नेताओं की भी आँखें खुल गयीं। उन्होंने यह भी देखा कि विभिन्न स्वतंत्रता–आन्दोलनों में भी जितने लोग जेल नहीं जाते थे, उसके दुगने और तिगुने सत्याग्रही इस आन्दोलन में जेल गये।

काशी के साम्प्रदायिकता-विरोधी सप्ताह का उद्घाटन करते हुए समाजवादी नेता श्रीजयप्रकाशनारायण ने कहा, "मैं संघ पर गांधी-हत्या का आरोप करना नहीं चाहता। संघ के स्वयंसेवकों की अनुशासनप्रियता, चारित्र्य, दृढता तथा प्रेम सचमुच ही प्रशंसनीय हैं। संघ ने समाज के लिए पर्याप्त ठोस काम किया है और इसीलिए वह अभीतक टिका है। कानून से हम उसे बंद नहीं कर सकेंगे।"

आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि संघ तथा सरकार के बीच समझौता कराने के लिए सात्विक देशभक्त आगे बढे

तथा उन्होंने भारत सरकार के गृह-विभाग से पत्र-व्यवहार आरंभ कर दिया। जनवरी के प्रारंभ में प्रसिद्ध मराठी पत्र "केसरी" के संपादक श्री ग. वि. केतकर को सरकार ने सिवनी जेल में जाकर श्रीगुरुजी से भेंट करने की अनुमति दे दी। तदनुसार वे दो बार, १२ तथा १९ जनवरी को श्रीगुरुजी से मिले। इन भेंटों का परिणाम यह निकला कि श्रीगुरुजी ने यह सोचकर कि इस वार्ता के फलस्वरूप कुछ परिणाम निकल सकता है, आन्दोलन स्थगित करने का निश्चय किया। १९ जनवरी को श्रीगुरुजी का तत्संबंधी वक्तव्य श्री. केतकर ने प्रकाशित किया तथा २२ जनवरी को बाहर रहकर समस्त आन्दोलन का सूत्र-संचालन करनेवाले प्राध्यापक महावीरजी ने भी आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा की।

श्रीगुरुजी के इस पग का चारों ओर स्वागत किया गया। नागपुर के अंग्रेजी दैनिक "हितवाद" ने लिखा, "नागरिक स्वतंत्रता का गला घोंटा जाने के विरुद्ध जनमत जाग्रत करने के आन्दोलन का ध्येय पूरा हो गया है।" पूना के "केसरी" ने लिखा, "गाँधीजी द्वारा प्रचलित सत्याग्रह के द्वारा मिलनेवाली नैतिक विजय संघ ने प्राप्त कर ली है और इस विजय के बल पर सरकार से वार्ता चलाकर प्रत्यक्ष लाभ भी प्राप्त किया जा सकेगा।" नागपुर के "तरुण भारत" ने लिखा, "गत डेढ़ मास के सत्याग्रह से सरकार जान गयी, है कि संघ का संघटन कितना देशव्यापी तथा प्रबल है तथा उसका अनुशासन और संयम कितना प्रशंसनीय है।" इससे भी आगे बढकर अंबाला के "ट्रिब्यून" ने लिखा, "अब अगला कदम रखना सरकार का काम है।" दिल्ली के "न्यूज क्रानिकिल" ने लिखा, "सरकार को इस एक ही बात पर कि सारे देश के हजारों व्यक्ति आन्दोलन में सम्मिलित हुए, गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।"

कलकत्ता के "स्टेट्समैन" ने २२ जनवरी के अपने संपादकीय में यह लिखकर कि "संघर्ष का ढंग भी संघ के नेताओं को धन्यवाद देने योग्य था"–सरकार को इस बात की अनुभूति करा दी कि संघ पर लगे प्रतिबंध के कारण देश के युवकों का बल किस प्रकार व्यर्थ जा रहा है। उसने लिखा था, "कानून भंग करने के आन्दोलन में भाग लेने के कारण आज भारत के अनेक अच्छे व्यक्तियों को जेल में डाल दिया गया है। वे सब देश की उत्तम सेवा करने में समर्थ हैं। उनके पास आदर्श है, शारीरिक बल है तथा सेवा के स्तुत्य कार्यों को करने के लिए स्वार्थत्याग की भावना भी है। उनमें से अनेकों को आधुनिक हिन्दू युवकों का गौरव कहा जा सकता है।"

इस प्रकार सर्वत्र अनुकूल वातावरण बन गया था। इस समय तक उदार दल के प्रसिद्ध नेता श्री टी. आर. वेंकटराम शास्त्री भी समझौता कराने के लिए आगे आ चुके थे।

सिवनी जेल में श्रीकेतकर से हुई गुरुजी की भेंट का इतिवृत्त गुरुजी के उन दिनों के जीवन पर प्रकाश डालता है। प्रथम भेंट के बारे में श्रीकेतकर ने लिखा है, "दोपहर को तीन बजे के लगभग मैं कारागार के उस भाग की ओर गया, जहाँ उन्हें रखा गया था। संभव है कि वह भाग विशेष बंदियों के लिए बनवाया गया हो। एक छोटे से अहाते के चारों ओर लगभग १५ फीट ऊँचा परकोटा था और बीच में, तीन चारपाइयों के बराबर एक कमरा था। इस परकोटे के द्वार की विरुद्ध दिशा में कमरे का द्वार था जिसमें से भीतर जाते ही कमरे का दृश्य दिखायी दिया। सामने की ओर उनके सोने की चारपाई तथा पुस्तकों की एक छोटी सी अलमारी थी। बीच में रस्सी बाँधकर प्रकाश कम करने के लिए, परदे की तरह चादर डाल दी गयी थी। बीच में एक फोल्डिंग आराम कुर्सी, एक तिपाई

और दो-तीन मामूली कुरसियाँ थीं, जो संभवतः हमेशा वहाँ न रखी जाती हों तथा किसी के भेंट करने आने पर ही डाल दी जाती होंगी। एक ओर पानी निकालने की मोरी थी और वहाँ पानी के बरतन रखे थे। कोने में मेज थी, जिस पर चाय आदि के लिए स्टोव तथा कुछ अन्य बरतन थे। मेरे आने की सूचना पाकर गुरुजी द्वार पर ही खडे थे। भेंट के समय सुपरिंटेन्डेंट, जेलर तथा खुफिया पुलिस के एक अधिकारी उपस्थित थे।

"मुझे प्रतीत हुआ कि गुरुजी के स्वास्थ्य पर कुछ असर हुआ है। मैंने कहा, 'लगता है, आप कुछ दुर्बल हो गये हैं?' मेरे कथन में औपचारिक चिंता ही थी क्योंकि उनके चेहरे पर न तो चिंता थी और न संत्रस्तता ही। मेरे प्रश्न पर हँसते हुए उन्होंने कहा, 'मेरा स्वास्थ्य क्षीण होने का तो कोई कारण नहीं। मुझे आपके बारे में ही चिंता है। दिल्ली तक प्रवास कर नागपुर होते हुए आप यहाँ आये हैं। कष्ट तो आपने ही उठाया है और आप पर उसका असर भी हुआ है। आप कमजोर तथा थके-माँदे दिखायी दे रहे हैं। अतः आप आराम कुर्सी पर बैठिये, मैं दूसरी पर बैठता हूँ।' मैं उनसे ही वहाँ बैठने को कह रहा था और वही योग्य तथा सुविधाजनक होगा, यही तर्क उपस्थित कर रहा था कि उन्होंने दोनों हाथों से मुझे पकडकर आराम कुर्सी पर बिठा ही तो दिया। मैं भी इस औपचारिकता में समय नष्ट न करने के लिए बैठ गया। उनके इस आग्रह में जरा भी औपचारिकता नहीं थी, अतः उन्हें यह अखरा भी नहीं होगा। किन्तु मैंने अपने साथियों के चेहरे पर यह भाव पाया कि मुझे सत्याग्रह करके उनको ही उसपर बिठाना चाहिए था। अस्तु।

"मैंने सत्याग्रह आरंभ होने से पहले ही उसे स्थागित करने के संबंध में उनको तार दिया था तथा बाद में पत्र भी लिखा था। अंतः मैंने उनसे पूछा 'आपने मेरे पत्र तथा तार से कुछ अन्य

विचार तो नहीं कर लिया ?' उन्होंने हँसकर कहा, 'इसका तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि आपका तार सरकार ने मुझे सत्याग्रह आरंभ होने के दस दिन बाद ही दिया।' इतने विलंब से, जबकि तार का अर्थ ही समाप्त हो गया, उसे देने का उल्लेख करते हुए गुरुजी सरकारी लाल फीताशाही के प्रति मुक्त हास्य कर उठे। मैंने उन्हें सरदार पटेल के साथ हुए पत्रों तथा तारों के विनिमय, श्रीमौलिचंद्र शर्मा द्वारा दिल्ली आने के निमंत्रण, दिल्ली की वार्ता, समाचारपत्रों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा किये गये मतप्रदर्शन आदि की सिलसिलेवार जानकारी दी। बाहर भूमिगत रहकर काम करनेवाले कार्यकताओं के साथ हुई बातचीत तथा काराओं में रहनेवाले कार्यकर्ताओं के अनुमानित मत आदि भी उन्हें विस्तारपूर्वक बताये।

"मेरे यह कहते ही कि सत्याग्रह के बारे में जनता तथा निष्पक्ष नेताओं की सहानुभूति के संबंध में तो आपनें समाचार–पत्रों में पढ ही लिया होगा, उन्होंने कहा, 'इधर कई दिनों से मुझे समाचार–पत्र मिले ही नहीं हैं।' इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें सन् १८१८ के कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया है, जिसके बारे में बनाये गये सरकारी नियमों में सरकारी व्यय से ही दो समाचार–पत्र भी देने का स्पष्ट उल्लेख है। इस कारण उन्होंने अपने घर के पते से रिडायरेक्ट होकर आनेवाले 'नागपुर टाइम्स,' 'हितवाद,' 'तरुण भारत' आदि पत्र बंद करवा दिये तथा नियमानुसार मिलनेवाले पत्रों की माँग की, परंतु उस माँग का क्या हुआ, यह भी पता नहीं चला। फिर उन्होंने कुछ विनोद से ही कहा, 'अच्छा ही हुआ, जो समाचार–पत्र नहीं मिलते क्योंकि उनके अभाव में मन को अखंड शांति मिलती है। व्यग्रता या बाधा उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रहती।'

"मैंने उनको आश्वासन देते हुए कहा कि संघ यदि सत्याग्रह स्थगित कर दे, तो बाहर के निष्पक्ष नेता मध्यस्थता करने का

यथासंभव प्रयत्न करेंगे तथा उन्हें ऐसे नेताओं के नाम भी बताये। किन्तु यह आश्वासन उन्हें सरकारी मार्ग से ही मिले, इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर यह तय हुआ कि मैं यह आश्वासन देनेवाला पत्र सरकारी मार्ग से ही भेजूं। आगे चलकर मेरा पत्र उन तक पहुँचाने से सरकार ने इनकार कर दिया। इस संबंध में गुरुजी ने पहले ही कहा था कि 'ऐसा इनकार अवश्य किया जायगा और डाक द्वारा भेजा जाने पर भी मुझे नहीं दिया जायगा।' उनके दोनों अनुमान सही निकले।————ऐसी अनिश्चित अवस्था में पहली भेंट समाप्त हुई।"

एक सप्ताह बाद हुई दूसरी भेंट के बारे में उन्होंने लिखा है, "पहले के समान ही इस बार भी बातचीत का बहुलांश मेरे ही जिम्मे था। वे सुनते रहते और कभी कभी एकाध प्रश्न करते थे। अपनी दिल्ली-यात्रा का वर्णन सुनाकर मैंने कहा कि सत्याग्रह स्थगित करने के विषय में आपको एक वक्तव्य लिखना होगा। तब वे आलमारी से लिखने का सामान ले आये। मैंने उन्हें पहले से ही तैयार किया हुआ प्रारूप दिखाया, जिसे उन्होंने ध्यानपूर्वक पढा और उसके आधार पर दूसरा प्रारूप तैयार किया। विचार-विनिमय के बाद प्रारूप सम्मत होने पर उन्होंने कहा, 'अब इस पर से पुनः अच्छी तरह लिख लीजियेगा। प्रकाशन के लिए दी जानेवाली पांडुलिपि में एक भी काट-पीट नहीं होनी चाहिए।' गुरुजी को इस समय स्वर्गीय डॉक्टर हेडगेवारजी की याद हो आयी और उन्होंने बताया कि वे इस बात में अत्यंत सतर्कता बरतते थे।

" शुरू में मैंने उनसे मजाक में कहा था, 'दिल्ली की बाधा तो पार कर ली, अब सिवनी की उससे भी बडी बाधा पार करनी है।' अब, जब सत्याग्रह स्थगित करने की बात निश्चित हो गयी, तब उन्होंने हंसते हुए कहा, ' Instead of

a hurdle you have got a walk over' (अर्थात् आप तो बिना बाधा के, सीधे चलकर ही सफल हो गये)।

"लिखने के लिए वे अपना संदूक उठा लाये थे। उसमें से उन्होंने मुझे वह कार्ड दिखाया, जो गिरफ्तार होकर दिल्ली से विमान द्वारा आते समय उसके हैंडिल में बांधा गया था। श्रीगुरुजी का नाम गुप्त रखने के लिए, जो पुलिस अधिकारी उनके साथ था, केवल उसी का नाम प्रकट किया गया तथा गुरुजी के बक्स के हैंडिल में लगे कार्ड पर केवल 'एक अन्य व्यक्ति' लिखा गया था। ये सब बातें बताकर उन्होंने कहा कि स्मृति के रूप में यह कार्ड वैसा ही रहने दिया है। जब मैं चलने को उद्यत हुआ, तब हंसते हुए वे यह जताना नहीं भूले कि वे विदा करने के लिए द्वार तक नहीं जा सकते।"

आन्दोलन वापस लिया जाने के बाद उदार दल के अध्यक्ष तथा एक भूतपूर्व मंत्रिमंडल के सदस्य श्री टी. आर. वेंकटराम शास्त्री भी मध्यस्थता के लिए आगे बढे। सन् १९२४ के बाद मद्रास प्रांत के महाधिवक्ता के रूप में उन्होंने बहुत नाम कमाया था। पक्षपातहीनता, निस्पृहता, ज्ञान तथा सेवा भाव के कारण वे "दक्षिण के भीष्म" कहलाते थे। उनके द्वारा यह काम हाथ में लिया जाते ही प्रतीत होने लगा कि अब संघ पर लगा ग्रहण समाप्त हो जायगा। १५ मार्च १९४९ से पहले उन्होंने कारागृह में दो बार श्रीगुरुजी से भेंट की। पहली भेंट में उन्होंने गुरुजी की भूमिका को समझ लिया तथा इस बात को भलीभांति जानकर ही कि २ नवम्बर १९४८ को गुरुजी द्वारा प्रकाशित वक्तव्य सरकारी आरोपों का खंडन करने में समर्थ है, वे जेल से लौटे। इस भेंट में निश्चित हुआ कि बाहर रहे कार्यकर्ताओं की सहायता से शास्त्रीजी संघ का अलिखित विधान लिपिबद्ध करें। इस प्रकार संविधान लेखबद्ध हो जाने

के पश्चात् हुई दूसरी भेंट में गुरुजी ने उसे पढा तथा उसे सरकार के पास भेजने की अनुमति दी। तदनुसार शास्त्रीजी ने वह संविधान सरकार के पास भेजा परंतु गृह विभाग ने, यह कहकर कि वह श्रीगुरुजी द्वारा ही भेजा जाना चाहिए, उसे लौटा दिया। अब शास्त्रीजी ने वह संविधान मध्यप्रदेश सरकार के माध्यम से २७ मार्च को श्रीगुरुजी को भेजा और सरकारी "चुस्ती" के फलस्वरूप वह ९ अप्रैल को श्रीगुरुजी को मिला। शास्त्रीजी की सूचना के अनुसार अप्रैल के मध्य में श्रीगुरुजी ने उसे पुनः भारत सरकार के पास भेजा तथा यह समाचार शास्त्रीजी को भी भेज दिया, जो उन्हें ५ मई को प्राप्त हुआ। शास्त्रीजी ने सरकार की यह विलंब करने की नीति को यह समझकर कि सरकार उनकी मध्यस्थता नहीं चाहती, कुछ दिनों के लिए चुप्पी साध ली।

उस संविधान पर सरकार ने नुक्ताचीनी शुरू की और डॉ. हेडगेवार द्वारा श्रीगुरुजी की सरसंघचालक के रूप में की गयी नियुक्ति को फासिस्ट बताया तथा संघ में बच्चों के प्रवेश को घातक माना। ये सब आपत्तियाँ गुरुजी को बतायी गयीं। गुरुजी ने उन आपत्तियों का उत्तर देते हुए एक विस्तृत पत्र सरकार को भेजा। सरकार ने यह पत्र शास्त्रीजी के पास भेज दिया। शास्त्रीजी को आशा थी कि संविधान दिया जाने के बाद सरकार प्रतिबंध उठा लेगी, परंतु जब इस दिशा में उन्होंने किसी प्रकार की कोई हलचल नहीं देखी, तब जनता के सामने सारी स्थिति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से एक विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित किया। उन्होंने संघ पर लगाये आरोपों को असत्य बताते हुए लिखा था, "मैं मानता हूँ कि जो संदेह किये गये थे, उनकी निराधारिता स्वीकार कर ली गयी है।" सरसंघचालक की नियुक्ति के प्रश्न का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा, "किसी राज्य या सरकार को फासिस्ट कहा जा सकता है, परंतु संघ जैसी संस्था को,

जिसका सदस्य बनना किसी के लिए अनिवार्य नहीं है, फासिस्ट नहीं कहा जा सकता।" अन्य संस्थाओं में भी प्रमुखों की नियुक्तियाँ ही की जाती हैं, यह बताते हुए उन्होंने लिखा, "किसी भी दृष्टि से सोचने पर, प्रमुख की नियुक्ति केवल संस्था के अनुयायियों का ही प्रश्न है और बाहर के लोग इस विषय में संस्था पर कोई बात लाद नहीं सकते।"

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कि संघ के लोग यद्यपि संविधान में संघ को राजनीति से अलिप्त संस्था बता रहे हैं, तथापि वे एक ही रात में राजनीति में कूद सकते हैं, शास्त्रीजी ने लिखा, "मैं कहता हूँ कि वे लोग अवश्य कूद सकते हैं और इसको अपराध नहीं माना जा सकता।" वक्तव्य के अंत में सरकार से यह प्रार्थना करते हुए कि वह शांतिपूर्वक विचार करके संघ पर से प्रतिबंध हटा ले, शास्त्रीजी ने लिखा कि "प्रतिबंध बनाये रखकर संघ के लोगों को कारा में ही रोके रहना न न्यायसंगत है, न बुद्धिमत्तापूर्ण है और न हितावह ही है।"

यह वक्तव्य प्रकाशित होने से पूर्व ही श्रीगुरुजी को सिवनी से सवा सौ मील दूर बेतूल की कुख्यात जेल में ले जाया गया। बेतूल ले जाते समय तथा वहाँ की जेल में भी उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाये गये, जिससे उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव पडा। यहाँ उन्हें ऐसी रोटियाँ दी जाती थीं, जो पानी में भिगोकर ही पेट में उतारी जा सकती थीं। जिस कमरे में वे रखे गये, वह भी ठण्डा, सीलनभरा तथा गंदा था। वहाँ का प्रबंध भी बहुत खराब था।

इन बातों की ओर सर्वप्रथम "हितवाद" ने जनता का ध्यान खींचा। १३ जून को पूना के दैनिक "भारत" के प्रतिनिधि "हितवाद" के सम्पादक श्रीमणि से मिले। उस समय भी उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा, "हमारे पत्र ने श्रीगोळवल-

उदारमतवादी मध्यस्थ – 'टी. आर व्ही.'

मुखर्जी के साथ दिल्लीमें...(१९५२)

कर को सिवनी जेल में आवश्यक सुविधाएं न दी जाने के समाचार सर्वप्रथम प्रकाशित किये और शायद इससे चिढकर ही सरकार ने उन्हें बेतूल भेज दिया। किन्तु यह स्थानांतर उन्हें कुए से निकाल-कर खाई में ढकेलने के समान ही हुआ।" श्रीमणि ने यह भी कहा कि, "गुरुजी को दिया जानेवाला १००) मासिक भत्ता एक-दम अनुचित और अपमान-जनक है।" उन्होंने कहा, "सन् १८१८ के कानून के अनुसार बंदी बनाये गये व्यक्ति के साथ सरकार को उसके बडप्पन के हिसाब से ही व्यवहार करना चाहिए तथा बंदी ही नहीं, उसके परिवार का सारा व्यय भी वहन करना चाहिए।"

उन्होंने यह भी कहा, "पिछले आन्दोलन के समय श्रीशरच्चंद्र बोस को इस कानून के अन्तर्गत स्थानबद्ध किया गया था। उस समय उनको व्यय के लिए १५००) मासिक मिला करते थे तथा सरकार उनके परिवार का भरण-पोषण भी करती थी। इस तरह एक नेता के लिए सरकार ४ हजार रु. प्रतिमास व्यय करती थी। स्वतंत्र भारत की सरकार को भी उसी के अनुसार व्यय करना चाहिए।"

इन सब कष्टों के कारण श्रीगुरुजी का स्वास्थ्य यद्यपि गिर गया था परंतु अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने न कुछ कहा और न कोई माँग ही की। वे सब कष्टों को चुपचाप सहन करते रहे।

प्रतिबंध उठने से पूर्व वार्ता के लिए पं. मौलिचंद्र शर्मा बेतूल गये थे। उस समय उन्होंने श्रीगुरुजी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया, वह इन सब बातों पर प्रकाश डालता है। उन्होंने बताया कि, "जेल की एक साधारण बैरक में एक बिना गद्देदार मूंज की चारपाई थी। यह राजबंदी गद्दे के स्थान पर एक दोहरा कंबल बिछाये था, जिसके छोटे होने के कारण पैरों के नीचे का भाग खुला ही रह जाता था। न कोई दरी थी, न

चटाई और जमीन ठण्डी तथा सीलन से भरी थी। कडी सीट वाली दो कुर्सियाँ, बाबा आदम के जमाने की छोटी सी मेज, एक स्टूल, एक लटकनेवाली तारों की डलिया, जिसपर रखे खाद्य-पदार्थों पर मक्खियां स्वतंत्रतापूर्वक भिनक सकती थीं और एक लकडी का पट्टा, यही उस बैरक का फर्नीचर था। एक स्टोव, एक लालटेन, जो पुरानी प्रतीत हो रही थी, खूंटी पर टँगी लाल तौलिया तथा हाथ से धुली एक कमीज, बस इतनी वस्तुओं से वह चित्र पूरा हो जाता था।"

इस जेल में श्रीगुरुजी के माता-पिता १८ जून को उनसे भेंट करने गये थे। तब गुरुजी की दशा देखकर उनका हृदय रो पडा। बाहर आने के बाद ताईजी ने बतलाया, "संघ-कार्य की प्रचंड व्याप्ति तथा अखंड प्रचार के परिश्रम के कारण भी उसका स्वास्थ्य इतना खराब नहीं हुआ, जितना अब इस जेल में हो गया है।" इस समाचार से संपूर्ण देश में चिंता की लहर दौड गयी तथा उनके स्वास्थ्य की पूछ-ताछ करनेवाले पत्रों और तारों की भरमार सरकार पर होने लगी। इसपर ७ जुलाई को मध्यप्रदेश सरकार ने घोषित किया कि उनके स्वास्थ्य की दशा देखने के लिए न्यायमूर्ति मंगलमूर्ति को नियुक्त किया गया है। इसके बारे में बताते हुए बाद में गुरुजी ने कहा, "मेरा स्वास्थ्य देखने के लिए उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश को भेजा गया था। पहली बार मैंने जाना कि न्यायाधीश भी स्वास्थ्य की परीक्षा कर सकता है।"

सरकार की उपेक्षा, गुरुजी पर अत्याचार तथा शास्त्रीजी जैसे विधिज्ञ के प्रयत्नों की असफलता के कारण जेलों से लौटे हुए स्वयंसेवक तथा संघ के हितचिंतक एकदम आगबबूला हो उठे थे। उनके मन में यह प्रश्न उठने लगा कि यदि सरकार प्रति-बंध उठाने को तैयार न हो तो जिस राजनीति को आजतक

आग्रहपूर्वक अस्वीकार ही किया है, उसे ही अपनाकर सरकार पर दबाव डालने की आवश्यकता तो नहीं पडेगी ?

उस समय यह प्रश्न संघ के हितचिंतकों द्वारा भी प्रकट किया जाने लगा था। अनेक समाचार-पत्र यह मत प्रकट करने लगे थे कि संघ को एक स्वतंत्र दल बनाकर राजनीति में आ जाना चाहिए। इलाहाबाद के "क्राइसिस" तथा नागपुर के "हितवाद" ने इस बात पर विशेष बल दिया था। "हितवाद" के संपादक ने पूना में कहा था कि, "संघ के स्वयंसेवकों को आर्थिक समस्याओं पर आधारित प्रगतिशील समाजवादी कार्यक्रम की घोषणाकर अपने आपको राजनीतिक दल में रूपान्तरित कर लेना चाहिए। हिन्दू समाज का सांस्कृतिक कार्य भी सुचारु रूप से करने के लिए राजसत्ता पर अधिकार आवश्यक है।" इस राजनीतिक दल के शक्तिशाली हो सकने की संभावना पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, "संघ के स्वयंसेवकों में वह निष्ठा तथा अनुशासन पाया जाता है, जो कम्युनिस्टों में भी नहीं होता। उनकी नियमितता, चारित्र्य तथा देशभक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ है। मध्यप्रदेश के एक मंत्री ने मुझे बताया था कि संघ के सत्याग्रह में कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक किसी भी स्वयंसेवक के घर में तलाशी लेनेपर एक भी आपत्तिजनक वस्तु नहीं मिली। स्वयंसेवकों के इस निर्मल चरित्र को देखकर मैं सोचता हूँ कि संघ का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल है।"

जब बाहर इस प्रकार के विचार प्रदर्शित किये जा रहे थे तब कारागृह में गुरुजी के मन की भूमिका ज्यों की त्यों थी। उनके विचार यही थे कि संघ पर लगे आरोपों का निराकरण न करके किसी अन्य मार्ग को अपनाना अन्ततोगत्वा लाभप्रद नहीं होगा। उनका कहना था कि डंडे के बल पर संघ को और अधिक दबाये रखना राजसत्ता के लिए भी संभव नहीं होगा। उनका मन कह रहा था कि वह समय अब दूर नहीं है।

इसके अतिरिक्त उनको यह भी निश्चय था कि संघ-कार्य एकमेवाद्वितीय है तथा अन्य कोई भी कार्य उसकी स्थान–पूर्ति नहीं कर सकता। संघ को पुनरारंभ करने के लिए राजनीति का आश्रय लेना भी वे उचित नहीं मानते थे तथा उनका कहना था कि अपने निश्चय की सामर्थ्य से ही अन्याय का निवारण कराना इष्ट है।

संघ के निष्कलंक कार्य की लोकतंत्र में इस तरह दुर्दशा होना वस्तुतः लोकतंत्र का ही कलंक था। लंदन के "वर्ड" नामक पत्र ने इस प्रकार नागरिक स्वाधीनता के अपहरण की आलोचना करते हुए लिखा, "जिस ब्रिटिश राज्य की सब भाँति निन्दा की जाती थी, उसमें भी नागरिक स्वतंत्रता का गला नेहरू के इस फासिस्ट राज्य की तरह कहीं भी घोंटा गया हो, यह हमें याद नहीं आता।"

कदाचित् नेहरूजी के राज्य की यह सबसे कडी आलोचना है, जिसे पढकर संघ के स्वयंसेवकों की गर्दन भी लज्जा से झुक गयी। दलगत स्वार्थ के लिए कोई कितना नीचे जाकर, कितना क्षुद्र व्यवहार कर सकता है, इसका यह उदाहरण है।

जुलाई के प्रारंभ में ऐसी परिस्थिति निर्माण हो गयी कि सरकार को भी भय लगने लगा कि अब या तो राजनीतिक दल बनाया जायगा, अन्यथा लोगों की भावनाएं कोई नया आन्दोलन खडा कर देंगी। इसी समय १० जुलाई को शास्त्रीजी ने भी वक्तव्य प्रकाशितकर सरकार को यथायोग्य चेतावनी देने का प्रयत्न किया।

सौभाग्य से सरकार ने भी जनमत का अनुमान लगा लिया था। इसी कारण अब उसने स्वतः मध्य प्रदेश के गृहमंत्री पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र तथा पं. मौलिचद्र शर्मा को आगे कर पुनः वार्ता आरंभ की। १२ जुलाई को सायंकाल रेडियो से यह घोषणा प्रसारित की गयी कि संघ पर से प्रतिबंध हटा लिया गया है।

जैसा श्रीगुरुजी ने कहा था, जिस पक्षांध सत्ता ने प्रतिबंध लगाया था, उसी ने अब स्वतः उसे हटा भी लिया। यह समाचार पाते ही नागरिक–स्वतंत्रता की इस सफलता से लाखों हृदय आनंद से उछलने लगे। स्थान स्थानपर मिठाइयाँ बाँटी गयीं। संघ तथा श्रीगुरुजी की जयकारों से भारत के गिरि–गह्वर तथा नद–निर्झर भी गूंज उठे। इस घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि सत्य को डंडों के बल से दबाया नहीं जा सकता। वह तो सूर्य है, जो अंधकार के दिग्दिगंतव्यापी घेरे को तोडकर प्रकट होता ही है।

प्रतिबंध की अग्निपरीक्षा से सफलतापूर्वक बाहर निकलने पर संघ का सुवर्ण अधिकाधिक निखर ही उठा।

सत्कार-पर्व

१३ जुलाई को प्रात:काल ६ बजे श्रीगुरुजी बेतूल जेल से मुक्त कर दिये गये। उस क्षण से आगामी ३-४ मास तक भारत की कोटि-कोटि जनता ने उनका जैसा अतिविराट् तथा हार्दिक स्वागत किया, उसका उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। मुक्ति के पश्चात् दिये गये वक्तव्य में उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये, वे उनकी अतिशय उदारता तथा सहिष्णु वृत्ति के ही परिचायक हैं। लगातार अठारह मास तक स्वत: अपने तथा संस्था के लाखों स्वयंसेवकों के ऊपर पडे अपार कष्टों तथा अपमानों को सहकर भी इस अवसर पर उन्होंने लेश मात्र भी कटुता व्यक्त नहीं की और न इस अवसर को उन्होंने अपने प्रचार का साधन ही बनाया। अत्यंत धैर्यपूर्वक तथा हिमालयसदृश महानता से उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा, "संघ-बंदी के इस मामले को अब यहीं समाप्त कर दीजिये। जिनके बारे में लगता हो कि उन्होंने आप पर अन्याय किया है, उनके प्रति मन में कटुता का अंश भी मत आने दीजिये। दाँत यदि जीभ को काट ले या टाँग टाँग से लड पडे, तो न हम उन दाँतों को गिरा देते हैं, और न पैर को काट डालते हैं। जिन्होंने हम पर अन्याय किया, वे भी अपने ही हैं, अत: बीती को बिसारकर हमें क्षमाशीलता प्रकट करनी चाहिए।"

रिहाई के बाद १३ जुलाई को दोपहर की ग्रांड ट्रंक एक्स-प्रेस से श्रीगुरुजी नागपुर आये। स्टेशन पर ३० हजार जनता ने गगनभेदी जयकार से उनका स्वागत किया। तुमुल हर्षनाद के बीच उनके पिता, श्रीभाऊजी ने उन्हें माला पहिनायी। सर-

कार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी ने उनका अनुसरण किया। सर्वत्र प्रफुल्लता का साम्राज्य था। तभी श्रीवेंकटराम शास्त्री का तार पहुँचा, जिसमें लिखा था, "All is well that ends well."

नागपुर आने के बाद उनके ऊपर संपूर्ण देश से अभिनंदन-पत्रों तथा तारों की वर्षा सी होने लगी। उनमें राज्यकर्ताओं से लेकर साधारण नागरिकों तक तथा संघ को गालियाँ देनेवालों से उसका गुणगान करनेवालों तक, सभी ने प्रसन्नता व्यक्त की थी। स्थान-स्थान पर हर्षोत्सव मनाये गये। पूना के स्वयंसेवकों ने तो २०-२५ स्थानों पर श्रीसत्यनारायण की कथा करायी, जिसमें नगर के प्राय: ५० हजार नागरिकों ने भाग लिया।

डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने अपने पत्र में लिखा था, "मुझे विश्वास है कि अब देश की सभी सात्विक शक्तियों को एक करने के लिए वातावरण निर्माण किया जा सकता है।" डा. जयकर ने लिखा, "मुझे विश्वास है कि संघ को एक दिव्य कार्य करना है तथा वह सरकार के साथ संघर्ष हुए बिना भी किया जा सकता है।"

समाचार-पत्र भी अभिनंदन करने में किसी से पीछे नहीं रहे। कलकत्ता के " स्टेट्समैन " ने हार्दिकता से प्रतिबंध हटाये जाने का स्वागत करते हुए लिखा, " संघ पर लगा प्रतिबंध उठाया जाना राष्ट्र के स्वास्थ्य–लाभ का लक्षण है।"

सर्वत्र जब ऐसा उत्साह छाया था, तब गुरुजी का मन उन सब हितचिंतकों से मिलकर कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए व्याकुल था, जिन्होंने प्रतिबंध हटवाने में सहायता की थी। उन्होंने सर्वश्री वेंकटराम शास्त्री, ग. वि. केतकर, सेनापति बापट, डॉ. भगवानदास, बाबासाहब खापर्डे, सरदार किसनसिंह (सरदार भगतसिंह के पिता), ना. म. जोशी, गंगाधरराव देशपांडे आदि महानुभावों तथा केन्द्रीय मन्त्रियों को पत्र लिखे।

१७ जुलाई को नागपुर का केन्द्रीय कार्यालय, डॉ. हेडगेवार भवन, सरकार ने संघ को वापस दे दिया और उसी दिन गुरुजी ने मोहिते संघ-स्थान पर शाखा का पुनरारंभ किया। इस अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा, " नींद पूरी करके जागनेवाला व्यक्ति अधिक उत्साह से काम में जुट जाता है। उसी भांति हमें भी समाज की विभेदकारी, संकुचिततापूर्ण तथा अन्य परिस्थितियों को दूर करने के लिए दूने उत्साह से उसी कार्य का प्रारंभ करना चाहिए, जिसे हम पहले भी कर रहे थे। यह कार्य करते समय अपने मन में किसी के भी प्रति द्वेषबुद्धि नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।"

नागपुर के वकील संघ ने, जिसमें गुरुजी भी कुछ दिन रहे थे, अपने पुराने सहकारी का सत्कार किया। उस समारोह में, व्यष्टि को समष्टि सें किस प्रकार समरस हो जाना चाहिए, इसकी चर्चा करते हुए गुरुजी ने कहा, " पानी में नमक का डेला छोडते ही वह घुल जाता है। उसका पृथक् अस्तित्व बाकी नहीं रहता किन्तु प्रत्येक जलविन्दु में उसका तीव्र अनुभव किया जाता है। व्यष्टि की समष्टि के साथ ऐसी ही अवस्था होनी चाहिए।"

१९ जुलाई को उन्होंने मद्रास, पूना तथा बंबई के लिए प्रस्थान किया। इसके दो ही दिन बाद गृह मंत्री सरदार पटेल का पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें अपने अस्वस्थ होने की बात कहकर उन्होंने लिखा था, " किन्तु देश की दशा देखते हुए न तो आराम करने की इच्छा है और न अवकाश है। फिर भी आशा है कि आप जब यहां आयेंगे, मेरा स्वास्थ्य इस समय से कुछ अच्छा ही मिलेगा। संघ से प्रतिबंध उठा लेने पर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, उसका परिमाण तो वे ही लोग बता सकते हैं, जो उस समय मेरे पास थे।......मैं आपको अपनी शुभकामनाएं भेजता हूं।"

श्रीगुरुजी के मद्रास के प्रवास-मार्ग में वर्धा, बडौदा, चाँदा बल्हारशाह, विजयवाडा आदि स्टेशन पडते थे, जहाँ हजारों नागरिकों तथा स्वयंसेवकों ने उनका दर्शन किया तथा पुष्प-वृष्टि कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। वर्धा स्टेशन पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा, "अठारह मास के प्रतिबंध के कारण काफी क्षति हुई है किन्तु वह क्षति मेरी या संघ की न होकर अखिल भारत की क्षति है।" प्रत्येक स्टेशन पर स्वयंसेवकों के आग्रह के कारण गुरुजी को थोडा-बहुत भाषण करना ही पडता था।

मद्रास स्टेशन पर प्रचंड जयजयकार के मध्य उनका स्वागत किया गया। हजारों नागरिक उपस्थित थे। मद्रास जाने में उनका प्रमुख उद्देश्य श्रीवेंकटराम शास्त्री से भेंट करना था। उनके निवासस्थान पर जाकर श्रीगुरुजी उनसे मिले तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

मद्रास की सभा में श्रीगुरुजी ने अत्यंत ओजपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने कहा, "भौतिक विज्ञान में अग्रसर पश्चिमी राष्ट्रों को भारत का मार्गदर्शन पाने की आवश्यकता है, जिसके बदले में भारत को भौतिक सुधारों का उनका तंत्र आत्मसात् करना चाहिए।" स्वयंसेवकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा "प्राचीन भारतीय परंपरा के उत्थान के लिए कटिबद्ध संघ को अपना स्वरूप पूर्णतः शुद्ध तथा पौरुषयुक्त रखना चाहिए। तभी वह सबके आदर का पात्र बन सकेगा। ऐसे विशुद्ध तथा कर्तृत्व-संपन्न स्वरूप को प्राप्त करने के लिए हम लोग एकत्र होकर कष्ट उठाने के लिए सिद्ध हों। तभी समस्त संसार को दिखाया जा सकता है कि संघ स्पर्श करते ही फूट जानेवाला पानी का बुलबुला नहीं है।"

मद्रास से श्रीगुरुजी को पूना जाना था। मार्ग में रायपुर, रेणुगुंटा, कोडप्पा, गुंटकल, गुलबर्गा तथा शोलापुर आदि स्टेशनों

पर दर्शनोत्सुक सहस्त्रों स्वयंसेवकों तथा नागरिकों नेउन पर पुष्प-वर्षा की। शोलापुर-स्टेशन पर जिला संघचालक डॉ. काकासाहब मुळे ने पुष्पमाला समर्पित की। वहाँ कुछ बोलने की प्रार्थना की जाते ही गुरुजी ने विनोदपूर्वक कहा, "बोलने का गुण कारावास में नष्ट हो गया है।" इसके बाद विशाल हृदय लेकर कार्य में जुट जाने की आवश्यकता बताते हुए उन्होंने कहा कि "इस कार्य के लिए अमृतमय हृदय चाहिए।"

२४ जुलाई को प्रातःकाल वे पूना पहुँचे। उस समय तक रेल का वह डिब्बा, जिसमें वे यात्रा कर रहे थे, पुष्पमालाओं से भर गया था। इससे पूर्व मानो इन्द्रदेव ने भी उनका स्वागत करते हुए वर्षा का छिडकाव कर दिया था। जैसे ही गुरुजी नीचे उतरे, सूर्यनारायण भी मेघों का पटल चीरकर बाहर निकले। स्टेशन के प्रांगण में २५ हजार जनसमूह एकत्र था, जिसने पुनरोदित लोकभास्कर का दर्शन किया। संपूर्ण पूना नगरी लता-पुष्पों से सजायी गयी थी और बंदनवारों से मंडित मार्गों से होकर उनकी शोभा-यात्रा निकाली गयी। उस समय मार्ग के दोनों ओर की अट्टालिकाओं से निरंतर सुमन–वृष्टि हो रही थी।

श्री परशुराम भाऊ महाविद्यालय के विशाल प्रांगण में उनका स्वागत–समारोह किया गया। समय से पूर्व ही एक लाख से अधिक व्यक्ति एकत्र हो चुके थे। पेशवाकालीन नगाडों की गंभीर ध्वनि से दिक्मंडल व्याप्त था। २४३ संस्थाओं ने श्रीगुरुजी को पुष्पमालाएं अर्पित कीं।

सत्कार का उत्तर देते हुए गुरुजी ने कहा, " बीच की इस अवधि में संघ के स्वयंसेवकों ने आन्दोलन किया। वह आन्दोलन न तो कानून की अवज्ञा थी, न सरकार का विरोध था। हो सकता है कि सरकार के साथ हमारे मतभेद हों, किन्तु हमारी

मान्यता है कि मतभेद के रहते हुए भी एकता का साक्षात्कार करना लोकतंत्र की कसौटी है।" आपत्ति लानेवालों के प्रति भी मन में प्रेमभाव रखने का परामर्श देते हुए उन्होंने कहा," कुछ लोग पूछेंगे कि गालीगलौज करनेवालों के प्रति प्रेमभाव कैसे निर्माण हो सकता है। किन्तु उसी में मानव की श्रेष्ठता है। प्रकृति का नियम है कि भारी वस्तु नीचे ही गिरती है। किन्तु क्या भारी भरकम हवाई जहाज को अन्तरिक्ष में उडाने का अविष्कार हम सफल हुआ नहीं देखते ? भौतिक प्रकृति की इस विजय की ही भाँति हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रकृति पर विजय पानी है। स्वाभाविक प्रवृत्ति को जीतकर उच्चतम प्रवृत्ति निर्मित करने से ही मनुष्यता प्राप्त होती है। सहज आनेवाले क्रोध पर विजय पाना ही सच्ची मानवता है। यह संपूर्ण हिन्दू समाज मेरा है, चैतन्य-शक्ति का यह सांस्कृतिक प्रवाह मेरा है, हम सभी उसके विन्दु हैं, यही भाव हमारे मन में रहे।"

दूसरे दिन पूना के स्वयंसेवकों से मिलकर गुरुजी ने उन व्यक्तियों से भेंट की, जिन्होंने संघ पर से प्रतिबंध हटवाने में सहायता दी थी।

फिर वे बंबई जाने के लिए निकले। गाडी चिंचवड में रुकती नहीं थी परंतु वहाँ एकत्र चार हजार निर्वासितों ने उसे रुकवा ही लिया। गुरुजी ने सबसे भेंट की तथा आगे चले। बंबई तक आनेवाले सभी स्टेशनों पर दर्शकों की भीड जमा रहती थी, जिसके कारण विक्टोरिया टर्मिनस तक पहुँचने में गाडी को काफी विलंब हो गया।

बंबई ने अपनी वैभवपूर्ण परंपरा के अनुसार ही गुरुजी का स्वागत किया। उसका वर्णन करते हुए " विवेक " ने लिखा था, " गुरुजी की ऋषितुल्य मूर्ति के स्टेशन से बाहर आते ही सहस्रों कण्ठों ने उनका जयकार किया तथा उसी समय बैंड

बजना आरंभ होगया। यह घोष कितना प्रचंड था! 'गुरुजी की जय' तथा 'संघ अमर रहे' के नारे चारों ओर गूंज रहे थे। शत्रुओं को आतंकित करनेवाले इस महाघोष को सुनकर मेरे मुख से निकल गया 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।' उस असंख्य जनसमूह द्वारा बरसाये जानेवाले श्वेत पुष्प ऐसे लग रहे थे मानो सागर पर तुषार उछल रहे हों। उत्साह–आनंद तथा भक्ति की कोई सीमा नहीं रही थी। भक्त पुंडरीक से भेंट करने मानो परब्रह्म ही आगया था। लगभग दो वर्ष की अग्निपरीक्षा से अधिकाधिक तप कर और उज्ज्वल होकर निखर उठे सरसंघचालक के दर्शन आज जनता कर रही थी। आज आँखें धन्य होगयीं।"

श्रीगुरुजी ने प्रसिद्ध मजदूर नेता श्री ना. म. जोशी तथा बैरिस्टर जमनादास मेहता से भी भेंट की। स्वयंसेवकों को शाखाओं के अनुशासनपूर्ण कार्यक्रम प्रारंभ करने का आदेश देते हुए उन्होंने कहा, "दुर्भाग्य से लोग अव्यवस्था को ही लोकतंत्र समझ लेते हैं। यह अव्यवस्था कुछ कम हो गयी, तो उसे मिलिटरी मान लेते हैं। ऐसे ढंग की मिलिटरी का अनुशासन संभवतः दो वर्ष में आपने भुला दिया हो, किन्तु अब पूर्ववत अनुशासनबद्धता से कार्य करना चाहिए।" आन्दोलन में सम्मिलित न हो सकनेवाले स्वयंसेवकों से व्यवहार करने के विषय में उन्होंने कहा, "ऐसे अंतःकरणों को अपने घमंडवश दुःख पहुंचाना अनुचित है। मिथ्या अहंकार से फुटबाल या लुहार की धौंकनी के समान फूल उठने का कोई कारण नहीं है।"

बंबई के बाद श्रीगुरुजी नागपुर वापस गये। रास्ते में इगतपुरी, नासिक, मनमाड, भुसावल आदि स्टेशनों पर स्वागत की धूम जारी ही थी। इस अपरिचित कार्यक्रम से वे इतने दिन में ऊब गये। भुसावल में वे सहज कह उठे, "जेल में मुझे खूब

शांति मिली थी, अब रिहाई के बाद तो ये व्यर्थ के स्वागत-समारोह हाथ धोकर पीछे पडे हैं।"

इस दौरे के समय कुछ समाचार-पत्रों ने कहना चाहा कि कुछ शर्तों पर ही संघ से प्रतिबंध उठाया गया है। लेकिन दूसरे पत्रों ने इसका उत्तर भी दे दिया। नागपुर के "हितवाद" ने १९ जुलाई के अंक में मांग की कि "सरकार सरसंघचालक द्वारा दिये गये आश्वासनों का पूर्ण विवरण प्रकाशित करे।" किन्तु इस पर भी सरकार मौन साधे रही, जिसका अर्थ यही था कि ऐसे कोई आश्वासन गुरुजी की ओर से नहीं दिये गये थे।

अब नागपुर में भी गुरुजी को मानपत्र देने का आयोजन हुआ। उस समय हुई विराट् सभा में गुरुजी ने कहा "गोळवलकर नामक व्यक्ति की हैसियत से नहीं, अपितु एक राष्ट्रव्यापी संघटन के प्रतिनिधि की हैसियत से मैंने सरकार से वार्ता की थी। जिस संघटन का प्रतिनिधि बनकर मैं बातचीत कर रहा था, उसकी अवमानना करने से पूर्व मैंने मृत्यु वरण कर ली होती किन्तु संघटन की अवमानना कभी न होने देता। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि न तो मैंने कोई शर्तें स्वीकार की हैं और न कोई आश्वासन ही दिये हैं। फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि जहाँ समझौता होता है, वहाँ दोनों पक्षों को एक-एक कदम पीछे हटना पडता है। उसी दृष्टि से मैंने केवल श्रद्धेय शास्त्रीजी की सूचनाओं के अनुसार, आजतक संघ जिस अलिखित कार्यपद्धति से कार्य कर रहा था, उसे कागज पर लिखकर दे दिया। किसी भी लोकतंत्री सरकार को किसी दल या संघटन से अपना संविधान पेश करने के लिए कहने का कोई अधिकार नहीं होता, यह जानते हुए भी मैंने शास्त्रीजी के कथनानुसार उसे लिपिबद्ध कर दिया। इसके अलावा अन्य कुछ भी मैंने नहीं किया है।"

१५ अगस्त तक गुरुजी नागपुर में रहे। इस अवधि में वे एक बार उमरेड नामक समीप के ही स्थान पर गये थे। वहाँ के सत्कार-समारोह में यह बताते हुए कि सरकार के अपनो ही होने के कारण हमने प्रतिबन्ध के आघात को कितने संयम से सह लिया, उन्होंने कहा "गत डेढ वर्ष में संघ पर हुआ आघात यदि पराये लोगों द्वारा हुआ होता, तो हम गत २४ वर्ष में प्राप्त समस्त शक्ति से उन्हें मजा चखा देते तथा यह बता देते कि हमने अपनी ही माँ का दूध पिया है।"

नागपुर लौटकर उन्हें मालूम हुआ कि गृहमंत्री सरदार पटेल का स्वास्थ्य विशेष ठीक नहीं है। अतः उनसे भेंट करने के लिए वे १६ अगस्त को पुनः बंबई गये तथा दोपहर को ११॥ बजे माउंट प्लेजेंट पर स्थित बिडला भवन में उनसे भेंट की। उस समय गुरुजी के साथ सरकार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी तथा उनके सहयोगी श्रीबाळासाहब देवरस भी उपस्थित थे। उसी प्रकार सरदार पटेल के साथ उनकी सुपुत्री तथा सचिव उपस्थित थे।

सरदार अन्यन्त श्रान्त दिखायी दे रहे थे। उनका स्वास्थ्य पूछा जाने के बाद सरदार ने कहा, "बीती को बिसारकर अब देश के भविष्य का अवलोकन करना चाहिए।" सरदार लगभग एक घंटे तक बातचीत करते रहे, जिसमें उन्होंने विभाजन के बाद से हुई घटनाओं का सरसरी तौर पर विवेचन किया तथा बताया कि पाकिस्तान के कारण भारत का सैनिक व्यय बढ गया है। ईसाई मिशनरियों की हरकतों का उल्लेख कर उन्होंने प्रश्न किया कि आखिर यह क्योंकर होता है। फिर वे बोले, "अवश्य ही हमारे समाज में कोई भूल है,जिसे खोजकर सुधारना चाहिए। आज इस बात की आवश्यकता है कि समाज की पाचन-शक्ति बढायी जाय।" अन्त में उन्होंने कहा "आज देश के

लिए शांति की सबसे अधिक आवश्यकता है तथा उसके लिए आवश्यकता है प्रामाणिकता की।"

घण्टा भर बोलते रहने के कारण सरदार पटेल थक गये थे। अत: गुरुजी ने यह कहते हुए विदा माँगी कि "आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें। हम लोग इस स्थिति पर विचार करेंगे।" इस पर सरदार ने "ठीक है" कहते हुए उन्हें विदा किया।

बंबई से नागपुर आकर २० अगस्त को गुरुजी ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। उस समय डिब्बे पर लगा रिजर्वेशन कार्ड देखकर उन्होंने कहा, "यह मुझे संपूर्ण प्रवास में सोने न देने की व्यवस्था प्रतीत होती है।" हुआ भी ठीक वैसा ही। काटोल से मथुरा पहुँचते–पहुँचते डिब्बे में हार ही हार हो गये तथा जयजयकार की ध्वनि ने नींद को पास भी नहीं आने दिया। दिल्ली स्टेशन पर तथा उसके बाहर दूर दूर तक इतनी भीड थी, मानो संपूर्ण राजधानी ही गुरुजी के दर्शनार्थ उमड पडी हो। जयजयकारों के घोष से आकाश गूंज उठा तथा फूलों से मार्गों की सूरत बदल गयी। इस समारोह को देखने के लिए गुरुजी के माता–पिता भी उपस्थित थे। उनकी इच्छानुसार गृहस्थी न करके अपनी इच्छानुसार देश भर की गृहस्थी चलायी जाती देखकर उन्हें कितना आनंद हुआ होगा?

संपूर्ण राजधानी गुरुजी के स्वागतार्थ सजायी गयी थी। नगर भर में पचासों द्वार बनाये गये थे। सायंकाल रामलीला मैदान में सत्कार–सभा हुई। इस सभा के कारण संपूर्ण संसार का ध्यान संघ की ओर आकृष्ट हो गया। दिल्ली के ५ लाख नर-नारी सभास्थल पर एकत्र थे। उस समय नगर की यह दशा थी मानो सभी मार्ग रामलीला मैदान की ही ओर जाते हों। मंच की भव्यता तथा कार्यक्रम का आयोजन अद्वितीय थे। गणवेशधारी स्वयंसेवक शांति के साथ जनता का स्वागत करते तथा उन्हें यथास्थान बैठाते

थे। साधारणतया बडी सभाओं में देखा जाता है कि लोग खाते–पीते, लडते–झगडते तथा गुल–गपाडा मचाते हुए कार्यक्रम में भाग लेते हैं। लेकिन इस सभा के अनुशासन तथा शांति की प्रशंसा करते हुए बंबई के छिद्रान्वेषी "ब्लिज" ने भी लिखा कि "प्रचंड जनसमूह के प्रबंध के लिए पुलिस नाममात्र को भी नहीं थी। सब व्यवस्था संघ के स्वयंसेवकों ने इतने अच्छे ढंग से की थी कि सभा काँग्रेस की सभाओं से सर्वथा विपरीत प्रतीत होती थी।"

गुरुजी ने अपने भाषण में यह कहते हुए कि निरी योजना, शुभेच्छा या आश्वासन के सहारे देश का उत्थान नहीं हो सकता, उसके लिए राष्ट्रीय चारित्र्यवाले व्यक्तियों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा, "यह खेदजनक घटना है कि आज हमारे बीच राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह में अपने को एकरूप करनेवाले शतप्रतिशत राष्ट्रीय चारित्र्यसंपन्न व्यक्तियों की कमी है। कितने ही लोग ऐसे हैं, जिन्हें न तो अपने समाज की व्यथाओं की जानकारी है तथा न उसे प्राप्त करने की इच्छा ही है। फिर उसका सुधार करने की इच्छा या सिद्धता कहाँ से आ सकती है?"

लोगों पर इस समारोह का अत्यंत विलक्षण प्रभाव हुआ। ब्रिटिश ब्राडकास्टिग कारपोरेशन ने अपने समाचारों में कहा कि "गुरुजी भारतीय क्षितिज पर उदित एक दैदीप्यमान सितारे की भाँति हैं। आज पं. नेहरू को छोडकर भारत में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो इतना जनसमूह आकृष्ट कर सके।" "हिन्दुस्थान-टाइम्स" ने लिखा–"दक्षिणपंथी लोगों के लिए संघ एक बडी चुनौती है।" संघविरोधी "ब्लिज" ने लिखा, "इस एक वर्ष की अवधि में संघ ने जितनी जनता को आकर्षित कर लिया है, वह प्रत्येक दृष्टि से उसकी महान् विजय है।" कलकत्ता के "अमृत बाजार पत्रिका" ने लिखा, "वे आये, उन्होंने देखा तथा विजय की संभावना सब पर प्रकट कर दी।"

२३ अगस्त को सायंकाल रामलीला मैदान में श्रीगुरुजी के सम्मान में एक जलपान का विशाल कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसमें लगभग डेढ हजार प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित हुए। उन्हें राजधानी के नागरिकों की ओर से एक मूल्यवान् पेटी में मान-पत्र भेंट किया गया। कार्यक्रम के अंत में "वंदे-मातरम्" राष्ट्र–गीत होनेवाला था। गुरुजी ने गानेवाले को अपने पास बुलवा लिया तथा उससे पूछा कि क्या उसे संपूर्ण गीत याद है। उसके "नहीं" कहने पर उन्होंने पूछा कि क्या लिखा हुआ गीत गा सकेंगे। इस पर गायक ने "हाँ" कहा तथा तुरंत गुरुजी ने मेज से एक कागज उठाकर गीत लिख दिया। जिस समय उनकी प्रशंसा में भाषण जारी थे, गुरुजी गायक को बता रहे थे कि राष्ट्रगीत पूरा ही गाना चाहिए।

मान-पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "डिंडिम बजाने तथा स्वागत-समारोह जैसे कार्यक्रमों से मैं तथा मेरे सहयोगी एकदम दूर रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश उसका यह अर्थ लगाया गया कि हमारा कार्य गुप्त है। बिना शोर मचाये, मौन रहकर अपने कर्तव्य की पूर्ति करना ही भारतीय संस्कृति तथा जीवन का दृष्टिकोण रहा है किन्तु उसका यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही यह भ्रम फैलता है।"

दिल्ली के बाद गुरुजी जयपुर होते हुए पंजाब गये। नरेला, सोनीपत, पानीपत आदि प्रत्येक स्टेशन पर सहस्त्रों व्यक्ति उनके स्वागतार्थ खडे मिलते। जैसे ही गाडी रुकती, स्टेशन पर ही बने विशाल मंच पर वे ले जाये जाते, वहाँ खडे होकर पाँच-दस मिनट वे भाषण देते तथा सबको संघ-कार्य के लिए उद्यत करते। यही क्रम सर्वत्र चलता था। पानीपत में बंदूकों की आवाज से गुरुजी का स्वागत किया गया। कुरुक्षेत्र में भीड की विशालता के कारण कुछ गडबडी सी हुई, जिसपर पुलिस ने डंडे संभाले। इस

पर गुरुजी ने उनको रोकते हुए कहा, "भाई, डंडे से जनता का नियंत्रण नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो प्रेम ही चाहिए।"

गाडी काफी देर से अंबाला पहुँची। प्लेटफार्म पर जगह न होने के कारण लोग छतों पर चढ गये थे तथा पुल से लटके हुए थे। गुरुजी के गाडी से उतरते ही सैकडों भगिनियों ने तिलक लगाकर उनकी आरती उतारी। पुष्पहार समर्पित होने के बाद चार घोडो वाले रथ में उनका जुलूस निकाला गया।

"फोनेक्स क्लब" में श्रीगुरुजी के सम्मानार्थ एक जलपान का कार्यक्रम आयोजित था। इसमें बोलते हुए गुरुजी ने निर्वासितों के प्रश्न की चर्चा की। उन्होंने कहा, "निर्वासितों का प्रश्न सुलझाने के लिए आज उत्तम चारित्र्य के व्यक्तियों तथा व्यवहार्य योजना की आवश्यकता है।" आगे उन्होंने संघ-कार्य के भूमिगत होने का खंडन करते हुए कहा, "संघ कभी भी भूमिगत संघटन नहीं था। घर-घर की छतों पर से संघ के भूमिगत संस्था न होने की घोषणाएं की जाने तक हमारे नेताओं की यह समझ में नहीं आया। आज प्रदर्शनों का जमाना है, अतः हमें भी अपने धोखे–बाज न होने का प्रदर्शन करना पड रहा है।"

अंबाला में पटियाला, हिमाचल प्रदेश आदि के स्वयंसेवक भी आये थे। उनके सम्मुख बोलते हुए गुरुजी ने कहा कि, "पूर्वी पंजाब के लोगों को सदा यह स्मरण रखना चाहिए के वे भारतीय संस्कृति के द्वारपाल हैं।"

अंबाला से उन्हें अमृतसर जाना था। किन्तु इस समय उन्हें कुछ विश्राम देने के लिए फूलों से सजे डिब्बे में न बैठाकर सादा डिब्बे में बैठाया गया। फिर भी अनेक स्टेशनों पर जनता उन्हें ढूंढ लेने में सफल हुई तथा फिर उन्हें पहले की भांति कार्यक्रम करना पडा। अमृतसर स्टेशन पर हुए सत्कार में नगर कांग्रेस तथा विद्यार्थी कांग्रस ने भी पुष्पहार समर्पितकर कृतज्ञता व्यक्त की। यहाँ कार्यकर्ताओं की बैठक में गुरुजी ने

बताया कि श्रीतेजबहादुर सप्रू ने रोगशय्या पर होने पर भी कहा था कि वे रोगमुक्त होते ही संघ की सहायता करेंगे। यहाँ के स्वयंसेवकों को गुरुजी ने किसी पारितोषिक की कामना न रखते हुए कार्य करने का सन्देश दिया।

पंजाब के तूफानी दौरे में उत्साही जनता ने उन्हें जरा भी विश्राम नहीं लेने दिया। प्रसिद्ध उर्दू साप्ताहिक "हिन्दू" ने लिखा, "दिन के चौबीसों घण्टों का ही लाभ उठाया गया था किन्तु इन सारे कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए गुरुजी ने मानो अपना खाना, सोना आदि भी त्याग दिया। इस दौरे में लाखों लोगों की सभाओं पर सभाएं हुईं तथा स्थान-स्थान पर पहिनाये जानेवाले हजारों हारों को निकाल-निकालकर हाथों पर रखते हुए तथा मानपत्र उठाते हुए गुरुजी के हाथ दर्द करने लगे। रात में भी जहाँ-जहाँ गाडी रुकती, असंख्य व्यक्ति उनका डिब्बा घेर लेते तथा उनके आग्रह के कारण गुरुजी को बोलना ही पडता था। अनेक स्थानों पर लोग बीच में ही रेल की पटरियों पर खडे होकर गाडी रुकवाते तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने त्राता का दर्शन करते। गुरुजी के यह प्रश्न करने पर कि "इतनी रात में भी आप लोग यहां क्यों बैठे हैं," वे उत्तर देते, "आपके दर्शन के लिए।" जलालाबाद में ऐसा ही उत्तर पाकर गुरुजी ने कहा, "दर्शन तो भगवान् के किये जाते हैं। मैं जनता-जनार्दन को ही परमेश्वर मानता हूं। वस्तुतः मैं ही आप लोगों के दर्शन के लिए घूमता फिरता हूं।" यह कहकर उन्होंने विनम्र भाव से सबके हाथ जोडे।

इस दौरे में एक बार मोटर से प्रवास करते हुए उन्होंने एक दिन में सत्रह सभाओं में भाषण किये। कार्यक्रमों की अत्यधिकता के कारण "हिन्दू" ने लिखा, "प्रतीत होता है कि गुरुजी ने विश्राम को ही विश्राम करने को कह दिया है।"

गुरुजी ३० अगस्त को पंजाब से दिल्ली लौटे तथा उन्होंने प्रधान मंत्री से भेंट की। प्रतिबंध उठने के पश्चात् उन दोनों की यह पहली ही भेंट थी, अतः इस भेंट में स्वभावतः औपचारिकता ही प्रकट हुई। इस भेंट के पश्चात् भी दो बार, २३ सितंबर तथा २९ नवंबर को वे दिल्ली में मिले। इन भेंटों में दोनों ने देश की समस्याओं के प्रति एक दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न किया। यह चर्चा अत्यंत खुले अन्तःकरण से तथा प्रदीर्घ समय तक हुई। इसमें राष्ट्रवाद, अहिन्दुओं का भारतीय समाज में स्थान, संस्कृति, संघ-कार्य का स्वरूप और उद्देश्य, सहिष्णुता, हिंसा-अहिंसा आदि विषयों पर विचार तथा स्पष्टीकरण हुआ।

नेहरूजी से भेंट करने के उपरान्त ३१ अगस्त को श्रीगुरुजी लखनऊ गये। उनके इस कार्यक्रम के समय भीषण वर्षा हो रही थी। फिर भी हजारों स्वयंसेवकों तथा पचास हजार से अधिक जनता ने उनका स्वागत किया। संपूर्ण नगर में द्वार बनाये गये थे, जिनका नामकरण भारतीय महापुरुषों पर किया गया था। मनु से लेकर डॉ. हेडगेवारजी तक की परंपरा इन द्वारों के नामकरण से प्रकट की गयी थी।

लखनऊ के पश्चात् उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रांतों के असंख्य स्वयंसेवकों से भेंट करते हुए ७ सितंबर को श्रीगुरुजी कलकत्ता पहुंचे। काशी की रैली में दस हजार स्वयंसेवक तथा पटना में ६ हजार स्वयंसेवक, हजारों जनता के अतिरिक्त उपस्थित थे। पटना तथा कलकत्ता की स्थानीय प्रथा के अनुसार शंखध्वनि से उनका स्वागत किया गया।

यह सारा भ्रमण पूर्ण कर श्रीगुरुजी सितंबर के मध्य में नागपुर लौट आये। अखंड प्रवास तथा कार्यक्रमों के इस श्रम के कारण उनका वजन दस पौंड घट गया था।

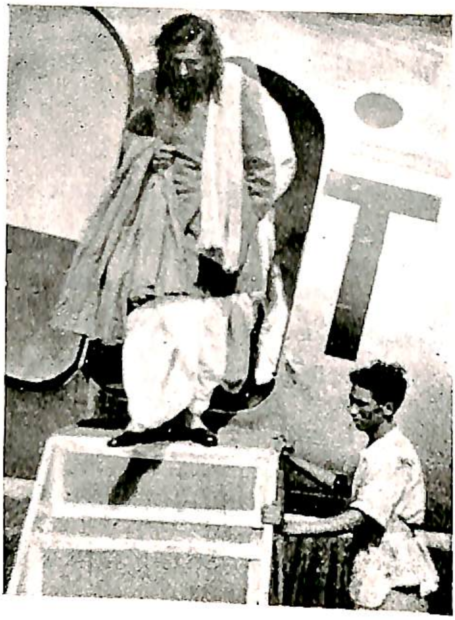

'......यही मेरा घर'

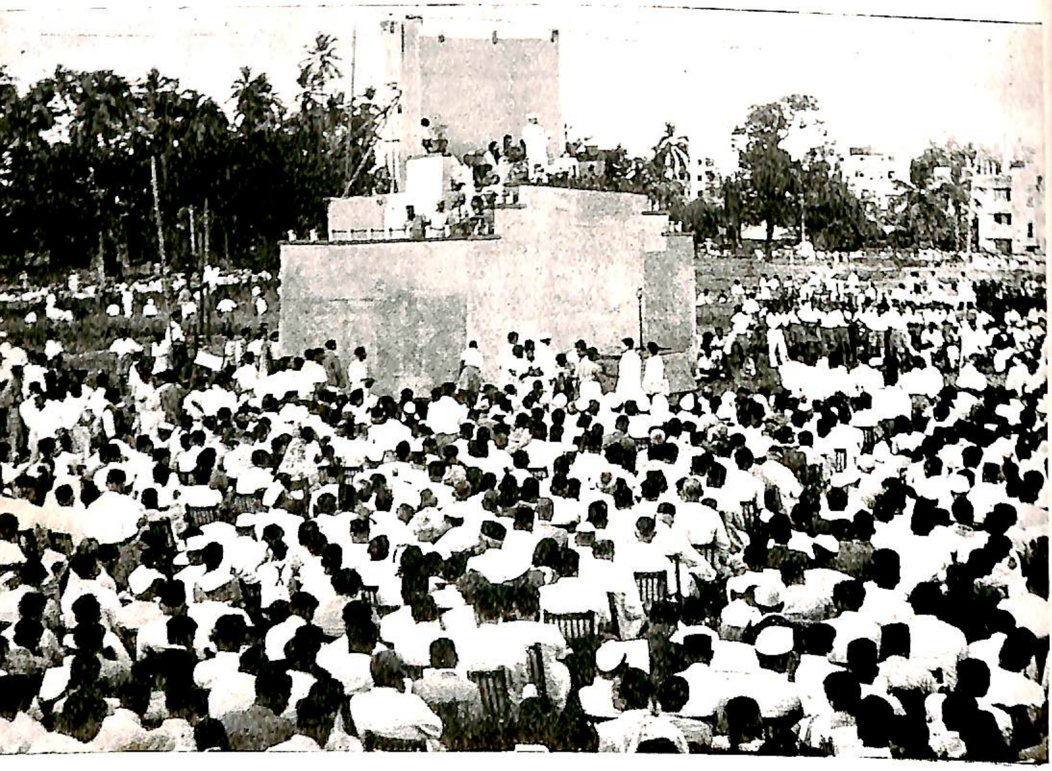

'नवल सुफल शुभ क्षण यह आया', मुंबई (१९४९)

लगभग इन्हीं दिनों कुछ कांग्रेसियों ने संघ के स्वयं-सेवकों के लिए कांग्रेस में प्रवेश करने का मार्ग खुलवाने का प्रयत्न आरंभ किया था। लेकिन कांग्रेस संस्था में ही इस प्रश्न को लेकर दो दल बन गये। १० अक्टूबर को वर्धा में राजर्षि टंडन ने कहा, "संघ के स्वयंसेवकों को कांग्रेस में सम्मिलित कर लेने की नीति ही उचित है तथा इसका विरोध करनेवाले गलती पर हैं।" मध्यप्रदेश के गृह मंत्री पं. मिश्र ने भी एक भाषण में इस बात का समर्थन किया। गुजरात के पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने तो इस प्रस्ताव का स्वागत करते हुए गुजराती दैनिक "प्रताप" के दीपावली अंक में लिखा कि, "संघ के अनुशासनबद्ध तथा आज्ञा-कारी स्वयंसेवकों के काँग्रेस में सम्मिलित होने से कांग्रेस के अन्दर की गंदगी स्वच्छ हो जायगी तथा वे सब बातें समाप्त हो जायेंगी, जिनके कारण कांग्रेस तथा उसकी सरकार की छीछालेदार हो रही है।"इस विचार का विरोध करनेवालों ने संघ पर साम्प्रदायिकता आदि के पुराने आरोप ही लगाये।

पं. नेहरू के विदेश–यात्रा से लौट आने पर कांग्रेस कार्य-कारिणी ने एक प्रस्ताव पारितकर यह घोषणा की कि, "संघ के स्वयंसेवक चाहें तो कांग्रेस में सम्मिलित हो सकते हैं, परंतु वे कांग्रेस सेवा-दल के अतिरिक्त अन्य किसी स्वयंसेवक-संघटन में भाग नहीं ले सकेंगे।" इस प्रस्ताव का अर्थ वास्तव में यही था की संघ छोडने के बाद ही कांग्रेस में प्रवेश मिल सकता है।

कांग्रेस में संघ के प्रति चलनेवाली इस हलचल को संघ के स्वयंसेवक बडे कौतुक से देख रहे थे। संघ के संविधान के द्वारा उन्हें इस बात की छूट प्राप्त थी कि वे संघ के लिए बाधक न होनेवाले किसी भी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो सकते हैं। कांग्रेस ने ही अपने इस निर्णय से, जहाँतक स्वयंसेवकों का प्रश्न था, अपना द्वार बंद कर लिया था।

२८ अक्तूबर से श्रीगुरुजी का दौरा पुनः प्रारंभ हुआ। इस बार वे विजयवाडा, मद्रास, एर्नाकुलम, मंगलौर, मैसूर, हुबली, बेलगाँव, मीरज, कोल्हापुर, सांगली, पूना, बंबई, राजकोट, बडौदा, कर्णावती आदि स्थानों पर गये तथा नवम्बर मास में नागपुर वापस लौटे।

इन सब स्थानों पर उनका जो स्वागत हुआ, उसका सर–सरी तौर पर भी यदि वर्णन किया जाय, तो एक मोटा ग्रंथ बन सकता है। प्रचंड शोभायात्राएं, मंगलवाद्यों की ध्वनि, मार्गों पर खडे किये गये स्वागतद्वार, ध्वजा-पताकाएं, पुष्पवर्षा, अत्युच्च तथा भव्य मंच, लाखों के जनसमूह, मानपत्र, उद्यानोपाहार आदि विविध बातें इन कार्यक्रमों के अंग थीं। निरपेक्ष रहकर कार्य करनेवाले पत्रकारों ने भी श्रीगुरुजी पर प्रेम-वर्षा की थी।

इस प्रवास की अनेक घटनाएं तथा स्थान-स्थान पर श्रीगुरुजी द्वारा व्यक्त विचार उल्लेखनीय हैं। दक्षिण का दौरा समाप्तकर ३ अक्तूबर को श्रीगुरुजी मीरज पहुँचे। वहाँ के समारोह में कुछ विरोधियों ने हुल्लड मचाकर पत्थर भी फेंकने का प्रयत्न किया। ४ अक्तूबर को प्रातः कोल्हापुर तथा सायंकाल सांगली में उनका कार्यक्रम न होने देने के लिए प्रदर्शन किये गये तथा एक स्थान पर तो उनकी मोटर रोककर उनपर आक्रमण तक करने का षड्यंत्र रचा गया। श्रीगुरुजी का मन इन सब बातों के कारण दुःखित था। वे सोचते थे कि गलत नेतृत्व के कारण लोग अज्ञानवश मानवता तक को भुला बैठे हैं। कोल्हापुर में जब यह हो-हल्ला जारी था, उस समय श्रीगुरुजी अपनी कुलदेवी जगदम्बा का दर्शन करने गये थे। जब वे मंच पर चढे, तब पथराव उन्हें स्पष्ट दिखायी दे रहा था, परंतु इससे क्रुद्ध होकर विरोधियों के प्रति उन्होंने एक शब्द तक नहीं कहा। सांगली में मानपत्र स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, "दूसरों के मत का आदर करना हमारी संस्कृति की सीख है। सभी मत परिपूर्ण

नहीं हुआ करते । तब एक अपूर्ण मत को दूसरे अपूर्ण मत के प्रति क्यों हँसना चाहिए ? अनेक अपूर्णांकों को मिलाकर एक पूर्णांक बन सकता है । प्रत्येक को चाहिए कि अपनी इच्छा के अनुसार मत चुनकर अन्यों के प्रति सहिष्णुता बरतते हुए समाज की सेवा करे ।"

इस दौरे से लौट आने के बाद श्रीगुरुजी ने इन भागों के उन सभी व्यक्तियों को पत्र लिखे, जिनको इन घटनाओं के कारण कष्ट पहुँचा था । श्रीभालजी पेंढारकर को उन्होंने लिखा, "इन सभी बातों में दुःख की बात यही है कि ये लोग हमारे ही बंधु हैं । वे यह नहीं समझ पाते कि हम लोगों को उन्हीं की सेवा के लिए जीवन अर्पितकर कष्ट करना है, इसीलिए अज्ञानवश, अपने पराये का ज्ञान भूल जाने के कारण उनसे यह प्रमाद हुआ है । दुःख उनके अज्ञान का ही है, अन्य बातें विशेष चिंतनीय नहीं । जो हो, उनके द्वारा इतना विरोध तथा विद्वेष प्रकट किया जाने पर भी हम लोग,उन पर क्रोध नहीं कर सकते । मेरी दृढ श्रद्धा है कि ये अपने ही लोग हैं तथा उनकी सेवा में किसी भी भाँति जीवन काम आ जाता है, तो परमात्मा की कृपा ही समझना चाहिए ।"

एक अन्य व्यक्ति को उन्होंने लिखा था, "अज्ञानवश अनेक प्रकार के प्रमाद हो जाते हैं किन्तु उनके फलस्वरूप हमारा यह दायित्व बढ जाता है कि हम उन्हें अपने कार्य का सच्चा ज्ञान करा देने का प्रयत्न करें ।" बंबई प्रांत-संघचालक श्रीलिमये को उन्होंने लिखा था, "प्रयत्न करने पर यह परिस्थिति अवश्य-मेव बदली जा सकती है । परमात्मा की असीम कृपा से हम सभी विपरीत शक्तियों पर विजय पा लेंगे तथा सर्वत्र सुसंस्कृत स्नेह का वातावरण निर्माण कर देंगे ।" श्रीगुरुजी के हृदय में समाज के प्रति आत्मीयता की यही भावना ही रा. स्व. संघ की

प्रेरक शक्ति है, जिसके आधार पर समाज का वर्तमान छिन्न-भिन्न तथा दैन्यपूर्ण दृश्य अवश्य बदला जा सकता है।

बंबई तथा कर्णावती के समारोहों में प्रकट किये गये उनके विचार भी मननीय हैं। बंबई के भाषण में उन्होंने कहा था, "आज हम किसी दूसरे का मत या विचार पसंद न आने पर चिढ जाते हैं। हम क्रोधित हो जाते हैं तथा असहिष्णु होकर जो चाहे सो कर बैठते हैं। क्या यह व्यवहार उस राजनीतिक जीवन-पद्धति के साथ मेल खाता है, जिसे हम प्रजातंत्र के नाम से संबोधितकर उसका डिंडिम पीटते हैं?" कर्णावती में भी इसी बात पर बल देते हुए उन्होंने कहा, "पं. नेहरू जैसे व्यक्ति को लंदन में अपने ही देश-बंधुओं के द्वारा काले झंडे दिखाये जाना हमारे राष्ट्र का अपमान है। ये झंडे इसी बात के प्रमाण हैं कि प्रदर्शनकर्ताओं के हृदय भी उसी रंग के हैं।"

इस प्रकार का सहिष्णुतापरक मार्गदर्शन करते हुए श्रीगुरुजी ने सन् १९५० के जनवरी मास तक भारत के सभी भागों का भ्रमण पूरा कर लिया। स्थान-स्थान पर दिये गये मानपत्रों में जनता की इच्छाएं ही व्यक्त होती थीं। उनमें वे श्रीगुरुजी को "हिन्दू-हृदय-सम्राट," "भारत-केसरी" आदि विशेषणों से संबोधित करते थे। राजधानी में दिये गये मानपत्र में तो उनसे केवल संघ का ही नही, अपितु समस्त समाज का नेतृत्व ग्रहण करने की प्रार्थना करते हुए कहा गया था कि, "समस्त समाज के नर-नारियों को स्वयंसेवक जानकर आप संपूर्ण देश का मार्ग-दर्शन करें, जिससे नवस्वातंत्र्यप्राप्त भारत अपनी सुप्तात्मा को जाग्रत कर आत्मवान् बने।"

मद्रास, बंबई, दिल्ली, नागपुर, लखनऊ, पटना, कलकत्ता आदि स्थानों में हुए श्रीगुरुजी के पत्रकार-सम्मेलन अत्यंत सफल और प्रसिद्ध हुए। इनके कारण श्रीगुरुजी के व्यक्तित्व के अनेक पहलू लोगों

के सामने आये तथा संघ की भूमिका स्पष्ट हुई। उनके विशद ज्ञान, प्रत्युत्पन्न मति, ऐतिहासिक विश्लेषण, सुस्पष्ट विचार, सात्विक विनोद, विनय एवं सहजता के कारण सभी प्रभावित हुए। कलकत्ता के पत्रकार–सम्मेलन का वर्णन करते हुए "स्टेट्समैन" ने लिखा था, " उनका व्यवहार सौजन्यपूर्ण और उनकी वाणी में निश्चय था। अंग्रेजी भाषा पर उनका उत्तम अधिकार प्रकट हुआ। पत्रकारों द्वारा लगायी जानेवाली प्रश्नों की झडी का उन्होंने अत्यंत सहजता से उत्तर दिया।"

किन्तु यही कहना उचित होगा कि इन सत्कारों में श्रीगुरुजी केवल शरीर से ही भाग ले रहे थे। सार्वजनिक समारोहों के प्रति उनमें बिलकुल आकर्षण नहीं है और इस संबंध में उनका सदा कहना है कि " लोगों की भीड मात्र सामर्थ्य का चिह्न नहीं। लाखों लोगों की ऐसी सभाएं एक मेंढक के उछल पडने अथवा किसी अन्य साधारण सी घटना के कारण भंग हो जाती हैं तथा घबडाहट में लोग इतने जूते चप्पल छोडकर भाग जाते हैं कि दो चार साल तक उनकी दुकान चलायी जा सकती है।" इसीलिए सत्कार-समारोहों की धूम उन्हें चिंतित करती थी। लोगों के क्षणिक उत्साह से उनका मन प्रसन्न नहीं होता था, वे तो एक-एक व्यक्ति में धीरे धीरे राष्ट्रभाव तथा अनुशासन भरकर अपना बनाने का ही मार्ग पसंद करते हैं। काशी में सन् १९४९ में हुई प्रांतीय बैठक में उन्होंने कार्यकर्ताओं से कहा था कि, " क्षणिक उत्साह हमारे कार्य की पकड निर्माण होने का प्रमाण नहीं है। आज लोहा खूब तपा है। हमें उसे आकार देना चाहिए। अत्यंत परिश्रम करते हुए हमें इसमें से टिकाऊ कार्य खडा करके शक्ति प्राप्त करना है।"

श्रीगुरुजी ने कहीं भी इस भावना को पनपने नहीं दिया कि संघ पर से प्रतिबंध उठवा लिया, अतः अब हम कृतकृत्य

होगये । उन्होंने स्वयंसेवकों के समक्ष यही एकमेव विचार रखा कि जबतक भारत के ३६ करोड हिन्दू समाज की एकात्मता को जाग्रत करके देश के सम्मुख खडी सभी समस्याओं को सुलझाने की सामर्थ्य नहीं निर्माण होती, तबतक हमें किसी प्रकार का गर्व करने का कोई कारण नहीं है । श्रीगुरुजी ने स्वयंसेवकों से यही कहा कि टेढे मेढे पहाडी मार्गों पर एकाध टीला गिर जाने के कारण जिस प्रकार मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार संघ का मार्ग अवरुद्ध हो गया था और संघ ने केवल अपने मार्ग को साफ करने में सफलता पायी है ।

श्रीगुरुजी का यह देशव्यापी दौरा उनकी लोकप्रियता का साक्षी था, जिसके कारण संघ के प्रति उत्पन्न सभी संदेहों का निराकरण हुआ तथा जन-मन पर संघ के विचारों की श्रेष्ठता अंकित हो गयी । प्रतिबंध के पूर्व संघ का नाम भारत की सीमा में ही था किन्तु अब वह दिगदिगंत तक गूंज उठा ।

निर्वाचन से पूर्व

संघ पर से प्रतिबंध उठा लिया जाने के पश्चात् सन् १९५० के मध्य तक श्रीगुरुजी सभी प्रान्तों का दौरा करके वहां के कार्य का निरीक्षण करते रहे। उनके मार्गदर्शन में संघ का कार्य पुनः पहले जैसे उत्साह के साथ तीव्र गति से उन्नति करने लगा।

प्रतिबंधोत्तर के अपने देशव्यापी भ्रमण में वे असम नहीं जा पाये थे। अतः सन् १९५० के फरवरी मास में वे असम भी हो आये। उस समय हुई सत्कार-सभा में उन्होंने कुछ राष्ट्रीय समस्याओं के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये थे। समाज के ऐसे लोगों के शुद्धीकरण के संबंध में, जो बलप्रयोग अथवा किन्हीं प्रलोभनों के कारण अन्य मजहबों में चले गये हैं, श्रीगुरुजी ने कहा, "जब तक हमारे समाज की धारणा-शक्ति उत्तम रही, हमने शक, हूण आदि विदेशियों को भी आत्मसात् कर लिया। आगे चलकर पारस्परिक फूट तथा वैमनस्य के कारण यह धारणा-शक्ति कम होगयी। जब-जब समाज अपने पैरों पर खडा हुआ, हमने शुद्धीकरण का सफल प्रयास किया। उदाहरणार्थ, विजय-नगर साम्राज्य के संस्थापक हक्क और बुक्क, दोनों ही शुद्ध किये गये हिन्दू थे। उन्हें श्रीविद्यारण्य स्वामी ने शुद्ध किया था। इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी ने भी नेताजी पालकर, बजाजी निंबालकर आदि को शुद्ध किया था। इसके पश्चात् समाजबाह्य लोगों को आत्मसात कर सकने योग्य पाचन-शक्ति का अभाव होगया।"

अभी भी उस परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, यह बतलाते हुए उन्होंने कहा, " साधारण व्यक्ति उसी समाज की ओर जाता है, जिसमें रहने पर खतरा कम हो। आज हमारे समाज में ऐसी सामर्थ्य नहीं, जिससे लोग हमसे चिपके रह सकें। ऐसा सामर्थ्य निर्माण करने के बाद ही शुद्धि-कार्य सफल होता दिखायी देगा। और यह सामर्थ्य एकात्म समाज के निर्माण से ही खडा हो सकता है।"

एकता का अर्थ बताते हुए उन्होंने कहा, "एकता का अर्थ एक समान होना नहीं है (Unity is not uniformity)। कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं होते। अनेकता में ही एकता को देखने की दृष्टि निर्माण करनी चाहिए।"

इसी वर्ष के आरंभ में पूर्वी पाकिस्तान में भी उपद्रवों का जोर हुआ तथा वहाँ रहनेवाले हिन्दुओं का बलपूर्वक धर्मान्तर आरंभ कर दिया गया। इस आन्दोलन में अंसारों के साथ पाक सरकार भी थी तथा उन्होंने यह व्यवस्था की कि उपद्रवों के समाचार भारत न पहुँचने दिये जायँ। फलस्वरूप १९४७ की घटनाओं की पुनरावृत्ति होने लगी तथा हिन्दुओं पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे। ऐसी भयंकर दशा में भी हिन्दुओं ने प्राण त्याग कर देना या घर-बार छोडकर भारत चले आना स्वीकार किया, परंतु धर्मांतर स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि वे अपना सर्वस्व छोडकर पश्चिमी बंगाल तथा असम की ओर बहुत बडी संख्या में आने लगे।

उस समय बंगाल में संघ–कार्य बलवान नहीं था। फिर भी संघ द्वारा की गयी जाग्रति के कारण वहाँ के स्वयंसेवकों ने निर्वासितों की सेवा का काम हाथ में लिया। उस समय श्रीगुरुजी ने उस क्षेत्र के एक कार्यकर्ता को लिखा था, "असहाय लोगों की सहायता एवं सेवा करना एक अत्यंत पवित्र कार्य है।

यह ध्यान रखा जाय कि इस समय हमें जनमन में विशुद्ध तथा निःस्वार्थ सेवा-भाव को ही जाग्रत करना चाहिए। इसी प्रकार हमें अपनी सदा की नीति के अनुसार सरकार द्वारा किये जाने-वाले सहायता–कार्यो में भी सहकार करना चाहिए।"

श्रीगुरुजी के आदेशानुसार कलकत्ता में ८ फरवरी को वास्तुहारा सहायता समिति की स्थापना की गयी। सुविख्यात बैरिस्टर रणदेव चौधरी इस समिति के अध्यक्ष बने तथा इसमें बंगाल के कुछ अन्य कार्यकर्ता और असम तथा उडीसा के प्रान्त-प्रचारकों को भी सम्मिलित किया गया। श्रीगुरुजी ने स्वतः कलकत्ता जाकर निर्वासितों की दशा का निरीक्षण किया और उनके कष्ट के कारण वे अत्यंत व्यथित हुए।

कलकत्ता से श्रीगुरुजी दिल्ली गये तथा ७ मार्च को उन्होंने भारतीय जनता के नाम एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें "वास्तुहारा सहायता समिति" की सहायता करने के लिए सबसे अपील की गयी थी। इस वक्तंव्य में उन्होंने कहा था, "मैं हाल ही में बंगाल जाकर आया हूँ और अनेक सूत्रों से पूर्वी बंगाल की भी जानकारी प्राप्त करने के बाद मुझे विश्वास हो गया है कि वहां के हिन्दुओं की तुरंत सहायता करना नितांत आवश्यक है। वहाँ की जनता की दुर्दशा का वर्णन कर सकना असंभव है। पूर्वी बंगाल के लौहावरण को चीरकर अमानुषिक हत्याओं, लूटमार, आगजनी, बलात्कार तथा धर्मपरिवर्तन के समाचार निरंतर प्राप्त हो रहे हैं।

"यहाँ कह बात भूलने से काम नहीं चलेगा कि इन लोगों की दुर्दशा का प्रत्यक्ष कारण हमारे नेताओं द्वारा धर्म–भेद के आधार पर स्वीकृत देश का विभाजन ही है। यह आवश्यक है कि नेतागण स्वतः को तथा जनता को इस भ्रम से मुक्त करें कि विभाजन धर्मभेदमूलक नही, भौगोलिक है। वास्तविकता स्पष्ट है और

हमें उसका सामना करना चाहिए। जिनके हाथ में आज शासन की बागडोर है, उनके द्वारा सत्य स्वीकार न करने से काम नही चलेगा।

"विभाजनसंबंधी उपर्युक्त भ्रमपूर्ण धारणा के साथ ही भारत के सम्मुख यदा-कदा रखी जानेवाली विधर्मी राज्य की विकृत कल्पना भी राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में अडंगा सिद्ध हो रही है। इन डेढ करोड अभागे बंधुओं को हम क्या कहेंगे--स्वदेशी या विदेशी ? पुनर्वास मंत्री ने उन्हें विदेशी मानकर धारणा बना ली है कि उनका अनावश्यक बोझ हमारे ऊपर आ पडा है। लेकिन क्या यह धारणा शुद्ध है ? सौम्यतम शब्द का उपयोग करते हुए भी यही कहा जा सकता है कि यह विचार एकदम अमानुषिक है। यही नहीं, यह उन सबका निंदनीय अपमान तथा एक ऐसी बात है, जिसके कारण उनको अपने स्वाभाविक भारतीय राष्ट्रीयत्व के अधिकार से बलपूर्वक वंचित करते हुए पाकिस्तानी निर्दयता के सामने उनकी बलि दी जा रही है।"

अपने वक्तव्य में भारत के शासन से अपील करते हुए उन्होंने कहा, "शासन तथा विशेषतया प्रधान मंत्री से मेरी प्रार्थना है कि वे पाकिस्तान के पाशविक अत्याचारों के निराकरण का उपाय करें तथा सीमा के पार स्थित भाई-बहिनों का उद्धार करें। यदि हमारी नीति में अनिश्चय, द्विविधा तथा दुर्बलता रहेगी, तो डेढ करोड निरपराध भारतीयों के सर्वनाश का पाप शासन के मत्थे लगेगा और उसका सारा सम्मान धूल में मिल जायगा। वह चाहे तो पुलिस कार्रवाई करे या भारत के मुसलमानों को पाकिस्तान भेजकर उनके बदले में हिन्दुओं को भारत बुला ले। कोई भी कठोर उपाय तुरंत अमल में लाया जाय, जिससे हमारे ही हाड-माँस से बने डेढ करोड बंधु सुरक्षित रहकर जीवन बिताने में समर्थ हो सकें।"

इस वक्तव्य में शासन को उसका कर्तव्य बताते हुए श्रीगुरुजी ने जनता से कहा कि "वह अपना क्रोध ऐसे मार्गों से प्रकट न करे, जिसके कारण सरकार के मार्ग में अड़चनें पैदा हो जायँ। सभी को चाहिए कि तन-मन-धनपूर्वक सेवा के लिए आगे बढ़ें तथा हृदयमंदिर के द्वार खोलकर इन दुःखी भाई-बहिनों को स्थान दें।"

आत्मीयता से भरे इस वक्तव्य को भारत के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों ने प्रकाशित किया तथा सभी स्थानों के स्वयंसेवक वास्तुहारा सहायता समिति के लिए धन, वस्त्र तथा अन्य सामग्री एकत्र करने में लग गये। कुछ ही दिनों में लगभग ९ लाख रुपया एकत्र हो गया, जिसमें बर्मा तथा चीन आदि में रहनेवाले स्वयंसेवकों ने भी योग दिया था। इस सब सहायता के कारण समिति का कार्य अत्यंत तीव्रता से चलने लगा। समिति ने स्थान स्थान पर अपने शिविर खोले, जिनमें निर्वासितों को भोजन, वस्त्र, औषध आदि दी जाती थीं। समिति की ओर से नौकरियाँ दिलाने तथा बच्चों के लिए स्कूल चलाने का भी प्रबंध किया गया था। लगातार आठ मास तक पूर्वी बंगाल में अत्याचार जारी रहे तथा भारत आनेवाले बंधुओं की सहायता समिति की ओर से की जाती रही। सन् १९५१ में प्रकाशित समिति के कार्य-विवरण से पता चलता है कि असम तथा बंगाल में समिति ने अनेकों शिविर चलाये तथा फरवरी से अगस्त तक ८० हजार निर्वासितों को भोजन दिया, जिनमें सप्ताहों तक भोजन करनेवाले भी सम्मिलित हैं। डेढ लाख लोगों को वस्त्र तथा १ लाख से अधिक लोगों को चना, चूडा, दूध आदि दिया गया। इस संपूर्ण सेवा-कार्य में ५ हजार से अधिक स्वयंसेवकों ने कार्य किया।

वास्तुहारा सहायता समिति का कार्य जिन दिनों जारी था, श्रीगुरुजी ने ५ अप्रैल को सरदार पटेल को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने संघ की भूमिका स्पष्ट की। इस पत्र में वे कहते हैं--"आज के समान स्थिति में मेरी तथा संघ की नीति सदा स्पष्ट रही है। अपने देश में किसी भी प्रकार शांति भंग होना अनिष्टकारक है। परिस्थिति का लाभ उठाकर सरकार के विरुद्ध भावनाएं फैलाना भी अनुचित है।--यही हम लोगों की नीति है तथा इसी के अनुसार हम लोग शांतिपूर्वक पीडितों की सेवा का कार्य कर रहे हैं।"

इसके पश्चात् १२ अप्रैल को श्रीगुरुजी दिल्ली गये और उसी दिन दोपहर को उन्होंने सरदार पटेल से भेंट की। इस भेंट में उन्होंने सरदार पटेल को वास्तुहारा समिति तथा उसके कार्य की जानकारी दी। सरदार पटेल ने इस पर समाधान व्यक्त किया तथा बंगाल में संघ-कार्य के विस्तार के बारे में बातचीत करते हुए उसके निरंतर बढने की इच्छा व्यक्त की।

अप्रैल में एक अन्य उल्लेखनीय कार्यक्रम हुआ। दिल्ली के कतिपय संघहितैषी नागरिक तथा स्वयंसेवकों ने निश्चय किया कि श्रीगुरुजी को संघ-कार्यार्थ १ लाख १ हजार १ सौ १ रुपये की थैली भेंट की जाय। यह कार्यक्रम ३० अप्रैल को दिल्ली के आनंद पार्क में संपन्न हुआ, जिसकी अध्यक्षता महाशय कृष्ण ने की। इस अवसर पर दिये गये भाषण में श्रीगुरुजी ने कहा, "आप लोगों से मेरी यही प्रार्थना है कि आप संघ के प्रति अपने प्रेम को धन-समर्पण तक ही सीमित न रखते हुए स्वत: भी संघमय बनने का प्रयत्न करें।"

इस समय प्रकृति भी देश के लिए संकटों का सर्जन कर रही थी। वास्तुहारा समिति का कार्य चल ही रहा था कि असम

में भयंकर भूचाल आगया। १५ अगस्त के इस भूचाल से संपूर्ण प्रदेश डोल उठा और भीषण उथल-पुथल मच गयी। इसके कारण करोडों की संपत्ति नष्ट होगयी तथा सहस्रों बेघरबार होगये। ब्रह्मपुत्र ने अपनी धारा बदल दी, धरती में १२-१२ फीट की दरारें पड गयीं, पुल टूट गये तथा मकान टूट-टूट कर गिरने लगे। ऐसे कठिन समय में स्वयंसेवक स्वयंस्फूर्ति से आगे आये और उन्होंने कष्टों की चिंता न करते हुए सहायता तथा सेवा का कार्य शुरू किया। दिब्रूगढ में भूकंपपीडित सहायता समिति की स्थापना की गयी, जिसके अध्यक्ष मणिपुर राज्य न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्रीकामाख्याराम बरुआ थे। उनके नेतृत्व में गौहाटी तथा दिब्रूगढ में कार्यारंभ होते ही श्रीगुरुजी ने उनको एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा कि "पीडित बंधुओं की सेवा के लिए मनुष्य को अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करना चाहिए।"

सितम्बर के अन्त में श्रीगुरुजी इस समस्त कार्य का निरीक्षण करने के लिए स्वतः असम गये। कुंभीरग्राम हवाई अड्डे से दिब्रूगढ जाते समय मार्ग में संघ के सैकडों हितचिंतक उनके दर्शनार्थ एकत्र हुए थे। उन्होंने स्वयंसेवकों के सामने विचार रखते हुए कहा कि "संघटित तथा अनुशासनयुक्त समाज स्वतः ही अनेक गंभीर समस्याओं को हल कर सकता है।"

इसके पश्चात् उन्होंने निराश्रितों की दशा का निरीक्षण किया। निरीक्षण करते समय एक नागरिक ने उनसे पूछा, "क्या आज भारत में सर्वत्र ही निराशा नहीं दिखायी दे रही है?" उत्तर देते हुए उन्होंने कहा "आजतक के भारतीय इतिहास में अनेक अंधकारमय युग आकर चले गये हैं तथा हमने उन सब युगों को कुशलतापूर्वक पार किया है। सुसंघटित लोगों की बलवती इच्छा ही भीषण समस्याओं में से मार्ग निकालने में समर्थ होती है।"

भूकंपपीडित क्षेत्र का निरीक्षण करने के बाद श्रीगुरुजी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने कहा, "मुझे इस बात का संतोष है कि असम में रा. स्व. संघ ने सर्वप्रथम आगे बढकर संघटित सहायता-कार्य आरंभ किया है। भूकंपपीडित सहायता समिति भूकंप तथा प्रलयंकर बाढ से त्रस्त जनता की भली भाँति सेवा कर रही है। स्वयंसेवकों के जत्थों ने अपने आपको संकट में डालकर नदियों को पार किया तथा बाढ से घिरे ग्रामों में जाकर लोगों को अन्न तथा वस्त्र पहुंचाये।" वक्तव्य के अंत में उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि वह जनता की सहायता के लिए सेना का भी उपयोग करें।

प्रतिबंध हटवाने के लिए किये गये आन्दोलन के समय से रा. स्व. संघ की ओर विदेशों का ध्यान आकृष्ट होने लग गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका के पत्रकार श्री जे. ए. कुरन तथा आस्ट्रेलिया से प्रोफेसर जी. टी. विल्सन विशेष रूप से संघ की कार्यप्रणाली तथा दर्शन का अध्ययन करने के लिए भारत आये। इन लोगों ने स्थान-स्थान पर जाकर संघ-कार्य का निरीक्षण किया तथा कार्यकर्ताओं से मिलकर संघ के तत्वज्ञान की जानकारी प्राप्त की। श्रीकुरन ने अमेरिका जाकर "मिलिटॅन्ट हिन्दुइज्म इन इंडियन पालिटिक्स" नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने कहा है कि, "संघ ने अपने अनुशासनयुक्त संघटन तथा उत्साही अनुयायियों के बल पर हिन्दू जनता के लिए उसके उत्थान का मार्ग खोल दिया है।" इस पुस्तक में उन्होंने संघ के उज्ज्वल भविष्य की आशा व्यक्त करते हुए श्रीगुरुजी के असाधारण नेतृत्व की प्रशंसा की है।

१५ दिसंबर १९५० को, जब नागपुर में संघ के केन्द्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक जारी थी, गृहमंत्री सरदार पटेल के

दु:खद निधन का समाचार मिला। समाचार पाते ही शोक-प्रस्ताव स्वीकार किया गया और बैठक स्थगित कर दी गयी। ऐसे समय में, जब राष्ट्र को निपुण और शक्तिशाली नेतृत्व की अत्यधिक आवश्यकता थी, सरदार पटेल का निधन अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। श्रीगुरुजी को इस घटना से हार्दिक दु:ख हुआ और उन्हें सरदार के अंत्यदर्शन के लिए बंबई जाने की उत्कट इच्छा हुई, परंतु इतने कम समय में वहाँ पहुंचने का कोई साधन उपलब्ध नहीं था। उन्होंने मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल से फोन पर पूछा कि क्या वे बंबई जा रहे हैं और क्या उनके विमान पर एक अन्य व्यक्ति को भी स्थान मिल सकता है। दोनों प्रश्नों का उत्तर अनुकूल ही मिला और वे शुक्लजी के साथ ही बंबई गये। उनके पहुंचने से पूर्व ही शवयात्रा आरंभ हो चुकी थी। अत: वे कैंप कार्नर के समीप शवयात्रा में सम्मिलित हुए और उन्होंने संघ की ओर से सरदार की पार्थिव देह को पुष्पहार समर्पित किया।

इस दु:खद घटना के संबंध में एक वक्तव्य प्रकाशित करते हुए श्रीगुरुजी ने कहा, "सरदार वल्लभभाई पटेल के देहावसान का समाचार मुझे हृदयविदारक प्रतीत होता है। उनका निधन देश के लिए एक भीषण आघात है। हम सभी का, जिनके लिए सरदार पटेल जीवित थे तथा जिन पर उनका नितांत प्रेम था, यह कर्तव्य है कि देश को बलसंपन्न बनाकर उसे बाह्य आक्रमणों तथा आंतरिक कलह से बचाने के लिए कटिबद्ध हो जायँ तथा इस प्रकार उनके कार्य को पूरा करें। भारत माता के इस महान् सुपुत्र के लिए हमारी यही सर्वोत्तम श्रद्धांजलि होगी।"

सन् १९५१ का वर्ष आरंभ हुआ और मकरसंक्रमण के शुभ पर्व पर महाराष्ट्र ने श्रीगुरुजी का भव्य स्वागत किया। यह

समारोह पूना के डेक्कन जिमखाना क्रीडांगण में संपन्न हुआ। पेशवाकालीन शनिवार वाडे की आकृति का मंच बनाया गया था। ध्वजस्तभ के दोनों ओर छत्रपति शिवाजी तथा डॉक्टर हेडगेवारजी की प्रस्तर-प्रतिमाएं सुशोभित थीं। आरंभ में "मधुपर्क आमुचा स्वीकारा" गीत हुआ तथा तदनंतर महाराष्ट्र-प्रांत-संघचालक श्रीकाशीनाथपंत लिमये ने श्रीगुरुजी को पुष्पहार समर्पित करते हुए महाराष्ट्र की ओर से १ लाख रुपये की थैली भेंट की। यह धन प्रति व्यक्ति १ रुपया के ही हिसाब के एकत्र किया गया था और इस प्रकार इस समर्पण के पीछे एक लाख लोगों की श्रद्धा खडी थी।

इसके पश्चात् श्रीगुरुजी ने भाषण दिया, जिसमें उन्होंने सामयिक चर्चा के विषय, भाषावार प्रांत-रचना पर संघ की भूमिका स्पष्ट की। उन्होंने कहा कि "सुविधा के लिए प्रांतों की रचना करना एक बात है तथा उसके लिए आग्रही प्रवृत्ति धारण करके रक्त तक बहाने के लिए तैयार हो जाना बिलकुल दूसरी बात है। सुविधा की बात समझ में आ सकती है परंतु अपने ही बंधुओं का रक्त बहाने की बात कम से कम मेरी समझ में तो नहीं आती।" भाषण के अंत में श्रोताओं से उन्होंने कहा, "मुझे आपका धन नहीं, ध्यान चाहिए।"

उन्हीं दिनों बिहार में अकाल की काली छाया छाने लगी थी। संघ के स्वयंसेवक इस बार भी आगे आये तथा उन्होंने विपुल मात्रा में अनाज एकत्रकर वहाँ भेजा। बिहार की ही भाँति सन् १९५२ में मद्रास के रायलसीमा भाग में तथा महाराष्ट्र में अकाल पडा और स्वयंसेवकों ने सदा की भाँति तन-मन-धन से सेवा-कार्य किया। रायलसीमा में ३६ स्थानों पर केन्द्र स्थापित किये गये, जिनमें प्रतिदिन १८ हजार लोगों को भोजन दिया जाता था। इसी प्रकार सन् १९५२ के अंत में महाराष्ट्र के पूना, शोलापुर, नगर, धूलिया, जलगाँव, सतारा आदि जिलों में अकाल

का जोर हुआ, तब ४५ केन्द्र चलाकर स्वयंसेवकों ने पाँच सौ से अधिक ग्रामों में भोजन, वस्त्र तथा दवाओं का वितरण किया था। इस प्रकार लगभग साढे चार लाख रुपयों की सहायता दी गयी थी।

इस प्रकार के विविध सेवा-कार्यों के प्रति संघ का दृष्टिकोण विशुद्ध है। श्रीगुरुजी को यह कदापि पसंद नहीं कि कोई भी सेवा-कार्य जनता पर उपकार करने की भावना से किया जाय। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि, "सेवा हिन्दू जीवन-दर्शन की प्रमुख विशेषता है। निःस्वार्थ सेवा उसका स्वभाव ही है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ सेवा नहीं हो सकती। स्वार्थ का प्रवेश होते ही वह सेवा न रहकर व्यापार बन जाती है।" लेकिन साथ ही श्रीगुरुजी को यह भी उचित नहीं प्रतीत होता कि जनता की सेवा को बार-बार दौडकर जाना पडे। २९ अप्रैल १९५० को लिखे गये एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा, "सहायता के लिए अपील प्रकाशित करने को विवश करनेवाली परिस्थिति स्थायी रूप से बन जाना अत्यंत दुर्भाग्य की बात है। यही नहीं, अपितु यह देश के लिए कलंक है। ऐसी परिस्थिति निर्माण होने का किंचित भी अवसर न आये, इसी हेतु हम लोगों को प्रयास करना चाहिए।"

जैसे जैसे समय बीत रहा था, आम चुनाव के प्रचार में तीव्रता आ रही थी। आरंभ से ही राजनीति से अलिप्त रहने के कारण रा. स्व. संघ का चुनाव से संबंध ही नहीं था। इसी वर्ष के मार्च मास में हुई केन्द्रीय कार्यकारी मंडल की बैठक में बोलते हुए सरकार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी ने इस विषय में संघ की नीति को और स्पष्ट किया तथा कहा, "संघ के स्वयंसेवक राष्ट्रीय संस्कारों में पले हैं, इस कारण वे क्षुद्र, संकीर्ण एवं सांप्रदायिक संघर्ष निर्माण न होने देने के लिए तथा पारस्परिक विद्वेष के कारण केवल आलोचना तथा विध्वंस करनेवालों के सहायक न

बनकर नि:स्वार्थी तथा राष्ट्र के हितचिंतकों को ही चुनकर भेजेंगे। इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।''

चुनाव के कारण देश के वातावरण में जो एक गर्मी आ रही थी तथा जिसके नशे में लोग राष्ट्रीय हितों को भूलकर अनर्गल घोषणाएं करते सुनायी देते थे, उसकी चर्चा करते हुए गुरुजी ने मद्रास के अपने एक भाषण में कहा, ''सत्ता के लालच से सभी पक्षोपपक्षों में होड लग गयी है तथा वे राष्ट्रहित की भावना को भी भुला बैठे हैं। इसके लिए वे किसी भी साधन का उपयोग करने में नहीं हिचकिचाते। इतना ही नहीं तो प्रचार की धुन में वे अच्छी नौकरी तथा भरपेट रोटी दिलाने के आश्वासनों से लेकर, यदि विजयी नहीं हुए तो देश के टुकडे तक करा देने की धमकियाँ देते हैं।''

चुनाव का समय शांतिपूर्वक बिताने की दृष्टि से श्रीगुरुजी महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सिंहगढ नामक किले पर जाकर रहे। लोकमान्य टिळक भी समय-समय पर इस किले पर जाकर रहते थे। श्रीगुरुजी २५ दिसंबर को सिंहगढ पहुँचे और १८ जनवरी तक वहीं रहे। जिस स्थान पर लोकमान्य टिळक ठहरते थे, वहीं उनका भी निवास था। इन २०-२५ दिनों में उन्होंने वहाँ के शांत वातावरण में रहकर उपनिषद्, गीता तथा अन्य ग्रंथों का मनन किया। उनके साथ रहे दो कार्यकर्ता उन्हें ज्ञानेश्वरी का एक अध्याय पढकर सुनाते थे। सायं-प्रात: वे किले पर घूमने निकलते थे। लगभग ग्यारह वर्षों के बाद उन्हें यह अल्प सा विश्राम मिला था। इसी समय मकर संक्रमण का त्यौहार आया। उस दिन उन्होंने किले पर रहनेवाले सभी व्यक्तियों को अपने यहाँ बुलाया तथा उन्हें तिल–गुड बाँटा। समाज के सभी व्यक्तियों पर अखंड स्नेह की सुधा बरसानेवाले गुरुजी के द्वारा तिल–गुड प्राप्तकर इन पहाडी मरहठों ने कितनी धन्यता अनुभव की होगी!

गोवधनिषेध आन्दोलन

आम चुनावों का वातावरण समाप्त होते ही गुरुजी का दौरा पुनः आरंभ होगया। इस काल में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत को स्वाधीन कराने के उद्देश्य से "अभिनव भारत" नामक क्रांति-कारी संस्था की स्थापना की थी। इस समय, जब भारत स्वाधीन होगया, तब संस्था के कार्यों का सिंहावलोकन करने तथा भावी कार्य का स्वरूप तय करने के लिए संस्था का एक विशेष सम्मेलन बुलाया गया। स्व. डॉ. हेडगेवारजी का इस संस्था के सभी प्रमुख सदस्यों से घनिष्ट संबंध होने के कारण, उनके प्रतिनिधि के रूप में, श्रीगुरुजी को भी सम्मेलन का निमंत्रण भेजा गया। यह समा. रोह पूना में अत्यंत उत्साह से संपन्न हुआ तथा वीर सावरकर के आग्रह पर श्रीगुरुजी का भी भाषण हुआ। भाषण आरंभ होने से पूर्व सम्मेलन के सभापति सेनापति बापट ने उनका परिचय कराया।

तालियों की गडगडाहट में श्रीगुरुजी बोलने के लिए खडे हुए। उन्होंने कहा, "क्रांतिकारियों को पागल तथा सिरफिरे कह-कर अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया जाता है, किन्तु सत्य तो यही है कि ऐसे लोगों को क्रांतिकारियों की राष्ट्रभक्ति की उग्रता सहन नहीं होती। परंतु चूंकि मुझे क्रांति की ज्वाला को ही युवकहृदयों में प्रज्ज्वलित करने के लिए जीवनोत्सर्ग करनेवाले डॉ. हेडगेवारजी के पदचिन्हों पर चलने का सौभाग्य प्राप्त है, मैं क्रांतिकारियों का सादर अभिवादन करना तथा उन्हें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। स्थायी क्रांति के लिए दैनिक कष्ट उठाना, शांति के मार्ग से प्रयत्न करते रहना

आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि अपने हृदय में हम क्रांति की ज्योति सदैव जलती रखें। जनता का दीन–दु:खी जीवन समाप्त कर सच्चे अर्थ में सुखी और समृद्ध भारत का निर्माण करने एवं अराष्ट्रीय भावनाओं पर आघात करते हुए भारत याने हिन्दू राष्ट्र का जीवन परिपूर्ण करने के लिए इस समारोह के अवसर पर यह निश्चय हृदय में जगाना होगा कि यावच्चंद्रदिवाकरौ इस राष्ट्र का भगवा ध्वज गौरव से लहराता रहेगा।"

इस समारोह के कुछ ही दिन बाद विभिन्न शिक्षण-वर्गों का भ्रमण करते हुए श्रीगुरुजी नागपुर लौटे। नागपुर के शिक्षण-वर्ग के समारोप में उन्होंने जो भाषण दिया, वह हिन्दू राष्ट्र और संस्कृति का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से विवेचन करनेवाला था। इस भाषण में उन्होंने कहा, "हिन्दू जाति को दुर्बल रखना भारत ही नहीं अपितु संपूर्ण मानव-जाति की प्रतारणा है और इसीलिए हम यह कदापि सहन नहीं करेंगे कि हिन्दू समाज आत्मविस्मृत हो जाय। आज संसार के दो गुटों, रूस और अमेरिका की शक्तियाँ मदिरा पीकर उन्मत्त बने हाथियों की भाँति टकरा रही हैं। ऐसे समय उन दोनों ही शक्तियों के बीच खडे होकर, उनके भीतर की मानवता को जाग्रत करते हुए चिरंजीवी आत्मीयता का आवाहन करने की प्रचंड तथा पवित्र सामर्थ्य हिन्दुओं के प्रभावी संघटन द्वारा निर्माणकर मानव-जाति के कल्याण का कार्य संपन्न करना ही होगा।"

इसी भाषण में हिन्दुओं की वर्तमान आत्मघातक नीति का विवेचन करते हुए उन्होंने सर्वहितकारी सुवर्ण मध्य की कल्पना सम्मुख रखी। उन्होंने कहा, "हिन्दू व्यक्ति अत्यंत सहजता से विशालता को अपनाता है। इसीलिए कोई भी उसके पास पहुँचकर तथा अपने को उसका बंधु बताकर उसकी सभी वस्तुओं को बँटवा या छीन लेता है। इसी का परिणाम भारत के त्रिखंड होने में हुआ है। एक ओर जहाँ हिन्दुत्व से कम का

आग्रह रखना घातक है वहाँ दूसरी ओर हिन्दुत्व से अधिक का आग्रह रखना भी घातक है। इसीलिए अव्याप्ति और अतिव्याप्ति, दोनों के दोषों को टालते हुए काम करना चाहिए।"

इसी वर्ष अक्टूबर में कानपुर में एक सार्वभौम साधु सम्मेलन हुआ, जिसमें श्रीगुरुजी को भी आग्रहपूर्वक निमंत्रित किया गया। इस अवसर से लाभ उठाकर श्रीगुरुजी ने सम्मेलन में सबके सामने यह विचार रखा कि देश के असंख्य साधुओं को आत्मोद्धार के लिए साधना करते समय लोकोद्धार का भी ध्यान रखना चाहिए। उन्होंने कहा, "प्रज्वलित अग्निज्वाल को अभिव्यक्त करनेवाला अपनी संस्कृति का प्रतीक यह भगवाध्वज हमारे सम्मुख एक जीवमान आदर्श है। इसके संदेश को घर-घर पहुँचाने के लिए आप सब साधु बद्धपरिकर हैं। आवश्यकता है कि साधु लोग अपने व्यवहार में अपरिगृह निर्माण करें। हमें चाहिए कि समाज में ऐसी जाग्रति उत्पन्न करें कि उसे फिर से एक बार श्रेष्ठता का अनुभव हो और उसके बलविक्रम के सामने कोई भी दुष्ट ठहर न सके।" प्रवृत्ति से संन्यस्त रहकर अपने संपूर्ण कर्तृत्व को समाज-सेवा के लिए समर्पित करनेवाले श्रीगुरुजी का यह कथन पहले स्वतः करके बाद में बतानेवालों की श्रेणी का ही था।

इस सम्मेलन से पूर्व ९ तथा १० सितम्बर को नागपुर में अ. भा. प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में देश के संघकार्य का ब्यौरा लेने के बाद दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। पहला प्रस्ताव स्वदेशी तथा दूसरा गोवधबंदी के संबंध में था। दूसरे प्रस्ताव के द्वारा देश में गोवधबंदी कराने के लिए आन्दोलन छेडना निश्चित किया गया था।

जहाँ तक स्वदेशी का संबंध है, संघ के सभी व्यवहारों में, उसका उद्गम ही स्वदेशी की ज्वलंत भावना से होने के

कारण, स्वदेशी का दर्शन किया जा सकता है। उसका नाम, हिन्दू राष्ट्र के प्रति उसकी निष्ठा, भगवाध्वज, संस्कृत-प्रार्थना, उत्सव, शारीरिक शिक्षा तथा उसकी आज्ञाएं आदि सभी अंगों से स्वदेशी का ही उत्कट भाव प्रकट होता है। अत: प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी दशा में स्वदेशी का प्रस्ताव पुनः क्यों किया गया। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् बाह्य परिस्थिति के कारण जो अनुभव हुआ, वही इस प्रस्ताव का कारण था। स्वतंत्रता से पहले विदेशी शासकों के प्रति घृणा होने के कारण लोगों में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति एक सहज आकर्षण था, परंतु बाद में परिस्थिति बदल जाने के कारण वह समाप्त होगया। इस संबंध में श्रीगुरुजी ने कई बार स्पष्ट रूप से कहा भी है कि, "अंग्रेजों के चले जाने के बाद विदेशी वस्तुओं का प्रचार बढ गया है। इसका कारण उस समय की स्वदेशी में अंग्रेज-विरोध की भावना का होना था न कि विशुद्ध राष्ट्रप्रेम की भावना का।" इसी कारण विशेष रूप से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, जिससे स्वयंसेवकगण जाग्रत रहकर जनता में स्वदेशी की भावना को फैलायें। प्रस्ताव के द्वारा सभी स्वयंसेवकों को आदेश दिया गया था कि वे दृढतापूर्वक स्वदेशी का व्रत लें तथा जनता को भी स्वदेशी के उपयोग की प्रेरणा दें।

इस प्रस्ताव से पूर्व तथा बाद में भी श्रीगुरुजी अपने आचरण तथा चर्चा के द्वारा इस महत्वपूर्ण विषय की ओर स्वयंसेवकों का ध्यान दिलाते रहे हैं। स्वदेशीसंबंधी उनकी धारणा एकदम इतनी अविवेकपूर्ण नहीं कि अन्य राष्ट्रों की कोई भी वस्तु छुई तक न जाय। उनकी प्रवृत्ति में सदा अपने राष्ट्रजीवन को समृद्ध बनाने के लिए उस वृक्ष जैसी सिद्धता पायी जाती है, जो चारों ओर अपनी जडें फैलाकर आवश्यक जीवन-रस खींचता रहता है। इंग्लैंड में अध्ययनार्थ गये एक कार्यकर्ता को उन्होंने लिखा था, " वहाँ के जन-जीवन में पायी

जानेवाली आशामयी सजीवता, उत्साह, पारस्परिक विश्वास, स्नेह तथा आनंद आदि गुणों को साथ लेकर भारत लौटें, तो अच्छा होगा। उन लोगों में हमारी दृष्टि से कुछ त्रुटियां हो सकती हैं, किन्तु हमारे लिए उन त्रुटियों की ओर ध्यान न देना ही उत्तम है।"

श्रीगुरुजी कहा करते हैं कि स्वदेशी के प्रति प्रेम राष्ट्र का स्थायी भाव होना चाहिए। वर्धा के डॉ. कुमारप्पा को उन्होंने लिखा था कि "स्वदेशी के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि स्वराज्य-प्राप्ति के शस्त्र निर्माण करने और तदनन्तर उनको सुरक्षित रखने का आधार स्वदेशी ही है। हम लोगों ने भी अपने कार्य के द्वारा इस व्रत के आचरण का आग्रह अधिक तीव्रता से प्रसारित करने का निश्चय किया है।"

फिर भी श्रीगुरुजी सदा यह बताते रहते हैं कि इस प्रकार साग्रह स्वदेशी का व्रत निभाते हुए भी हमको इस बात की दक्षता बरतनी चाहिए कि हमारे व्यवहार में अतिरेक के कारण लोक-विलक्षणता न आ पाये, क्योंकि उसमें लोगों का झुकाव अच्छाइयों का अनुकरण करने की ओर न होकर उसका उपहास करने की ओर ही अधिक रहता है। यह कहते हुए एक बार उन्होंने एक विक्षिप्त का किस्सा सुनाया था, जो विदेशी घडी का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा के कारण अपने गले में एक रेतघडी लटकाये फिरता था तथा घंटों को गिनने के लिए हर घंटे के बाद अपने मस्तक पर एक रेखा खींच लिया करता था।

वे छोटी-छोटी बातों के द्वारा स्वदेशी की ओर स्वयंसेवकों का ध्यान दिलाते रहते हैं। हाथ धोने के लिए गलती से विदेशी साबुन दिया जाने पर वे राख से धोकर धीरे से कहेंगे कि विदेशी साबुन से तो राख अच्छी। इसी प्रकार वे वेशभूषा भी स्वदेशी रखने का आग्रह करते हैं। पूना में एक संघ-कार्यकर्ता के यहाँ

एक बार वे विवाह के निमंत्रण पर गये थे। वहाँ दूल्हे से लेकर पानसुपारी बाँटनेवालों तक सभी का अंग्रेजी वेश देखकर गुरुजी को दुःख हुआ, अतः उन्होंने नवदंपति को आशीर्वाद दिया और पुष्पहार लिये बिना ही चलने को उद्यत हुए। इस संबंध में जब उनसे आग्रह किया गया, तब उन्होंने कहा, "मैंने सोचा था कि विवाह किसी हिन्दू के यहाँ होगा, परंतु यहाँ तो ठाठ ही और हैं।" यह कहकर वे मोटर में बैठ गये और चल दिये। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरुजी ऐसा आघात वहीं करते हैं, जहाँ उसका गलत अर्थ लगाया जाने की संभावना नहीं होती। पूना के एक युवक ने मकर–संक्रमण के अवसर पर उन्हें जो अभिनंदनात्मक कविता भेजी, उसके ऊपर अंग्रेजी में Greetings लिखा हुआ था। उसे उत्तर भेजते हुए गुरुजी ने लिखा, "कविता के कागज पर अंग्रेजी में लिखा Greetings मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं सोचता हूँ कि हमें अंग्रेजी का प्रयोग करने के मोह से बचना चाहिए।" इसी प्रकार एक बार एक युवक ने हस्ताक्षर माँगते हुए उन्हें पत्र लिखा। इसके उत्तर में गुरुजी ने लिखा— "मेरे इस पत्र से आपकी हस्ताक्षर की माँग तो पूर्ण हो जायगी किन्तु हस्ताक्षर माँगने का आपका यह उद्योग मुझे उचित नहीं लगता। यह अंग्रेजी ढंग के उन शौकों में से एक है, जिनको बुद्धि की दासता के कारण हमारे यहाँ के युवकों ने अपनाया है।" प्रकट भाषणों में भी उन्होंने अनेक बार कहा है कि "क्या आप लोगों ने कभी इस बात की ओर ध्यान दिया है कि हमारे घरों में हमारी बहिनें सौभाग्यचिन्ह के रूप में जो कुंकुम लगाती हैं उसके लिए प्रयुक्त रंग जर्मनी का बना होता है।" नारी-सौंदर्य की प्रतियोगिताएं तो भारत के लिए पूर्णतः विदेशी हैं। जिस समय भारत में भी "मिस इंडिया" के चुनाव का समाचार प्रकाशित हुआ, उस समय इस विषय पर टिप्पणी करते हुए गुरुजी ने कहा, "We really miss India in this whole affair."

क्रिकेट के खेल के विषय में भी उन्होंने अपनी असहमति इसी कारण व्यक्त की है। वे कहते हैं, "जहाँ जहाँ अंग्रेज गया, वहाँ वहाँ उसने अपनी प्रभुता के प्रतीकस्वरूप क्रिकेट का खेल रख छोड़ा है। ऐसे खेल पर राष्ट्र के करोडों रुपये व्यय करना हृदय की दासता बनाये रखने के लिए ही उन्हें व्यय करने के समान है।"

श्रीगुरुजी सदैव इसी दृष्टि से सोचते हैं कि जीवन के अंग-प्रत्यंग में स्वदेशीपन ही प्रकट हो। अंग्रेजी तिथि तथा सन् के स्थान पर भारतीय तिथि तथा संवत् और पाश्चात्य पद्धति के चौबीस घंटों के दिन के स्थान पर भारतीय पद्धति की ६० घटिकाओं का दिन प्रचलित करना उनकी दृष्टि से स्वदेशी-करण का आवश्यक अंग है। इस प्रकार की घडी बनाने का विचार उन्होंने कुछ घडी-निर्माताओं के समक्ष प्रकट भी किया है।

स्वदेशी की इसी भावना से संघ के गोहत्यानिषेध आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। इस विषय पर जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसमें कहा गया कि "गोसंवर्धन के संबंध में भारत सरकार की अस्थिर नीति पर यह सभा असंतोष प्रकट करती है। हमारे राष्ट्र में गोवंश-संवर्धन का विषय केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्व का नहीं है, अपितु वह हमारी सांस्कृतिक श्रद्धा तथा राष्ट्रीय एकात्मता का प्रतीक भी है। इसीलिए इस सभा के मत में, लगातार पाँच वर्ष से गोहत्याबंदी की माँग की, भारत सरकार के द्वारा उपेक्षा नितांत अनुचित है।

"यह सभा निश्चय करती है कि देश भर में जनमत को संघटित कर शासनकर्ताओं को गोवंश-संवर्धन के पवित्र कर्तव्य को पूरा करने का स्मरण कराया जाय। अतः यह सभा सभी स्वयंसेवकों का आवाहन करती है कि वे सभा-जुलूसों के द्वारा कोटि कोटि भारतीय जनता की भावना को एक ऐसी दृढ तथा

देशव्यापी इच्छा–शक्ति में परिणत करें, जिससे भारत की जनतंत्री सरकार के लिए गोवंशविनाश पर कानूनी प्रतिबंध लगाना आवश्यक हो जाय।" इसी प्रस्ताव में भारतीय जनता तथा देश के विभिन्न दलों से इस पवित्र कार्य में संघ को सहयोग देने की अपील भी की गयी थी।

प्रस्ताव के अनुसार गोहत्या बंद कराने के प्रश्न पर देश के नागरिकों के हस्ताक्षर एकत्र करने की योजना बनायी गयी तथा इससे सर्वत्र शाखाओं को अवगत कराया गया। हस्ताक्षर–संग्रह का कार्य २६ अक्तूबर अर्थात् गोपाष्टमी से २२ नवम्बर तक करना था। देश भर में संकलित हस्ताक्षर–पत्र राष्ट्रपति महोदय को देने का निश्चय किया गया था। हस्ताक्षर–संग्रह के अभियान में जनमत जाग्रत करने के लिए सभा, जुलूस, प्रदर्शनी, पोस्टर, पत्रक आदि विविध उपायों का अवलंबन करने की सूचना सर्वत्र पहुँचायी गयी तथा उन आवेदनों की प्रतियाँ भी भेजी गयीं, जिन पर हस्ताक्षर कराने थे।

१३ अक्तूबर को श्रीगुरुजी ने एक अपील प्रकाशित की, जिसमें कहा गया था कि, "इस कार्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण भाग, गोवंश–हत्याबंदी की माँग का समर्थन करनेवाले कोटि–कोटि नागरिकों के हस्ताक्षरों से युक्त एक आवेदन पत्र को परमश्रेष्ठ राष्ट्रपति, देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद की सेवा में उपस्थित करना है। इस राष्ट्रव्यापी कार्य के लिए संघ के स्वयंसेवक गाँव–गाँव तथा घर-घर हस्ताक्षर–संग्रह करते हुए घूमेंगे। मेरी सभी से आग्रहपूर्वक प्रार्थना है कि सभी वर्गों एवं दलों के नागरिक अत्यंत उत्साह के साथ इस पवित्र कार्य में योगदान करें।

"रा. स्व. संघ ने जनता के सह ोग के बल पर निर्वासित बंधुओं की सहायता तथा अकालपीडितों, भूकंपपीडितों आदि सभी की सेवा के कार्य सफलतापूर्वक किये हैं। संघ के प्रतिदिन

के कार्य की शक्ति भी जनता के प्रेम पर ही आधारित है। इसीलिए भारतीय जीवन की मानबिन्दु, गोमाता की हत्या को प्रतिबंध द्वारा बंद कराने के लिए आरंभ किये गये इस कार्यक्रम में भी उसका सारा बल जनता पर ही निर्भर है।

"अतः सभी से मेरी साग्रह प्रार्थना है कि सब लोग तन-मन-धनपूर्वक संघ की सहायता करें, संघ के स्वयंसेवकों के हस्ताक्षर-संग्रह, जुलूसों, सभाओं आदि कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लें तथा पक्षनिरपेक्ष और स्वयंस्फूर्त सहयोग से इसे सफल कर दिखायें।"

लगभग एक मास तक देश भर में इस कार्यक्रम को चलाने के लिए लाखों रुपये की आवश्यकता थी। १५ अक्तूबर को श्रीगुरुजी ने निधि के लिए भी एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि "इस कार्य के लिए, जो उज्ज्वल देशभक्ति से परिपूर्ण, पवित्र और सभी पक्षभेदों से परे है, जनता स्वतः अत्यंत उदार आर्थिक सहयोग देकर उपकृत करेगी।"

इसके साथ ही श्रीगुरुजी ने देश के सैकडों नेताओं तथा समाचार-पत्रों को आन्दोलन की भूमिका स्पष्ट करते हुए उनसे सहयोग मांगनेवाले परिपत्र भेजे। ये परिपत्र देश के प्रमुख लेखकों, पंडितों, धर्मगुरुओं, संत-महंतों तथा सामाजिक कार्य-कर्ताओं को भी भेजे गये थे। इन परिपत्रों में कहा गया था कि "जब हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा के यच्चयावत् सभी श्रद्धा-स्थान और मानबिन्दु पूर्ण गौरव के साथ सारी जनता के सम्मुख श्रेष्ठ एवं पूज्य बनकर रहेंगे, तभी स्वतंत्रता की सच्ची भावना जाग्रत होगी।...और इसीलिए यह नितांत आवश्यक है कि गोवध पूर्ण रीति से बंद हो जाय।"

इन परिपत्रकों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों को श्रीगुरुजी ने स्वतंत्र पत्र भी लिखे थे। स्वातंत्र्यवीर सावरकर को लिखे पत्र में इस आन्दोलन का हेतु अत्यंत उत्कटता से प्रकट हुआ था। उसमें उन्होंने लिखा था, "अपने श्रद्धाकेन्द्रों के बारे में

अनादर तथा अनास्था और गोवंश के समान पवित्र श्रद्धास्थान की परकीयों द्वारा की जा रही हत्या निर्लज्जतापूर्वक देखते रहने की आदत के कारण ही लोगों ने भारत माता का अंग-भंग होने दिया। वह एक जघन्य पाप था। आज भी वह पाप जारी है। कहीं भी यह स्वाभिमान दिखायी नहीं देता कि इस कलंक को धोये बिना मन को समाधान नहीं मिलेगा। इतना ही नहीं अपितु इस कृष्णतम पापकृत्य का समर्थन करने के लिए भी बडे बडे महाभाग आगे आते हैं। हमारी परंपरा के अनुसार गोमाता तथा भूमाता एक ही हैं। अतः यह नितान्त असंभव है कि गोमाता की हत्या का प्रोत्साहन देनेवाले या उस ओर दुर्लक्ष करनेवाले लोग भारतमाता के सच्चे अर्थों में भक्त हो सकते हैं।"

श्रीगुरुजी के इन पत्रों तथा परिपत्रों का समर्थन करनेवाले उत्तर चारों ओर से प्राप्त हुए, जिनमें यह विश्वास व्यक्त किया गया कि संघ द्वारा उठाया गया कोई भी कार्य देश भर में विशाल परिमाण पर खडा हो सकता है। इसके साथ ही इन पत्रों में यह भी प्रार्थना की गयी थी कि इस आन्दोलन के बाद संघ अन्य प्रश्नों के लिए भी खडा हो। हिमालय आयुर्वेद संघ के अध्यक्ष ने लिखा था कि आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के रूप में स्वीकृत कराने के लिए संघ आन्दोलन करे। इसी प्रकार महाराष्ट्र के एक ख्यातनामा संपादक ने सुझाया था कि संघ रचनात्मक कार्य के रूप में ग्राम-सुधार का कार्य हाथ में ले।

इस प्रकार समस्त देश में व्यापक परिमाण में आन्दोलन चलाने के लिए विपुल परिमाण में साहित्य छपाया गया। इस छपाई की कल्पना इसी एक बात से हो सकती है कि सीने पर लगाने तथा पत्रों पर चिपकाने के लिए सवत्स धेनु के जो छोटे छोटे चित्र नागपुर में छपाये गये, उनकी संख्या तीन करोड थी। अन्य विविध पत्रक-पत्रिकाओं का परिमाण भी इसी भाँति था।

गोपाष्टमी के दिन अत्यंत उत्साह के साथ सर्वत्र आन्दोलन आरंभ हुआ। सहस्त्रों स्थानों पर जुलूस निकाले गये, सभाएं की गयीं तथा सरकार से गोहत्याबंदी की माँग करनेवाले प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, जिनकी प्रतियाँ राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री तथा राज्यपालों को भेजी गयीं। बंबई में लाखों जनता के समक्ष श्रीगुरुजी के ओजपूर्ण भाषण से तथा दिल्ली में सरकार्यवाह श्रीभैयाजी दाणी के उद्बोधन से आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ।

श्रीगुरुजी का यह भाषण अपनी सुस्पष्ट तथा विशुद्ध विचारधारा के कारण अत्यंत विख्यात हुआ तथा उससे आन्दोलन को बहुत बल मिला। इस भाषण में उन्होंने कहा कि "दासता के कारण उत्पन्न प्रत्येक बात को नष्ट कर विदेशी आक्रमण का नामोनिशान तक मिटा देना किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए। इस दृष्टि से सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार अत्यंत उचित हुआ है। जबतक रहनसहन, विचारप्रणाली तथा जीवन की ओर देखने का दृष्टिकोण परकीय विचारों से व्याप्त रहता है, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। हजारों वर्षों की परवशता के कारण निर्मित जितने भी ऐसे प्रश्न हों, उन्हें हल करते हुए संसार के सभी राष्ट्रों से अपने राष्ट्र को आगे ले जाने की उत्कट अभिलाषा तथा आकांक्षा का व्यक्ति व्यक्ति के हृदय में उदय होना ही स्वतंत्रता की सच्ची अनुभूति है। आज भारत को अपना पालन-पोषण करनेवाली मातृभूमि मानने की श्रद्धा तथा धर्मनिष्ठा की दोनों ही बडी बातें सामान्य व्यक्ति के हृदय से लुप्त हो गयी हैं। यदि हम इतिहास के प्रति अपने मन की श्रद्धा को इस तरह घटाते जायेंगे, तो कुछ दिनों में हमारे पास एक भी श्रद्धास्थान नहीं बचेगा। और यदि ऐसा होता है तो किस आधार पर राष्ट्र–मंदिर को गगनस्पर्शी बनाया जा सकेगा तथा तारागणों को स्पर्श करने के लिए हम लोग उडान कैसे भरेंगे?"

मातृभूमि, धर्म तथा इतिहास के प्रति श्रद्धा क्षीण हो जाने की चर्चा करते हुए गुरुजी ने आगे कहा, "जिस राष्ट्र की श्रद्धा समाप्त होगयी हो, उसके अभ्युदय की आशा करना व्यर्थ है। हम अपने राष्ट्र की उन्नति करना चाहते हैं परंतु प्रत्यक्षत: मतभिन्नता, विभिन्न संप्रदाय, अलग अलग राजनीति आदि के कारण चारों ओर छिन्नविच्छिन्नता ही दिखायी पडती है। अत: हम लोगों ने सोचा कि राष्ट्र के एक सर्वसामान्य श्रद्धाकेन्द्र को लेकर सबको एक ही भूमिका पर खडा करने का प्रयत्न अत्यावश्यक है। वह भूमिका कौन सी ?---हमारे देश के सभी पंथोपपंथ, विभिन्न राजनीतिक दल आदि सभी के हृदय में गोवंश का नाम लेते ही श्रद्धा की अतुलनीय भावना जाग्रत हो जाती है। इसलिए "गौ" हम सभी को एकत्र कर सकती है। इस पर हम सब विचार करें। पुन: अंतर्निहित श्रद्धा का जागरण करें। राष्ट्रजीवन में तथा हृदय में आत्यंतिक तेजस्विता निर्माण करें। एक साथ बैठकर खुले अंत:करण से चर्चा कर, परस्पर उत्कृष्ट विचार–विनिमय कर राष्ट्र की उन्नति का समुचित मार्ग खोज निकालें।"

इसके बाद उन्होंने कहा कि हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों तथा ईसाइयों को भी इस आन्दोलन में सहयोग देना आवश्यक है। उन्होंने कहा, "मान लीजिये कि यहाँ बैठे लोगों में से कोई अमेरिका का नागरिक बनने का विचार करता है तथा उसका अधिकार भी प्राप्त कर लेता है। तब वहाँ जाकर उसे किस ध्वज का अभिमान रखना चाहिए ? भारत के चक्रांकित तिरंगे का ? नहीं। उसे तो अमेरिका के ही ध्वज का अभिमान रखना होगा। फिर राष्ट्रपुरुष के नाते वह किसका गौरव करेगा ? जार्ज वाशिंगटन तथा अब्राहम लिंकन का।---वहाँ भगवान् राम तथा कृष्ण की पूजा करने की आपको मनाही नहीं होगी परंतु वहाँ के राष्ट्रीय श्रद्धाकेन्द्रों को भी अपनाना पडेगा।---इसी प्रकार ईसाई तथा मुसलमानों को भी भारत के जीवन के साथ समरस होकर यहाँ की नागरिकता

के नियमों के अनुसार ही रहना होगा। यहाँ के राष्ट्रजीवन का ही आदर्श सम्मुख रखकर, यहाँ के उत्सवों को ही अपने राष्ट्रीय उत्सव मानते हुए, यहाँ के राष्ट्रपुरुषों का जयजयकार करना होगा। मैं तो कहूँगा कि उन्हें छत्रपति शिवाजी महाराज की ही जय बोलनी होगी। ———उनके लिए यह नितांत आवश्यक होगा कि वेदों के ही नहीं तो उससे भी पूर्व के युग की जीवन–धारा के साथ घुल-मिलकर, भारतीय श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेकर, उनकी श्रद्धा को अपनाकर फिर चाहे तो मस्जिद में जायँ और पैगंबर मुहम्मद साहब का नाम लें अथवा गिरजे में जायँ और बाइबिल पढें। इस विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। उन्हें अपने धर्मों का पालन व्यक्तिगत धर्मों के ही रूप में करना होगा। सामूहिक रूप में तो उन्हें यहाँ प्राचीन काल से चले आ रहे जीवन–प्रवाह को ही अपनाना होगा। मेरा विचार है कि इस प्रकार सोचने के बाद ही सुव्यवस्थित राज्य, प्रगतिशील राष्ट्रीय जीवन और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अपने राष्ट्र तथा राज्य की समुचित उन्नति करने की प्रेरणा उत्पन्न हो सकेगी।''

उसके बाद गौ से होनेवाले लाभों की जानकारी देते हुए उन्होंने बताया कि १०० रु. व्यय करने पर गौ कम से कम ५०० रु. का लाभ देती है। देश में प्रतिवर्ष डेढ करोड गौओं की हत्या की जाती है और गोपाल की इस भूमि में गोधन सबसे कम हो गया है, फिर भी सरकार को कानून बनाने की इच्छा नहीं होती। ''दण्डस्य भयात् सर्वम्'' के न्याय के अनुसार जिस प्रकार सरकार ने मद्यनिषेध के लिए कानून बनाया है, उसी प्रकार उसे गोहत्या पर भी प्रतिबंध लगाना चाहिए। केवल धनप्राप्ति के लिए गोहत्या जारी रखने की भाषा बोलनेवालों को खरी-खरी सुनाते हुए उन्होंने कहा, ''श्रद्धा को सब प्रकार से धूल में मिलाते हुए तथा राष्ट्रीय जीवन की अवहेलनाकर प्राप्त होनेवाले असंख्य डालरों पर थूकने तक को मैं महापाप मानता हूँ।''

यह स्पष्ट करते हुए कि यह कार्य सभी को करना है तथा इसका श्रेय भी सारी जनता को मिलेगा, श्रीगुरुजी ने कहा, "यह श्रेय छीन लेना हो, क्योंकि कहते हैं कि वह हमें प्राप्त होने जा रहा है, तो सरकार को तुरंत कानून बनाना चाहिए। कानून बनने पर संघ को जनमत-संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तब हम लोग अपने अपने स्थान पर जाकर आनंद से संघ के दैनिक कार्यक्रम करते रहेंगे।"

आन्दोलन प्रारंभ होते ही संघ के हजारों स्वयंसेवक घर-घर जाकर राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किये जानेवाले आवेदनपत्र पर हस्ताक्षरों का संग्रह करने लगे। साथ ही समाचार-पत्रों, सभाओं जुलूसों आदि के द्वारा जनमत जाग्रत करने का कार्य जारी था। कीर्तनकारों, प्रवचनकारों तथा कवियों ने भी इसमें अपना क्रियात्मक योग दिया। चार से कम सप्ताह की अल्पावधि में ही स्वयंसेवकों ने देश को ऊपर से नीचे तक मथ डाला। वे साइकिलों पर तथा पैदल भी गाँव-गाँव घूम रहे थे। उन्होंने बाजारों तथा मेलों में पहुँचकर हस्ताक्षर एकत्र किये। अपढ तथा निरक्षर लोगों से अँगूठे लगवाये गये। पंढरपुर, आळंदी, काशी, गया आदि तीर्थों में तो साधुओं ने ही यह काम अपने जिम्मे ले लिया। डाक में छोडी जानेवाली चिट्ठियों पर सवत्स धेनु के टिकट चिपकाये जाने लगे। सिनेमा तथा अन्यत्र इस संबंध में फलक तथा प्रचार-चित्र दिखाये गये। चारों ओर हस्ताक्षर लेनेवालों का ऐसा जाल सा बिछ गया कि एक सप्ताह में ही ऐसे लोग बहुसंख्या में मिलने लगे जो कहते थे कि हम तो हस्ताक्षर पहले ही कर चुके हैं। इस व्यूह -रचना से प्रभावित होकर पूना के एक समाचार-पत्र ने व्यंग्य-चित्र प्रकाशित किया, जिसमें दर्शाया गया था कि सर्वत्र उपस्थित स्वयंसेवकों को बार-

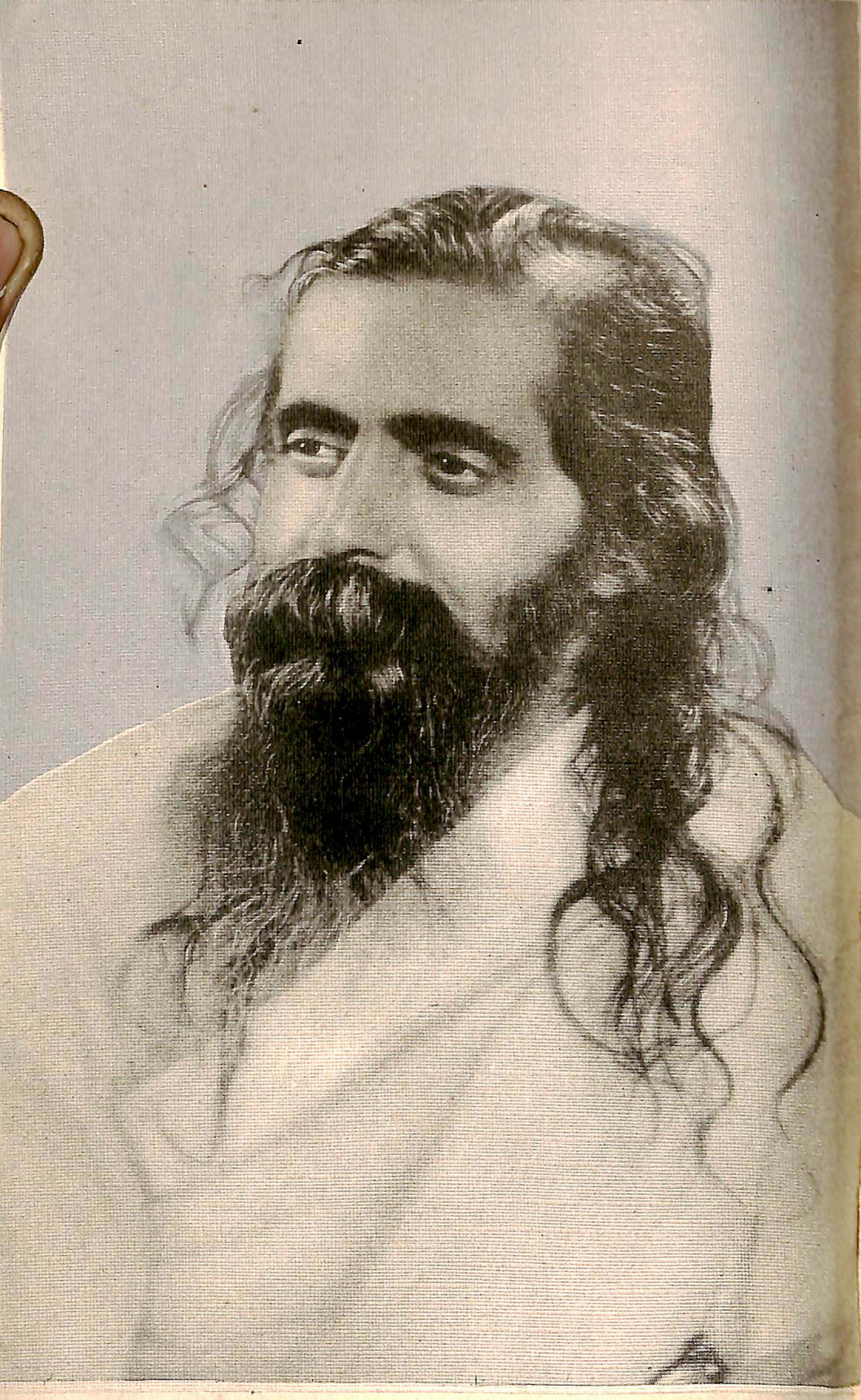

बार बार जवाब देने की असुविधा से बचने के लिए लोग गले में "हमने हस्ताक्षर कर दिये हैं" की तख्तियाँ लटकाये चले जा रहे हैं।

अनेक सुप्रसिद्ध नेताओं ने आन्दोलन का समर्थन करनेवाले वक्तव्य प्रकाशित किये तथा कुछ व्यक्तियों ने उसका विरोध भी करने का प्रयत्न किया। कुछ लोगों को एक गुट की भावनाओं के लिए लाखों मुसलमानों का खाद्यान्न छीन लेना अनुचित प्रतीत हुआ। काँग्रेस ने प्रारंभ में दल के नाते कोई भी विरोध नहीं किया। अकेले पं. नेहरू ही ऐसे थे, जिन्होंने आन्दोलन को संघ का राजनीतिक स्टंट बताया। दिनोंदिन जैसे जैसे आन्दोलन का प्रभाव बढने लगा, काँग्रेस के अन्य नेताओं में भी विरोध की भावना उत्पन्न हुई। अंततः काँग्रेस के मंत्री श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने वक्तव्य प्रकाशितकर काँग्रेसियों को आन्दोलन में सहयोग देने से मना कर दिया। किन्तु इस पर भी लाखों काँग्रेसियों तथा अहिन्दुओं ने हस्ताक्षर किये। अत्यन्त उत्साह से कार्य कर स्वयंसेवकों ने २३ नवम्बर को यह अभियान पूर्ण किया।

भारत के सभी भागों से कुल मिलाकर पौने दो करोड के लगभग हस्ताक्षर एकत्र हुए। स्वयंसेवक तथा अन्य लोगों को मिलाकर ५४ हजार व्यक्तियों ने लगभग ८४ हजार ग्रामों का भ्रमण किया। सब प्रान्तों का यह हस्ताक्षर-संग्रह ५ दिसम्बर तक दिल्ली भेजा गया तथा ७ दिसम्बर को उसकी प्रचंड शोभा-यात्रा निकाली गयी। प्रत्येक प्रान्त के हस्ताक्षर-पत्र स्वतंत्र बैल-गाडियों पर लदे थे, जिन पर उनका नाम तथा आँकडे बतानेवाले फलक लगे थे। डेढ़ मील लंबी इस शोभा यात्रा के दोनों ओर दर्शकों की अपार भीड थीं तथा "गोमाता की जय" से राजधानी का आकाश गूंज उठा।

सायंकाल रामलीला मैदान पर यह यात्रा समाप्त हुई तथा आम सभा हुई। सभा में लाखों की संख्या में जनता उपस्थित

थी। सभा में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, सद्‌गुरु प्रतापसिंह, बैरिस्टर निर्मलचंद्र चटर्जी, महाशय कृष्ण आदि के भाषणों के बाद श्रीगुरुजी का भी भाषण हुआ। उन्होंने आन्दोलन में सहयोग देनेवाले सभी व्यक्तियों को धन्यवाद देते हुए बताया कि शाखा के दैनिक कार्यक्रम विधिवत् जारी रखकर ही ये हस्ताक्षर-संग्रह किये गये हैं। उन्होंने कहा कि "हमारे कार्य का केन्द्रविन्दु तथा मूलाधार संघ का दैनिक कार्यक्रम ही है। उनकी उपेक्षा पर मेरा भरोसा नहीं है। जड काटकर वृक्ष को हरा भरा रखने की कला मुझे नहीं आती। जड हो तभी वृक्ष रह सकता है, यह जानकर हम लोग जड को पानी देने में ही विश्वास रखते हैं। यही कारण है कि हम लोगों ने दैनिक संघकार्य की ओर दुर्लक्ष्य न करते हुए ही हस्ताक्षर-संग्रह किया है।"

इसके पश्चात् हस्ताक्षर-संग्रह में हुए कुछ अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा "प्रारंभ में मुसलमान, ईसाई आदि सभी संप्रदायों के व्यक्तियों ने आन्दोलन का समर्थन किया किन्तु पं. नेहरू के विरोध करते ही उनके मन में यह भावना उत्पन्न होगयी कि हिन्दू समाज से रूखापन बरतने में अब कोई आपत्ति नहीं। जो मुसलमान पहले हस्ताक्षर देने के लिए तैयार थे, उन्होंने ही अब 'हिन्दुओं से अलिप्त रहने में ही हमारा लाभ है'–तक कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं किया।"

इसके पश्चात् पं. नेहरू के इस आरोप का कि आन्दोलन संघ का राजनीतिक स्टंट है, खंडन करते हुए उन्होंने कहा "आचार्य विनोबा कहा करते हैं कि 'सबै भूमि गोपाल की।' किन्तु मैं पूछता हूं कि यह भूमि गोपालकों की है या गोहत्यारों की। हमारा कार्य नया नहीं है। महर्षि दयानंद ने भी इस कार्य को हाथ में लिया था। क्या उन्होंने भी इसे एक राजनीतिक स्टंट के रूप में ही अपनाया था?"

पं. नेहरू की नीति की असंगतता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, " कुछ दिन पूर्व साँची में भगवान् बुद्ध के दो श्रेष्ठ शिष्यों की अस्थियों की स्थापना का समारोह हुआ था। उसमें हमारे प्रधान मंत्री ने भी उत्साह से भाग लिया था। किन्तु वहाँ से ६ मील दूर भेलसा पहुंचते ही उन्होंने गोहत्या जारी रखने की घोषणा की। भगवान् बुद्ध की अहिंसा का उपदेश देने के तुरंत बाद ही गोहत्या जारी रखने की घोषणा!"

भाषण के अंत में उन्होंने सभी से प्रार्थना की कि "देश में भारतीय स्वराज्य की प्रस्थापना किये बिना चैन न लेने का निश्चय करते हुए ही आप लोग यहाँ से जाँय। अपने मानबिंदुओं की रक्षा हम करेंगे ही। सारा संसार भी यदि विरोध में खडा हो जाय तो उसके विरोध को भी एडियों तले रगडकर हम उनकी रक्षा अवश्यमेव करेंगे।"

सभा के दूसरे दिन, ८ दिसम्बर को श्रीगुरुजी ने राष्ट्रपति से भेंट की। उनके साथ पंजाब-दिल्ली के संघचालक श्रीहंसराज गुप्त भी गये थे। इस भेंट में हस्ताक्षर-संग्रह का वृत्त प्रस्तुत कर आन्दोलन का ध्येय तथा स्वरूप उन्होंने राष्ट्रपति महोदय को बताया। राष्ट्रपति महोदय ने आश्वासन देते हुए कहा कि मैं देखूंगा कि सरकार जनता के इस आवेदन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करती है।

इस लोकतंत्री मतप्रदर्शन की विशेषता यही थी कि आज तक संसार के किसी भी देश में किसी भी प्रश्न पर इतने प्रबल जनमत का प्रकटीकरण नहीं हुआ। किन्तु फिर भी लोकतंत्र की रातदिन माला जपनेवाले शासकों ने इसका पर्याप्त आदर नहीं किया। कदाचित् उनको यह भय रहा हो कि संघ को, जो एक विरोधी संस्था है, इसका श्रेय मिल जायगा। उन्होंने दलहित पर देशहित तथा लोकतंत्र दोनों को वार दिया।

फिर भी गुरुजी को विश्वास था कि आज नहीं तो कल जनमत का आदर शासन को करना ही पडेगा। उनका यह विश्वास सफल हुआ और कुछ दिन बाद बिहार, उत्तर प्रदेश आदि प्रांतों में सरकार ने क्रमशः गोवधबंदी कानून बनाना आरंभ किया। इस समय तक अनेक प्रांतों में कानून बन गया है तथा आशा है कि शीघ्र ही अन्य प्रांतों में भी कानून बनाया जाकर संपूर्ण देश से यह कलंक सदा के लिए मिट जायगा।

आधुनिक काल

गोहत्यानिषेध आन्दोलन आरंभ होने से पूर्व सन् १९५२ के अक्टूबर मास में श्रीगुरुजी दिल्ली गये थे। मार्ग में ही उन्होंने यह चिंताजनक समाचार सुना कि पूर्वी बंगाल में पुनः अत्याचार आरंभ हो गये हैं। इस समाचार से वे अत्यंत बेचैन हो उठे तथा इस बेचैनी का प्रतिबिंब १४ अक्टूबर को हुए पत्रकार-सम्मेलन में व्यक्त हुआ। इस सम्मेलन में एक वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा, "पूर्वी बंगाल के हमारे बंधु बडी संख्या में स्थानांतर कर रहे हैं, जिसके कारण हमारी सरकार चिंतित हो गयी है तथा प्रधान मंत्री पं. नेहरू ने स्वतः कलकत्ता जाकर परिस्थिति का निरीक्षण करने का निश्चय कर लिया है। उनका यह निर्णय सचमुच समाधानकारक है किन्तु नेहरू–लियाकत समझौते से पूर्व भी संपूर्ण सीमाप्रदेश में ऐसी ही स्थिति थी और उस समय प्रधान मंत्री ने घोषणा की थी कि यदि शांतिपूर्ण उपायों से यह प्रश्न नहीं सुलझता तो अन्य उपायों का अवलंबन किया जायगा। इस समय कौन से अन्य उपाय काम में लाये जा रहे हैं, यह मुझे ज्ञात नहीं है। वस्तुतः परिस्थिति यही बतला रही है कि उस समझौते को बाकायदा ठुकराया गया है।

"यह स्पष्ट है कि नेहरू–लियाकत समझौता असफल रहा है और उसका उल्लंघन भी पाकिस्तान की ओर से ही किया गया है। ऐसे समय सरकार को चाहिए कि समझौते के बंधनकारक न रहने की घोषणा करते हुए ऐसे उपाय काम में लाये, जिनसे यह समस्या सदा के लिए हल हो जाय।"

श्रीगुरुजी के इस वक्तव्य के बाद प्रश्नोत्तर हुए, जिसमें उन्होंने इन सब समस्याओं के अंतिम हल के रूप में अखंड भारत का ही प्रतिपादन किया। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं :

"क्या आप इसके लिए अभी भी जनसंख्या के परिवर्तन का उपाय सुझायेंगे ?'

"पूर्वी बंगाल में अब बहुत ही थोडे हिन्दू रह गये हैं। अतः अब तो जनसंख्या के परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"क्या निर्वासितों के अपने–अपने स्थानों पर वापस जाने की बात का आप समर्थन करते हैं ?"

"मैं समर्थन ही नहीं करता, किन्तु इस बात का भी आग्रह करता हूँ कि विभाजन से पूर्व वे लोग जैसी सुरक्षित स्थिति में थे, उसी में उनको पुनः प्रस्थापित किया जाय।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि आप अखंड भारत का समर्थन करते हैं ?"

"निस्संदेह।"

"जनसंख्या के योजनापूर्ण परिवर्तन पर आपका विश्वास है ?"

"यही इसका सही इलाज नहीं है। देश को एकसंघ बनाना ही इसका सही इलाज है।"

किन्तु उस समय दिया गया गुरुजी का यह वक्तव्य औंधे घडे पर पानी डालने के समान ही सिद्ध हुआ। यह बात पूर्वी बंगाल ही नहीं, भविष्य की कश्मीर तथा गोवा समस्याओं से भी प्रमाणित होती है। इन समस्याओं से यही अनुभव हुआ है कि दुर्भाग्य से देश को वह शक्तिशाली नेतृत्व नहीं प्राप्त हुआ है, जो अपनी नीति के ही बल पर ऐसी समस्याओं को सुलझा लेता है। आरंभ में अत्यंत सीधी–सादी समस्याएं शासकों की अस्थिर तथा शिथिल नीति के कारण क्रमशः जटिल होती गयी हैं।

इसी नीति के कारण आधा कश्मीर पाकिस्तान का भक्ष्य बन गया और उसका शेष सुरक्षा परिषद् में ७-८ वर्ष से असुरक्षित पडा हुआ है। कश्मीर राज्य का जम्मू, कश्मीर एवं लद्दाख भाग संघ के स्वयंसेवकों तथा भारतीय सैनिकों ने बडे पराक्रमपूर्वक बचाया था। किन्तु पं. नेहरू ने भारत के ही इस अभिन्न अंग को अन्य प्रांतों से भिन्न तथा स्वतंत्र स्थान प्रदान किया। उनकी यह कृपा वहाँ के नेतृत्व के लिए भस्मासुर के वरदान सदृश सिद्ध हुई तथा उसके बल पर वहाँ की जनता को पथभ्रष्ट करने तथा हिंदुओं को दबाने के षड्यंत्र रचे गये। केन्द्रीय सरकार का दूध पीकर निर्मित कश्मीरी नेतृत्व का साँप आस्तीन में पलने और पुष्ट होने लगा।

शेख अब्दुल्ला के प्रति पं. नेहरू के मन में जो अवास्तव मोह था, उसके कारण यद्यपि वे कश्मीर सरकार की भारतविरोधी चालों की गंभीरता को नहीं समझ सके, तथापि जनता की जागरूकता ने शेख के देशद्रोह को पहिचान लिया तथा पं. प्रेमनाथ डोगरा के नेतृत्व में प्रजा परिषद् ने आन्दोलन आरंभ किया। उन्होंने माँग की कि कश्मीर को भारत के अन्य प्रांतों के समान ही देश का अंग समझा जाय। उनका नारा था-"एक प्रधान, एक विधान, एक निशान।" सरकार की ओर से यद्यपि इस आन्दोलन को कुचल देने के सब प्रयत्न किये गये, परंतु आन्दोलन की तीव्रता बढती ही गयी।

सन् १९४९ से ही कश्मीर के सत्तारूढ दल की राष्ट्रघातक गतिविधि श्रीगुरुजी की समझ में आने लगी थी। इसलिए सुरक्षा समिति तथा पाकिस्तान को कश्मीर में जनमतसग्रंह के लिए पं. नेहरू द्वारा सहमति प्रदान की जाते ही गुरुजी ने इसका स्पष्ट शब्दों में विरोध किया था। यह बताते हुए कि भारत के किसी भी प्रांत को जनमतसंग्रह का अधिकार नहीं दिया जा सकता, उन्होंने कहा कि "कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है और इसलिए उसका भविष्य-निर्णय केवल वहाँ की जनता के हाथ सौंप देना

उचित नहीं है।---पैर को चोट पहुँचने पर उसकी मरहम-पट्टी की जाय या उसे काटकर शरीर से अलग कर दिया जाय, इसका निर्णय पैर नहीं कर सकता। कश्मीर भारत का ही एक भाग है। स्वायत्तता की मरीचिका में हम कश्मीर की कब्र खोद रहे हैं, और साथ ही राष्ट्र की अवनति कर रहे हैं।"

राष्ट्र की संपूर्ण परिस्थिति के विषय में बोलते हुए उन्होंने कहा था, "भाषावार राज्य-रचना का सिद्धान्त, आत्मनिर्णय तथा विलग होने का अधिकार राष्ट्र की व्याधियाँ हैं। आत्मनिर्णय का सिद्धांत राष्ट्र के शरीर को छिन्न-विच्छिन्न करनेवाला एवं व्यामोहित बुद्धि से उत्पन्न सिद्धान्त है।"

जम्मू-कश्मीर प्रजा परिषद् ने अपने प्रदेश को भारत के अन्य प्रान्तों के ही समान स्थान देने की माँग की थी परंतु भारत सरकार ने उसकी उपेक्षा की। जनमत की इस विडंबना को देखकर प्रजा परिषद् के आन्दोलन के समर्थन में भारत की राजधानी दिल्ली में भी एक आन्दोलन आरंभ किया गया, जिसका नेतृत्व जन-संघ के अध्यक्ष भारत-केसरी डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने किया। डॉ. मुखर्जी ने स्वतः कश्मीर में प्रवेशकर इस समस्या को सुलझाने का निर्णय किया और तद्नुसार वे ११ मई १९५३ को कश्मीर में प्रविष्ट भी होगये। जैसी आशंका थी, उन्हें गिरफ्तार करके कारा में डाल दिया गया। कारा में उनको साधारण सुविधाएं भी नहीं दी गयी, जिसके फलस्वरूप उनके हृदय-रोग ने सिर उठा लिया। इस पर उनका योग्य उपचार भी नहीं किया गया। इस लापरवाही के कारण वहीं उनका देहान्त भी होगया।

श्रीगुरुजी उस समय हैदराबाद के एक स्थान पर थे। वहाँ किसी ने रेडियो पर प्रसारित यह समाचार गुरुजी को बताया। यह समाचार उनके लिए मानो एक वज्राघात ही था। अत्यंत व्यथित

हृदय से वे नागपुर आये और उन्होंने डॉ. मुखर्जी की माता तथा पुत्र श्रीअनुतोष मुखर्जी को सांत्वनादायक पत्र लिखे। श्रीअनुतोष मुखर्जी को लिखे पत्र में उन्होंने कहा, "गत १०-१२ वर्षों से हमारा संबंध रहा है और हमारे स्नेह-संबंध प्रतिदिन दृढतर ही हो रहे थे। मुझे इस बात से अत्यंत दुःख हो रहा है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके स्थान की पूर्ति कोई भी नहीं कर सकेगा।"

नागपुर से प्रकाशित एक वक्तव्य में उन्होंने कहा, "इस घटना से कि मैं उनका अंत्यदर्शन तक न कर सका, मेरे हृदय में जो घाव हुआ है, वह कदाचित् कभी नहीं भर सकेगा। उनकी मृत्यु मेरी व्यक्तिगत हानि तो है ही, देश की उससे भी गंभीर क्षति है। उनकी मृत्यु से एक उच्च कोटि का विद्वान्, कुशल संघटक, प्रभावी वक्ता, देशभक्त और जनसेवक, शुद्ध राष्ट्रवाद एवं जनाधिकारों के लिए लडनेवाला निर्भीक योद्धा तथा विशेष रूप से उल्लेखनीय एक श्रेष्ठ चारित्र्यसंपन्न, सुसंस्कृत पुरुष उठ गया है। उनका जीवन तथा आदर्श आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में तो विशेषतः अनुकरणीय है।"

वक्तव्य के अंत में गुरुजी ने कहा, "डॉ. मुखर्जी की स्थानबद्धता तथा कारागृह में हुआ उनका देहांत ऐसी बातें हैं, जिन्हें भुलाना कठिन है। और कुछ न हो, तो भी कारा में हुई उनकी प्राणघातक उपेक्षा का दायित्व 'जनता की' इस सरकार के नेताओं पर निश्चित रूप से आता है।"

डॉ. मुखर्जी की रहस्यमय तथा असमय मृत्यु का दुःख अभी कम नहीं हो पाया था कि संघ के एक आधार श्री. टी. आर. वेंकटराम शास्त्री के भी देहावसान का समाचार प्राप्त हुआ। इस अवसर पर श्रीगुरुजी द्वारा भेजा गया पत्र हार्दिक कृतज्ञता से पूर्ण है। उन्होंने लिखा था, "हम पर आये एक

महान् संकट-काल में स्वयंस्फूर्ति से आगे बढकर उन्होंने हम पर जो अनंत उपकार किये हैं, उनको मैं या मेरे द्वारा प्रतिनिधित्व किये जानेवाले संघटन का कोई भी व्यक्ति कभी नहीं भुला सकता। वे सत्य एवं न्याय के प्रति प्रेम तथा छलना एवं अन्याय के प्रति घृणा से प्रेरित थे। उनके प्रयासों में संघ के कार्य, ध्येय तथा कार्यपद्धति के प्रति उनकी स्नेहभरी आत्मीयता व्यक्त होती थी।"

गोहत्यानिषेध संबंधी हस्ताक्षर-संग्रह सन् १९५२ के अंत में राष्ट्रपति को दिया गया था। सन् १९५३ में भी २ नबम्बर से १४ नवम्बर तक सभाओं, जुलूसों, सम्मेलनों तथा प्रदर्शिनियों आदि के द्वारा इस विषय में जनमत जाग्रत रखने का काम किया गया।

इस अवधि में संघ का कार्य भी धीरे धीरे प्रगति कर रहा था। प्रतिबंध के पश्चात् देश में उत्पन्न प्रायः सभी प्रश्नों पर श्रीगुरुजी ने स्वयंसेवकों तथा जनता का मार्गदर्शन किया, यह पाया जाता है। संघ स्वतः राजनीति के क्षेत्र में नहीं उतरता, परंतु उसने अपने स्वयंसेवकों को जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने सिद्धांतों का प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा दी है। अतः उन्हें परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान कराते हुए सजग बनाने का कार्य संघ की पद्धति में आता है। इस संबंध में श्रीगुरुजी ने अनेक बार अपनी भूमिका स्पष्ट की है। बी. बी. सी. के प्रतिनिधि ने भेंट में उनसे पूछा कि "सुना है, आप कांग्रेस की आलोचना करते हैं।" इस पर श्रीगुरुजी ने कहा, "सांस्कृतिक विकास के लिए मारक सब कृतियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण आलोचना का ही रहता है। मैं राजनीतिक प्रवृत्ति का व्यक्ति नहीं हूं, किन्तु मुझे लगता है कि राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन पर विपरीत प्रभाव डालनेवाली राजनीतिक घटनाओं की रचनात्मक आलोचना की जाय।"

स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद राजकीय व्यवहार में से अंग्रेजी को हटाकर मातृभाषा को स्थापित करने के प्रश्न पर चारों ओर से बहुत टाल–मटोल की गयी। परंतु मध्य प्रदेश की सरकार ने साहसपूर्वक सर्वप्रथम अपने राज्य में हिन्दी तथा मराठी को राजभाषाएं घोषित किया। इस पर श्रीगुरुजी ने मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल का विशेष रूप से अभिनंदन किया। इसी समय तिब्बत पर चीन ने आक्रमण किया और भारत सरकार ने उसे मौन-सम्मति प्रदान की। श्रीगुरुजी ने भारत सरकार के इस रुख को अनुचित माना तथा प्रकट रूप से प्रश्न किया कि क्या इस आक्रमण को भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि करनेवाला माना जाय ?

सन् १९५४ में प्रयाग में कुंभ मेला होनेवाला था। इस अवसर पर प्रयाग की गोहत्यानिरोध समिति की ओर से एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया, जिसमें पं. नेहरू को चुनकर भेजनेवाले निर्वाचन–क्षेत्र से इस प्रश्न पर जनमतसंग्रह कर एक आवेदन उनके पास भेजने का निश्चय किया गया। इस कार्यक्रम के फलस्वरूप उस आवेदन पर २५७५८० व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये। उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा था, “हम लोकतांत्रिक पद्धति से आपसे यह माँग करते हैं कि इस विषय पर संसद में प्रस्तुत विधेयक का आप समर्थन करें। गोवध की अनुमति देनेवाला व्यक्ति किसी भी प्रकार हमारा प्रतिनिधि नहीं हो सकता।” इस जनमतसंग्रह की यह विशेषता थी कि इसमें पं. नेहरू को निर्वाचन में प्राप्त मतों की संख्या से भी एक डेढ लाख अधिक व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। पं. नेहरू ने अपने निर्वाचकों की इच्छा को कितना महत्व दिया, यह तो संसद की रिपोर्ट ही बतलायेगी। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संघ के स्वयंसेवकों ने इस कार्यक्रम में पूर्ण योग दिया था। कुंभ मेले में गोहत्यानिरोध सम्मेलन भी हुआ, जिसमें श्रीगुरुजी ने भाग लिया।

इसी वर्ष भारत में विभिन्न स्थानों पर कार्य करनेवाले संघ के प्रमुख प्रचारकों का एक महत्वपूर्ण शिविर नागपुर से २९ मील दूर सिन्दी नामक स्थान में हुआ। सभी प्रांतों के कार्य में एकसूत्रता लाने तथा संघ के तत्वज्ञान का चिंतन करने के लिए यह शिविर आयोजित किया गया था। यह शिविर ५ मार्च से आरंभ होकर १५ दिन तक चला, जिसमें प्रांतों, विभागों तथा जिलों के सभी प्रचारकों ने भाग लिया। इन पंद्रह दिनों में श्रीगुरुजी पूरे समय शिविर में ही रहे।

आम के एक बगीचे में सबके निवास के लिए तंबू लगाकर शिविर खडा किया गया था। स्नान, भोजन आदि सभी बातों का प्रबंध वहीं था। इसी स्थान पर सन् १९३९ में प.पू.डॉक्टरजी ने सब प्रमुख कार्यकर्ताओं की उपस्थिति में संस्कृत प्रार्थना, आज्ञाएं तथा संघ की आचार–पद्धति आदि निश्चित की थीं। शिविर के कार्यक्रम तडके ही प्रारंभ होते तथा दोपहर को ग्यारह बजे तक चलते थे। उष:काल में जब कार्यकर्तागण प्रांगण में एकत्र होकर " भारतभक्तिस्तोत्र " का गान करते हुए कहते :

अनुक्ता ये भक्ता हरिचरण संसक्तहृदया :
अविज्ञाता वीरा: समरमधिसंप्राप्तमरणा :
असंख्यें या: सन्तो भरतभुवि ये सन्ति च परे
नमस्तेभ्यो भूया दुषसि सकलेभ्य: प्रतिदिनम्

उसी समय प्राची दिशा में सूर्योदय होता तथा इधर भगवाध्वज फहराया जाता। सायं प्रात: शारीरिक कार्यक्रम होते तथा शेष समय में पारस्परिक परिचय, वृत्तांत–निवेदन तथा विचार–विनिमय आदि होता था। सायंकाल प्रार्थना के पश्चात् श्रीगुरुजी का भाषण होता था। कभी कभी दिन में दो बार भी उनके भाषण होते थे। उन्होंने अपने भाषणों में संघ–कार्य के ध्येय तथा नीति, वर्तमान जागतिक तथा भारतीय परिस्थिति,

स्वयंसेवकों तथा जनता की मनःस्थिति आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला। उनके प्रभावी भाषणों तथा विचारों ने कार्यकर्ताओं के मन में संघ-कार्य के विश्वास को द्विगुणित कर दिया।

दिन के शेष समय में गुरुजी एक वृक्ष की साया में बैठकर कार्यकर्ताओं से गप-शप करते थे। उस समय की अनौपचारिक बातचीत में भी अनेक उद्बोधक प्रसंग तथा विचार प्राप्त होते थे। इस वर्ग से कार्यकर्ताओं को संघटन की व्यापक दृष्टि मिली तथा वे सभी नवोत्साह लेकर कार्य बढाने के लिए अपने स्थानों को वापस गये।

इस वर्ग के बाद संपूर्ण देश में शिक्षण-शिविर आरंभ हुए और गुरुजी ने उन सबका निरीक्षण किया। इसी बीच में उन्होंने बंबई में हुए प्रांतीयताविरोधी सम्मेलन की अध्यक्षता भी की। उसमें दिया गया उनका भाषण अत्यंत तर्कशुद्ध तथा भाषावार राज्यरचना के लिए आन्दोलन करनेवालों को पुनर्विचार के लिए बाध्य करनेवाला था। भाषण के प्रारंभ में उन्होंने बताया कि " अंग्रेजों की राजनीतिक चालाकी के कारण हम लोग यह समझने लगे कि भाषा की भिन्नता के साथ ही संस्कृति भी भिन्न हो जाती है, परंतु यह धारणा गलत है। भारतीय संविधान में भी यह गलत धारणा घुस गयी है। अपने संविधान में हमने देश को जो एक "यूनियन" कहा है, वह गलत है। यूनियन का अर्थ तो कुछ टूटी-फूटी चीजों को जोडकर खडा करना होता है। हमारा देश टूटा-फूटा न होकर एकात्मक राष्ट्र है। कुछ लोग स्वतः को इस 'यूनाइटेड इंडिया' का समर्थक कहते हैं। किन्तु यह यूनाइटेड इंडिया आया कहाँ से? इस कल्पना में विभन्नता की सुप्त भावना है, जो महामारी के समान देश में फैलती जा रही है।"

अपने भाषण में उन्होंने भाषावार राज्य-रचना का आग्रह करनेवालों से प्रश्न किया, "सारी दुनिया का एक ही राज्य हो,

ऐसी भाषा बोलनेवालों के हृदय में संपूर्ण भारत का एक ही राज्य करने के विचार से क्यों घबराहट होनी चाहिए?" इसके पश्चात् भारतीय संविधान के विषय में अपनी कल्पना स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "भारत में एक केन्द्रीय लोकप्रतिनिधिक शासन-संस्था हो और प्रशासन की सुविधा के अनुसार प्रदेश, विभाग और प्रांत बनाये जायें। अंग्रेजों ने ६ हजार मील से यहाँ आकर एक वायसराय और उसके मंत्रियों की सहायता से डेढ सौ वर्ष तक सारे देश का शासन अबाधित रूप से चलाया। फिर आज एक ही शासन का निर्माण न कर सकना हमारी पात्रता का प्रतीक है या अपात्रता का प्रदर्शन ?"

इस भाषण में भी उन्होंने कहा कि ईसाई तथा मुसलमानों को भारत की राष्ट्रीय परंपरा के साथ एकरूप हो जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि "कुरान या बाइबिल पढनेवालों से मेरी कोई अनबन नहीं है। मैंने भी उनका अध्ययन किया है। हमारा हिन्दुत्व इतना ढीला नहीं है, जो बाइबिल या कुरान पढने मात्र से घुल जाय। हमारा हिन्दुत्व हट्टा-कट्टा और सशक्त है। प्रत्येक व्यक्ति को तीन प्रकार के कर्तव्य निभाने पडते हैं। वे हैं राष्ट्र-धर्म, कुल-धर्म और व्यक्ति-धर्म। व्यक्ति-धर्म के पालन का आधा भाग अपने इष्टदेव की उपासना का होता है। यह संपूर्ण कर्तव्य-पालन का केवल छठा भाग है। कुल-परंपरा से हिन्दू के रूप में रहनेवाले कुछ लोग यदि ईसा की उपासना कर तथा बाइबिल पढकर अपने षष्टांश कर्तव्य-पालन में ईसाई बन जाते हैं, तो उतने मात्र से अपना नाम तथा रहन-सहन बदल डालने और व्यवहार में राष्ट्र का द्रोह करने की बात समझ में नहीं आती। किन्तु हुआ ऐसा ही है। इससे आगे उनको यहाँ की राष्ट्रीय श्रद्धाओं तथा मान-बिंदुओं का आदर करते हुए स्वतः को यहाँ के राष्ट्रीय जीवन में विलीन कर देना चाहिए।"

अपने विकासमान कर्मयोगी जीवन में श्रीगुरुजी को अपने माता–पिता की वत्सलता का अखंड आधार मिलता रहा है। परंतु दुर्भाग्य से इसी वर्ष उनके ऊपर से पिता की छत्रछाया हट गयी। सन् १९४० में ही, सरसंघचालक बनने के बाद, यह सोचकर कि अब बार–बार रामटेक जाना संभव नहीं होगा, उन्होंने भाऊजी तथा ताई को नागपुर ही बुला लिया था। तब से उन्हें नागपुर में ही माता–पिता के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त था।

भाऊजी का प्रातःकाल का सारा समय देवार्चन तथा वाचन में बीतता था। ताईजी भी व्रतोपासना तथा पूजा-अर्चा करती रहती थीं। दोपहर को विश्राम करने के बाद भाऊजी कभी कभी ताश लेकर " पेशेन्स " खेलते। उनकी एकांतप्रियता से मेल खानेवाला खेल यही था। सायंकाल दो-तीन मील घूमने का उनका क्रम तो वर्षों से चला आ रहा था। वे पाँच बजे घर से निकलते तथा ७ बजे वापस आ जाते। उनकी चाल, उनकी आयु को देखते हुए बहुत तेज थी। इस संबंध में यहां एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार वे धंतोली मुहल्ले से महल की ओर लौट रहे थे। उनके पीछे २५-३० कदम पर एक पंजाबी सैनिक चला आ रहा था। वृद्ध भाऊजी की गति देखकर उसने सोचा कि वह तेज चलकर आगे निकल जाय। सीताबर्डी के पुल से गणेशपेठ तक काफी कोशिश करने के बाद कहीं वह उनके बराबर आ पाया। पास आकर उसने अपनी यह सारी कहानी भाऊजी को बतायी। इस पर दोनों का बडा मनोरंजन रहा।

नागपुर में रहते समय कुछ कार्यकर्ताओं के साथ सायंकाल घर जाना गुरुजी ने अपना नियम सा बना लिया है। उस समय भाऊजी तथा ताई देवस्थान के सामनेवाले छप्पर में उनकी प्रतीक्षा करते मिलते थे। इस समय चायपान करते हुए खुलकर गपशप होती। दौरे पर जाने से एक दिन पूर्व गुरुजी ताईजी से कहते, " अब कल से मैं तुम्हारे यहाँ भोजन के लिए नहीं

आऊंगा।" इस पर भाऊजी पूछते, "कहां जानेवाले हो?" और तब गुरुजी अपना नियोजित कार्यक्रम उन्हें बताते। बाहर जाने से पूर्व घर के बडों को प्रणाम कर तथा उनका आशीर्वाद लेकर जाना उन्होंने अपना नियम सा बना लिया है। उसी के अनुसार १७ जुलाई १९५४ को वे ताई तथा भाऊजी का आशीर्वाद लेकर महाकोशल के दौरे पर गये।

२० जुलाई को वे खंडवा में थे। उस रात को वे कार्यक्रम के निमित्त एक व्यापारी के यहां गये, जहां बातचीत में ज्ञात हुआ कि वह व्यापारी भाऊजी का छात्र रह चुका है। व्यापारी ने स्वभावतः भाऊजी के स्वास्थ्य की पूछताछ की, जिसका उत्तर देते हुए गुरुजी ने कहा—" आयु को देखते हुए उनका स्वास्थ्य अच्छा है। बीच में एक बार रक्तचाप से उन्हें मूर्च्छा आगयी थी, किन्तु वैसे उनका स्वास्थ्य ठीक है। प्रतिदिन नियमपूर्वक वे घूमने तथा देवदर्शन के लिए जाया करते हैं।"

रात्रि में यह बैठक समाप्त कर १२ बजे गुरुजी खंडवा स्टेशन पर आये और तीन बजे की पंजाब मेल से सागर के लिए रवाना होगये। पंजाब मेल प्रातः ८ बजे भोपाल पहुंची, जहां दो स्थानीय कार्यकर्ता उनसे मिलने आये। उन्होंने गुरुजी के साथ यात्रा कर रहे श्रीभाऊसाहब भुसकुटे के हाथ में एक तार दिया। यह तार भाऊजी के निधन का समाचार लाया था। गत रात को ही जिनके उत्तम स्वास्थ्य की चर्चा हुई थी, उनके ही निधन का समाचार था यह! तार पढकर कुछ क्षण गुरुजी स्तब्ध बैठे रहे। फिर आगे का कार्यक्रम स्थगित करके वे भोपाल में ही उतर पडे और पठानकोट एक्सप्रेस से इटारसी होते हुए नागपुर के लिए रवाना हुए। नागपुर को सूचना दे दी कि दि. २२ की प्रातः से पहले पहुँचना असंभव होने के कारण अन्त्य-संस्कार यथाविधि कर लिये जायँ।

गुरुजी का यह संदेश प्राप्त होने पर दोपहर को १२ बजे भाऊजी की शवयात्रा निकाली गयी, जिसमें सहस्त्रों नागरिक सम्मिलित हुए। गुरुजी की अनुपस्थिति में भाऊजी का संस्कार उनके भांजे ने किया। दूसरे दिन प्रातःकाल ५ बजे गुरुजी नागपुर पहुँचे। घर पहुँचते ही ताईजी को देखकर वे अत्यंत व्यथित हुए किन्तु सदा की भाँति धैर्य धारण कर उन्होंने अपने को संभाला। भाऊजी के निधन का समाचार सुनकर उन्हें यही लगा होगा कि उनकी मृत्यु अत्यन्त भाग्यशाली थी, क्योंकि वह कोई कष्ट दिये बिना ही आयी थी। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ८२ वर्ष की थी।

मृत्यु के एक दिन पूर्व वे नियमानुसार सायंकाल सैर करने गये थे। उसके बाद कुछ अल्पाहार करके रात को दस बजे तक उन्होंने बातचीत की तथा ऊपर जाकर अपने सदा के कमरे के बजाय गुरुजी के कमरे में सोये। प्रातःकाल पाँच बज गये परंतु फिर भी वे नित्य की भांति चाय पीने के लिए नहीं उतरे। अत: उनकी भतीजी ऊपर देखने गयी तथा उसने लौटकर बताया कि भाऊजी गहरी नींद में सो रहे हैं। इस पर ताईजी ने कहा, ''अच्छा है, सोने दो।'' एक घंटा और बीत गया परंतु फिर भी वे नीचे नहीं आये। अतः ताईजी ने उससे कहा, ''अब जाकर उन्हें जगा दो।'' भतीजी पुनः ऊपर गयी और जगाने का प्रयास करने पर उसे कुछ संदेह हुआ। उसने जोर से आवाज देकर ताईजी को बुलाया और ध्यान से देखने पर ज्ञात हुआ कि वे शांति पा गये हैं। बात की बात में समाचार चारों ओर फैल गया और सैकडों व्यक्ति उनके अन्त्य-दर्शनार्थ आगये।

इस घटना ने गुरुजी को पितृछाया से विरहित कर दिया। वे पांच दिन तक नागपुर में ही रहे और सातवें दिन भाऊजी की क्रिया के लिए नासिक गये। वहां भी उनसे भेंट करने प्रांत-प्रांत के अनेक कार्यकर्ता आते तथा शोक–प्रदर्शन के सैकडों पत्र प्राप्त

होते। ७ अगस्त को वे नागपुर लौटे और तीन दिन वहां रहकर नियोजित कार्यक्रम के लिये दिल्ली चले गये।

इसी वर्ष सितम्बर मास में संस्कृत-मासिक "भारती" के संपादक को श्रीगुरुजी ने एक संदेश संस्कृत में ही लिखा, जिसमें उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि विविध भाषाभाषी लोगों में उत्पन्न हो रही मनोवृत्ति की रोकथाम का एकमात्र उपाय संस्कृत का प्रचार ही है। उन्होंने लिखा था, "हिन्दीप्रभृतयः सर्वाः प्रादेशिक्यः भाषाः संस्कृतोद्भूताः सन्ति। परं सांप्रतं विविध भाषाभाषिणां भारतीयानां स्वभाषादुरभिमानः परां कोटिं गतः इव अवलोक्यते। स्व स्व भाषा दुरभिमानेन सर्वे परस्पर पार्थक्यम् उद्घोषन्ति। एतस्य प्रादेशिक भाषामूलदुरभिमानस्य प्रशमनार्थम् संस्कृत–प्रचार–सदृशं नान्यत् बलवत्तरं रसायनम्।" संस्कृत भाषा के न केवल जीवित अपितु सभी प्रादेशिक भाषाओं को जीवित रखनेवाली भाषा होने की बात कहकर उन्होंने अंत में लिखा था, "संस्कृत भाषायाः एतत् अनुक्तसिद्धं सजीवत्वं सर्वंकषं सामर्थ्यं च ज्ञात्वा सर्वैः राष्ट्रकल्याणकामैः संस्कृतभाषाध्ययनम् अवश्यमेव कर्तव्यम् इति मे सुस्पष्टं मतम्।"

सन् १९४७ में यद्यपि अंग्रेज भारत से चले गये थे परंतु गोवा, पांडिचेरी आदि में पुर्तगाली तथा फ्रेंच अभी भी रह गये थे। इन दोनों ही बस्तियों की जनता ने अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न आरंभ किये, जिनमें फ्रेंच बस्तियों के प्रयत्न तो सफल हो गये और उनको परकीय दासता से मुक्ति मिल गयी। पुर्तगाली बस्तियों की जनता की धारणा थी कि भारत में अपनी सरकार हो जाने के कारण उनके स्वाधीनता-आन्दोलन को बल मिलेगा, परंतु उनकी यह आशा निरर्थक सिद्ध हुई। भारत सरकार का सहयोग उन्हें नहीं मिला परंतु भारतीय जनता अपने ही अंगभूत इन प्रदेशों की सहायता के लिए तत्पर होगयी। फलस्वरूप सन् १९५५

के आरंभ में पूना में गोवा-मुक्ति-आन्दोलन में सहायता देने के लिए गोवा विमोचन समिति की स्थापना की गयी। इस समिति में संघ के कार्यकर्ता ही अगुआ बनकर आये थे। समिति ने गोवा में नि:शस्त्र प्रतिकार आन्दोलन के लिए जत्थे भेजने की योजना बनायी, जिसका उद्देश्य पुर्तगाली सरकार को गोवा छोडने के लिए बाध्य करना तथा भारत सरकार का ध्यान भी इस समस्या की ओर आकर्षित करना था। तदनुसार गोवा–मुक्ति के लिए जत्थे पर जत्थे जाने लगे। पुर्तगाल सरकार ने सदा की भाँति आन्दोलन का कठोरतापूर्वक दमन करने का रुख अपनाया। सत्याग्रही स्वयंसेवकों पर अकल्पनीय अत्याचार किये जाते। इस संबंध में भारत सरकार की नीति इन अत्याचारों को प्रोत्साहन देनेवाली ही थी, जिसे देखकर गुरुजी को अत्यंत दु:ख होता। इस वर्ष के गुरुदक्षिणोत्सव पर नागपुर में उन्होंने कहा, "देश पर आक्रमण करनेवालों को सैनिक बल से नतमस्तक कराने की स्वतंत्रता हो, तभी वह स्वतंत्रता कुछ अर्थ रखती है। आज की नकली स्वतंत्रता में प्रसन्नता की क्या बात है?" पुर्तगालियों को दाँतों तृण चबवाने की क्षमता रखते हुए भी भारत सरकार द्वारा हाथ न उठाने की नीति का विश्लेषण कर श्रीगुरुजी ने संदेह व्यक्त करते हुए कहा कि 'यह नहीं कि भारत के पास सेना नहीं है। उसके पास सेना भी है तथा गोलियाँ भी। फिर क्या कारण है कि शत्रु के विरुद्ध हाथ नहीं उठाया जाता? क्या इसलिए कि इंग्लैंड में बैठे स्वामी की अनुमति नहीं है? यह मानने के लिए स्थान है कि वह अनुमति नहीं है और इसीलिए भारतीय सेना के हाथ बँधे हुए हैं। यदि यही बात हो तो कहना होगा कि भारतीय स्वतंत्रता की कीमत साबुन के बुलबुले से अधिक नहीं है।"

अन्त में १५ अगस्त को गोवा में सहस्रों सत्याग्रहियों के सामूहिक प्रवेश की योजना बनायी गयी। इसमें भी संघ के

सैकडों स्वयंसेवक सम्मिलित हुए। जब पुर्तगाली सेना ने सत्याग्रहियों पर गोलियों की बौछार शुरू की, तब धैर्यपूर्वक उनका सामना करनेवालों में संघ के स्वयंसेवक प्रमुख थे। शत्रु की गोलियों से अनेकों के मरने के समाचार प्राप्त होते थे परंतु अपनी सरकार कान में तेल डाले बैठी थी। उस समय श्रीगुरुजी बंबई में थे। उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया था कि "हमारे नागरिकों पर हुए आघातों का सव्याज परिमार्जन करने तथा परदास्य में फंसे मातृभूमि के इस भूभाग को मुक्त करने का यही समय है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की झूठी कल्पनाओं को दूर हटाकर योग्य दिशा में कदम उठाने के लिए सरकार को इससे अच्छा अवसर मिलना कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि इस भूभाग को अतिशीघ्र पुलिस या तत्सम कार्रवाई के द्वारा जीत लेने से हमारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि ही होगी। ऐसा करने का परिणाम हमें आक्रमण की धमकियां देनेवाले पडोसी राज्यों पर भी अच्छा होगा और देश का महत्व बढ जायगा।"

सरकार ने कुछ किया तो नहीं, उलटे ऐसी आज्ञाएं जारी कीं, जिनसे यह आन्दोलन बंद करना पडा। उसने कश्मीर के समान इस समस्या को भी दीर्घ काल तक के लिए लटकने को छोड दिया।

इस आन्दोलन के तुरंत बाद राज्य–पुनर्गठन आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित होने का वातावरण फैल गया तथा अनेक प्रांतों के लोग अपनी-अपनी माँगें मनवाने की चेष्टाओं में लग गये। अनेक नेताओं ने तो, जिनमें बहुत से कांग्रेसी भी थे, स्पष्ट धमकियां दीं कि यदि उनकी माँग स्वीकार न की गयी, तो बाकायदा संघर्ष किया जायगा। श्रीगुरुजी आरंभ से ही इस वृत्ति के प्रति गंभीर चिंता व्यक्त करते आ रहे हैं। यह देखकर

कि प्रतिवेदन प्रकाशित होने पर वातावरण बहुत गरम हो उठेगा तथा संभव है कि रक्तपात भी हो जाय, उन्होंने सामयिक चेतावनी देते हुए एक विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें इन सब संकटों के अंतिम उपायस्वरूप देश में एकात्मक शासन का सुझाव भी रखा गया। उसमें गुरुजी ने कहा, "इस समय का वातावरण पारस्परिक अविश्वास, सद्भावना के अभाव तथा अधिकाधिक प्रदेश हडपने के लोभ से परिपूर्ण है तथा किसी लाश के लिए लडनेवाले भेडियों का दृश्य प्रस्तुत करता है। यह चित्र वस्तुतः अत्यंत खेदजनक है।" आगे उन्होंने कहा, "हम संघात्मक संविधान की सब चर्चा एकदम बंद कर दें, भारत में पूर्ण या अर्धस्वायत्त सभी राज्यों की सत्ता समाप्त कर दें तथा एक देश, एक राज्य, एक विधान सभा और एक कार्यपालिका की घोषणा करें, जो प्रादेशिक, सांप्रदायिक, भाषिक या अन्य किसी प्रकार के पृथकतावादी अभिनिवेश से मुक्त हो तथा जिसकी अखंडता को किसी भी भांति भंग न किया जा सके।"

श्रीगुरुजी की चेतावनी सही सिद्ध हुई तथा बंबई, महाराष्ट्र, पंजाब, उडीसा आदि के प्रश्नों को लेकर भयंकर उपद्रव हुए, जिनमें सैकडों की जानें गयीं तथा हजारों घायल हुए। इन उपद्रवों ने कुछ काल के लिए संपूर्ण देश को मानो सुन्न सा कर दिया। अभी इस संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य क्या होगा, परंतु घटनाओं ने यह बता दिया है कि भारत की एकता को जीवित रखने के लिए एकात्मक शासन ही आवश्यक है। राजाजी जैसे अन्य विचारवान् व्यक्ति भी इस योजना के समर्थन में आगे आ रहे हैं।

राज्य–पुनर्गठन की खलबली जारी ही थी कि भारत में रूस के प्रधान मंत्री श्रीबुलगेनिन तथा कम्युनिस्ट नेता श्रीख्रुश्चेव का आगमन हुआ। उनके सत्कार में बिना सोच-

विचार के किये जानेवाले उत्साह के प्रदर्शन पर बोलते हुए पंजाब के अपने एक भाषण में श्रीगुरुजी ने कहा, "यह बात हमारे राष्ट्रीयत्व की अपरिपक्वता की निदर्शक है।" इसी प्रकार नित्य आनेवाले विविध राष्ट्र-नेताओं के सम्मान में छात्रों के हाथों में पराये झण्डे देकर उनका जयघोष कराने की प्रथा के संबंध में उन्होंने कहा, "यह बात तो रेस्टोराँ के बैरों के द्वारा हर ग्राहक को सलाम करने जैसी है। यदि हमारे बच्चों पर ऐसे संस्कार किये गये, तो हमारे राष्ट्र का भविष्य क्या होगा ?"

श्रीगुरुजी ऐसे ही विचारों का संपूर्ण भारतवर्ष में अखंड प्रतिपादन कर रहे हैं, जिन्हें ग्रहणकर विविध कार्यक्षेत्रों में उन्हें प्रस्थापित करने के लिए संघ के असंख्य तरुण कार्यकर्ता खडे हो रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि यही उदीयमान, जागरूक तथा सजग राष्ट्रशक्ति वर्तमान भ्रमपूर्ण वातावरण में से मार्ग निकालकर अजेय तथा वैभवशाली हिन्दू राष्ट्र की स्थापना कर सकने में समर्थ होगी।

गुरुजी की विचारधारा

आद्य सरसंघचालक डॉ. हेडगेवारजी ने पूर्ण विचार के बाद रा. स्व. संघ का तत्वदर्शन निश्चित किया था। उनके समय में संघ की विचारधारा तथा संघटन की ओर समाज के लोग कुछ उपेक्षा तथा उपहास की दृष्टि से देखते थे। डॉक्टरजी की व्यवहार-दक्ष तथा सूक्ष्म दृष्टि ने इस बात का भली भाँति आकलन कर लिया था कि किसी सिद्धांत का महत्व तब तक संसार को प्रतीत नहीं होता, जब तक उसके पीछे साकार शक्ति न खडी हो जाय। इसलिए उन्होंने अपने विचारों को सीधे सादे शब्दों तथा सूत्रबद्ध रूप में सबके सम्मुख रखने के साथ तपसी जीवन जीकर शांत भाव से उनकी महत्ता प्रतिपादित करना आरंभ किया था। डॉक्टरजी का प्रत्येक व्यवहार संघ–दर्शन और जीवन का अध्याय ही हुआ करता था। हिन्दू राष्ट्र के पुनरुत्थान संबंधी विचारों का यह प्रतिपादन इतिहाससिद्ध, तर्कसंगत एवं अनुभवजन्य होने के कारण भारत में धीरे धीरे उनका प्रभाव फैलने लगा और श्रीगुरुजी के हाथों में संघ का नेतृत्व सौंपा जाने तक उस विचार-धारा ने जनमन को पर्याप्त आकृष्ट कर लिया था। उस समय संघ का व्यक्त रूप भी लोगों की दृष्टि में आने लगा था। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में गुरुजी द्वारा संघ–कार्य का संचालन आरंभ हुआ और गत पंद्रह वर्षों में उन्होंने डॉक्टरजी के विचारसूत्रों को विशदकर अपनी ओघवती वाणी से जनसाधारण तक पहुँचा दिया है।

गुरुजी के मुख से डॉक्टरजी द्वारा प्रकट शुद्ध एवं प्रखर राष्ट्रवाद सुनने को मिलता है। डॉक्टरजी भारत को "इंडिया" कहना पसंद नहीं करते थे। बंबई की एक नयी बस्ती का "हिन्दू कॉलनी" नामकरण भी उन्हें अनुचित लगता था। वे कहा करते थे, "इस देश का तो सभी भूभाग हमारा ही है। यदि कहीं बाहर जाकर हम अपनी बस्ती बसायें, तो उसे 'हिन्दू बस्ती' कहना उचित हो सकता है।" यही सूक्ष्म सजगता गुरुजी में भी पायी जाती है। एक बार उनसे कहा गया कि 'हिन्दुत्वनिष्ठ' लोगों के साथ जलपान का कार्यक्रम निश्चित किया गया है। इस पर उन्होंने तुरंत कहा, "क्षमा कीजिये, इस शब्द–प्रयोग को मैं उचित नहीं समझता। यह कहना कि कोई लडका मातृनिष्ठ है या कोई नागरिक देशनिष्ठ है, उस व्यक्ति का अपमान करना है। ऐसी निष्ठाएं तो प्राकृतिक ही होती हैं और होनी चाहिए। प्राकृतिक बातों को बताने की आवश्यकता क्या है ? यह कहकर तो हम यही दर्शाते हैं कि वे अप्राकृतिक हैं। इससे व्यक्ति या समाज का गौरव नहीं बढता।" "राष्ट्रपिता" शब्द का भी विश्लेषण कर भारत में नये राष्ट्र को जन्म देने का दावा करनेवालों से उन्होंने प्रश्न किया था कि "व्यक्ति राष्ट्र का पुजारी, सेवक या घटक हो सकता है। किसी को राष्ट्रपिता कहना क्या यह कहने के समान नहीं कि बेटे ने बाप को जन्म दिया ?" भिन्न प्रांत से आये व्यक्ति का स्वतः को परदेशी मानना तथा अन्य लोगों के द्वारा भी उसको वैसा ही संबोधन दिया जाना भी हमारी एकराष्ट्रीयता की भावना से असंगत है, ऐसा गुरुजी का मत है। किसी भी असंगति को स्वीकार न करना संघ की विचारधारा की विशेषता है।

गुरुजी के प्रतिपादन में जिस बात पर सर्वाधिक बल दिया जाता है, वह है विधायक दृष्टिकोण। वे यह कभी नहीं कहते कि अंग्रेज यहाँ थे या पराये लोग सताते हैं, इसलिए हमें संघटित होना

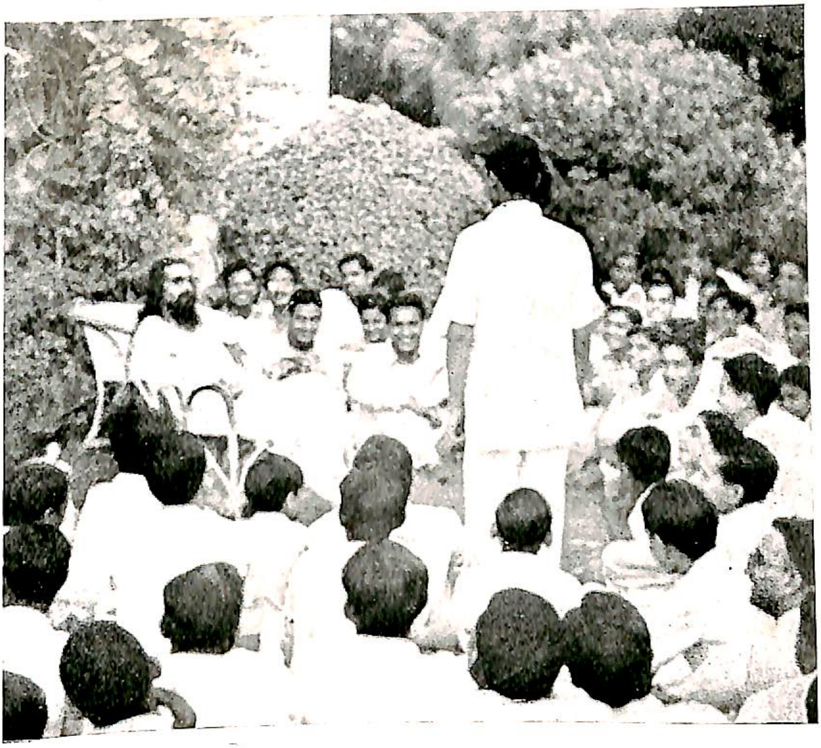

' स्नेह-रस-भरी वार्ताएँ '

केंद्र कार्यालय, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ,

चाहिए। उनके अनुसार हिन्दू समाज के उत्थान के लिए ही संघ ने यह कार्य अपनाया है। एक बार उन्होंने कहा था, "जिस प्रकार कुछ लोग दूसरों की ओर देखकर सोचा करते हैं, उसी प्रकार मैं कहता हूँ कि हम हिन्दू यहाँ थे, असंघटित हो गये और आज भी वैसे ही हैं।" एक भेंट में उनसे पूछा गया, "क्या आप कम्युनिस्टों से दो-दो हाथ करनेवाले हैं ?" इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, "दो-दो हाथ ! आस्तीन सँभालने पर हमें भरोसा नहीं है। हम तो इसी बात पर बल देते हैं कि हम सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होनेवाली बात का प्रचार करें और उसके लिए उद्योग करते रहें। लोगों को जो भी पसंद हो, चुन लें।" गुरुजी इस बात को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देते कि हिन्दू समाज के ति स्वाभाविक प्रेम से ही संघ-कार्य का उद्‌गम है तथा यह उत्कट प्रेम ही उसकी सफलता का रहस्य है। रूस में कम्युनिस्टों की सफलता का रहस्य, उसके नेता ने इन शब्दों में बताया था, "Intense hatred is the basis of our success" अर्थात् उत्कट घृणा ही हमारी सफलता का रहस्य है। इसमें थोडा सा परिवर्तन करके गुरुजी कहा करते हैं, " Intense love is the basis of our success" अर्थात् उत्कट प्रेम ही हमारी सफलता का रहस्य है। द्वेषमूलक तथा प्रतिक्रियात्मक विचार राष्ट्र की रचना के अधिष्ठान नहीं बन सकते।

हिन्दुत्व ही गुरुजी को अभिप्रेत अधिष्ठान है। इस बात को प्रकट करते समय संसार के किसी भी व्यक्ति की स्तुति-निंदा की रंच मात्र भी परवा किये बिना वे कहा करते हैं, "किसी को भला या बुरा लगने के भय से मैं सत्य को नहीं छिपाऊंगा। वहीं बात कहूँगा, जो राष्ट्र के लिए हितकारक हो। किसी भी कारण से मैं किसी की मुरव्वत नहीं करूँगा, न अपने विचारों को ही तोडूं-मरोडूंगा।" इतनी निर्भीक भूमिका के बाद वे आगे कहते

हैं, " परंपरा तथा संस्कृति के अभिमान से युक्त, एकरस तथा एकसूत्रबद्ध समाज ही राष्ट्र होता है। यह सिद्धांत अनेक अग्नि-परीक्षाओं में तपकर निखरा है। उसके आधार पर ही हम हिन्दू हैं और इसीलिए राष्ट्रीय हैं। हमारा हित ही राष्ट्रीय हित है। हम जो भी काम करेंगे, सब राष्ट्रीय होंगे। हमारा विरोध करनेवाले, हमारे मार्ग में रोडे अटकानेवाले सब लोग अराष्ट्रीय हैं। आत्मजाग्रत हिन्दुओं की संघटित सामर्थ्य ही भारत का अभ्युदय है। इसी समीकरण को दृष्टि में रखते हुए उस सत्य सिद्धांत के निर्भीक प्रतिपादन द्वारा ही लोगों के विचार शुद्ध करने का कार्य संघ कर रहा है।"

राष्ट्रसंबंधी इस सुस्पष्ट कल्पना के कारण श्रीगुरुजी भारत में नवराष्ट्र निर्माण के लिए प्रतिपादित प्रादेशिक राष्ट्रवाद की कल्पना को अशुद्ध, अव्यवहार्य एवं घातक मानते हैं। वे कहते हैं, "एकसंध समाज ही राष्ट्रधारणा की आत्मा है। किन्तु इस बात को भुलाकर या जानबूझकर इसकी उपेक्षा कर अन्य बातों को महत्व देने के कारण ही इस भ्रामक एवं घातक प्रादेशिक राष्ट्रवाद को अपनाया जा रहा है। अपनी इस भ्रामक एवं कायर धारणा से कि इस भूमि में रहने के लिए जो जो लोग आये, उन सभी की सहायता के बिना राष्ट्र का हित नहीं किया जा सकता, हमने ऐसों का, जो न कभी हमारे हैं तथा न कभी थे ही, आलिंगन करने का प्रयास किया तथा उसके लिए सब प्रकार के मूल्य चुकाने की तैयारी दर्शायी।" अंग्रेजी कुसंस्कारों से प्राप्त इस प्रादेशिक राष्ट्रवाद के कारण हमने अनेक समाजों के तथा-कथित समन्वय का जो प्रयास किया, उसका अनौचित्य सिद्ध करते हुए गुरुजी कहते हैं, "समन्वय के इस प्रयास में न तो आत्मसाक्षात्कार है, न भव्यता और न आत्मनिर्भरता ही है। इसमें यदि कुछ है तो पौरुषहीनता, दासता और भयग्रस्तता ही

है । समन्वय का यह प्रयास है साष्टांग प्रणिपातपूर्वक लज्जास्पद शरणागति ।"

इस नीति का धिक्कार कर संघ की भूमिका स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "संघ ने स्पष्टतया घोषणा की है कि हिन्दुस्थान हमारा हिन्दू राष्ट्र है । कुछ लोग इस प्रकार की घोषणा करने में इस भय से घबराते हैं कि अन्य समाजों तथा देशों के लोग हमसे नाराज होंगे, विरोध करेंगे । इसी भय से वे अन्यों से झूठी मैत्री जोडने के लिए अपने राष्ट्रीयत्व का हनन कर देते हैं । इस प्रकार की भीरुता से कभी उन्नति नहीं हो सकती ।"

किन्तु श्रीगुरुजी भली भाँति जानते हैं कि इस घोषणा के पीछे यदि सामर्थ्य न हो तो उसमें कोई दम नहीं है । वे कहते हैं कि " सिद्धांत के पीछे शक्ति न हो तो युक्तिवाद का कोई उपयोग नहीं होता । ऐसी दशा में कोई उस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता । हमारे पूर्वजों ने अपनी मेधा से अनेक सत्य सिद्धांत खोज निकाले, जीवन के मूलतत्वों का शोधन किया तथा मानव मन को चिरंतन शांति प्राप्त कराने का मार्ग बताया । हमें स्मरण रखना चाहिए कि सारे सिद्धांतों तथा श्रेष्ठ तत्वों का ज्ञान समस्त संसार को दोनों हाथ ऊपर उठाकर जोर से चिल्ला-चिल्लाकर देनेवाले व्यासजी को भी अंत में यही कहना पडा, 'नहि कश्चि-न्श्रृणोति माम् '– मेरी बात कोई नहीं सुनता । अतः प्रत्येक सत्य सिद्धांत के पीछे शक्ति की आवश्यकता होती ही है ।"

राष्ट्रकल्पना के पीछे शक्ति खडी करने की बात कहने में श्रीगुरुजी का एक और कारण है । उन्होंने यह भलीभाँति जान लिया है कि यद्यपि आज कुछ नेता विश्व-परिवार की व्यापक तथा मोहक कल्पना का प्रतिपादन करते हैं परंतु वह उनका भ्रम ही है । वे कहा करते हैं कि " आज सभ्य समझे जानेवाले

शक्तिशाली राष्ट्रों में महासंहारक शस्त्रास्त्रों के निर्माण की जो प्रतियोगिता जारी है, वह मानवता का लक्षण है या पशुता के ऊपर उठने का द्योतक है ? आज भी सभी राष्ट्र पशुभाव से ही प्रेरित हैं, यह भुला, देने से काम नहीं चलेगा।... हमें यही मानकर चलना होगा कि आज एक एक राष्ट्र अत्यंत स्वार्थी लोगों का समूह है। उन्हें अपने स्वार्थ के लिए दुनिया का सर्वनाश भी पसंद है। अन्य लोगों की इस भावना को पहचाने बिना व्यवहार करना आस्तीन में सांप पालकर गाढी नींद में सोने के समान है।" अतएव भारत को बलवान बनाने की आकांक्षा रखते हुए समाज को किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए इस विषय में उन्होंने स्पष्ट विवेचन किया है। दिल्ली में हंसराज कॉलेज के छात्रों के समक्ष बोलते हुए उन्होंने कहा था, "संसार में सच्ची स्वतंत्रता केवल बलसंपन्न तथा अत्युत्तम बनने की ही हो सकती है। मेरी उत्कट इच्छा है कि न केवल भारत के प्रत्येक सपूत को ही अपितु संसार के प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतंत्रता प्राप्त हो। इस प्रकार की स्वतंत्रता का अर्थ है राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और उसका मार्ग है बौद्धिक तथा नैतिक अनुशासन। अनुशासित जीवन से एकता, एकता से शक्ति, शक्ति से कर्तृत्व और कर्तृत्व से अपने महान् कर्तव्यों को निभाने की क्षमता उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी बात से परकीयों के लिए उपकारी सिद्ध होनेवाली परिस्थिति ही उत्पन्न होगी।" उत्कट राष्ट्रभक्ति के अभाव में उत्पन्न होनेवाले दुर्गुणों की चर्चा करते हुए उन्होंने आगे कहा, "निर्मल राष्ट्रभक्ति के अभाव में राष्ट्र के भीतर अत्यंत घातक दुर्गुणों की परंपरा उत्पन्न हो जाती है। राष्ट्र पर श्रद्धा न हो तो स्वार्थ निर्माण होता है, स्वार्थ पैदा हो जाय तो चारित्र्यशून्यता आ जाती है, चारित्र्यशून्यता से विच्छेद तथा विच्छेद से दुर्बलता

उत्पन्न होती है। ऐसे दुर्बल राष्ट्र को कवलित करने के लिए परकीय सदा ताक लगाये रहते हैं।"

गुरुजी का निश्चित मत है कि भाषणों, लेखों अथवा उपदेशों मात्र से उपर्युक्त राष्ट्रीय गुणों की निष्पत्ति संभव नहीं है। वे कहते हैं, "चारित्र्यशून्य व्यक्ति दुर्गति की किसी भी सीमा तक जा सकता है। किन्तु यह चारित्र्य कैसे निर्माण हो ? उसके निर्माण के लिए अपना हृदय भक्ति से परिपूर्ण होना चाहिए। मनुष्य के सम्मुख जब उपासना का उत्कट रूप होता है, तभी उसका साक्षात्कार पाने के लिए वह अपना कुछ न कुछ समर्पण करने की भूमिका अपनाता है। राष्ट्र भी एक श्रेष्ठ उपास्य है। राष्ट्र की कल्पना भूलते ही स्वतः का रूप आँखों के सम्मुख आकर खडा हो जायगा अर्थात् पर्याय से स्वार्थ की भावना ही अंतःकरण में स्थान पा लेगी। इसी स्वार्थ की भावना को निर्माण न होने देने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। उस प्रेममयी भावना से मन में स्वार्थ का लेश भी नहीं रह जाता। भक्ति से निरपेक्ष वृत्ति पैदा होती है और मनुष्य अहंकार को भूलकर ध्येय के साथ एकरूप हो जाता है। भक्ति के कारण मन की आसक्तियां दूर होती हैं। 'भक्ति' शब्द में ही उत्कटता है। संसार में दो ही अवस्थाएं संभव हैं, भक्त या विभक्त। उत्कट राष्ट्रभक्ति निर्माण करने पर व्यक्ति के द्वारा राष्ट्र के लिए चाहे जैसा त्याग किया जा सकता है तथा वह त्याग उसे स्वाभाविक भी प्रतीत होगा।"

ऐसी भक्ति को शक्तिदायिनी बताते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं कि ऐसे भक्तिपूर्ण हृदयों का एकमुखी संघटन ही प्रचंड शक्ति को जन्म देता है। किन्तु 'एकमुखी' शब्द सुनते ही कुछ लोग इसे पश्चिम के नाजीवाद अथवा फासिज्म का रूप समझने लगते हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। श्रीगुरुजी कहते हैं, "एकमुखी संघटन

से शक्ति उत्पन्न होती है परंतु एकमुखी का अर्थ यह नहीं कि कोई एक ही व्यक्ति सब पर अधिकार चलाये। एकमुखी संघटन वह होता है, जिसमें सबके हृदय तथा मन एक होते हैं, पारस्परिक प्रेम तथा विश्वास होता है, 'हम सब एक है' की भावना होती है, और उस भावना से नेता का नेतृत्व स्वीकार करने की प्रवृत्ति निर्माण होती है।"

ऐसा संघटन खडा करने का प्रभावी तंत्र संघ ने बनाया है तथा अनुभवों के आधार पर उसे सफल भी कहा जा सकता है। इस तंत्र के विषय में गुरुजी कहते हैं, "अनेक अंतःकरणों को संपर्क में लाकर उन पर एक ही संस्कार करते हुए, उन्हें सुयोग्य रीति से परखकर, एक सूत्र तथा अनुशासन में बांधकर, एक ही ध्येय तथा मार्ग पर न्यायसंगत एवं सत्य सिद्धांतों के रक्षार्थ चलने के लिए खडा करना ही संघटन कहलाता है। अन्य किसी भी बात का विचार न करते हुए, अपनी ध्येय-प्राप्ति के लिए एक बार स्वीकृत सत्य मार्ग पर अविचल निष्ठा रखकर तथा उसके लिए अविश्रांत श्रम करनेवाले लोग जहाँ असीम प्रेम से एकत्र होते हैं, वहीं संघटन संभव होता है। संघटन अंतःकरणों का मिलन करनेवाला तथा उससे निष्पन्न एक रसायन है। समान हित या संकट जैसी क्षुद्र बात पर संघटन नहीं हो सकता। संघटन सभी के एकत्रित जीवन के साक्षात्कार पर खडा होता है। संघटन में सब तरह के व्यक्ति आते हैं। प्रत्येक की प्रवृत्ति तथा गुण भिन्न हुआ करते हैं। इस तरह के सभी प्रकार संघटन में समाये रहते हैं। 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार भिन्न–भिन्न मति के व्यक्ति संघटन में लाये जाते हैं किन्तु उनकी ये मतियाँ सदा ही पूरक होती हैं, विरोधी नहीं।"

रा. स्व. संघ के संघटन में सभी के विचार एक ही जैसे साँचे में ढले रहते हैं, इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कुछ लोग

उसे अंध अनुयायित्व का परिणाम बताते हैं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। बिना सोचे समझे हजारों युवकों के एकत्र हो जाने मात्र से वर्धिष्णु संघटन का निर्माण नहीं हो सकता। संघ का प्रचंड संघटन ही इस शंका का समुचित उत्तर है। संघटन में सबके विचार एक से ही क्यों होते हैं, इसकी मीमांसा करते हुए गुरुजी कहते हैं, "हम सभी लोग विचार करते हैं और ठीक ठीक विचार करने के कारण ही उनमें एकता उत्पन्न होती है। आम का वृक्ष हो तो उसे सभी व्यक्ति आम का वृक्ष ही कहते हैं। मत-स्वतंत्रता हो, तो भी गणित का उत्तर भिन्न क्यों होना चाहिए ?...संघ में विचारों की एकात्मता है किन्तु प्रतिभा और बुद्धि की स्वतंत्रता है।"

गुरुजी जब यह कहते हैं कि संघ का संघटन राजनैतिक ढंग का न होकर सांस्कृतिक है, तब उनकी संस्कृति की कल्पना केवल बाह्याचारों या प्रतीकों पर निर्भर नहीं होती। वे कहते हैं, "हमने अपनी आँखों के सम्मुख हिन्दू-भूमि और हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना खडी की है। राष्ट्र संस्कृति का व्यावहारिक रूप होता है और संस्कृति संस्कारों का परिपाक। संस्कृति उन संस्कारों का समुच्चय है, जिनपर समाज की एकात्मता निर्भर करती है।" वे आगे कहते हैं, "इस भूमि पर उसके पुत्र के नाते रहनेवालों का यह राष्ट्र है। उनके नाम पर ही राष्ट्र का नाम, उनका इतिहास ही राष्ट्र का इतिहास तथा उनका जीवन ही राष्ट्रीय जीवन है। विशुद्ध राष्ट्रीयता की यही कल्पना सबको ग्रहण करना चाहिए।"

संघ के सांस्कृतिक संघटन में योग्य संस्कार निर्माण करने के लिए संघ के दैनिक कार्यक्रम सर्वोत्तम साधन सिद्ध हुए हैं। इस विषय में गुरुजी आत्मविश्वासपूर्वक कहते हैं कि "यह हमारी कार्यपद्धति है, इसलिए यह कार्य भी है। यह कार्यपद्धति न रही तो कार्य भी असंभव हो जायगा।" संघ में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति

पर भी एकात्मता तथा निःस्वार्थ सेवा के जो संस्कार किये जाते हैं, वे भी संघटन का मर्म समझने के लिए आवश्यक हैं। गुरुजी जाति, प्रांत, भाषा, संप्रदाय आदि सभी बाहरी भेदों को एक ओर रखकर अखंड भारत की उपासना करने को कहते हैं। वे कहते हैं, "भारत अनादि याने इतिहासपूर्व काल से हमारा घर है हमारे पूर्वजों ने इस घर की मर्यादाओं का निर्माण तथा रक्षा अत्यंत परिश्रमपूर्वक तथा आवश्यकता पडने पर अपना रक्त भी देकर की है। इस घर को बढाने का संपूर्ण दायित्व आज हमारा है। इस घर की सुंदरता तथा सौष्टव बढाने का अपना कर्तव्य हमें कर्तृत्व का परिचय देते हुए निभाना चाहिए। हिमालय से कन्याकुमारी तक फैली इस संपूर्ण भूमि का प्रत्येक कण हमारा है। प्रत्येक पवित्र तीर्थस्थान हमारा अपना है। यही हमारी दृढ श्रद्धा है।" इस प्रकार अखंड भारत की पूजा का प्रतिपादन करते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं, "पूजा सदा निरपेक्ष भावना से ही करनी पडती है। पूजा के बदले में कुछ पाने की भावना व्यापार ह। तन, मन, धन, ज्ञान और सम्मान को राष्ट्रपुरुष के चरणों में समर्पित कर स्वतः अलग हो जाना ही पूजा की सच्ची विधि है।" राष्ट्रमाता का ऐसा पूजन करने के लिए यौवन का होम करके भी आगे आने का आवाहन गुरुजी करते हैं। वे कहते हैं, "प्रचंड श्रम की तपस्या में अपने शरीर का होम करना ही हमारी परंपरा है। आजकल हमें अपनी जीवन–शक्ति का अत्यंत सतर्कता से व्यय करने का पाठ पढाया जाता है। 'आज विश्राम करके कल अधिक काम कर सकूंगा'–ऐसा कहना आज कोट न पहिनते हुए उसे कल के लिए सुरक्षित रखने के समान है, इतना ही नहीं तो पहनने के लिए कोट के बेकाम हो जाने तक उसकी रक्षा करते रहने के समान है। इसी प्रकार गलितगात्र होने तक शरीर को सुरक्षित रखने का पाठ लोग पढाते रहते हैं। किन्तु यौवन–गंध से परिपूर्ण तथा विकसित देहपुष्प को ही राष्ट्रदेवता के चरणों पर अर्पित करना चाहिए। गंधहीन या मुरझाये हुए

फूल का समर्पण आराध्य देव को स्वीकार नहीं होता।" गुरुजी जानते हैं कि इस सर्वस्वार्पण के लिए भी कुछ व्यावहारिक मर्यादाएं रखनी होंगी। अनिवार्य कारणोंवश सभी लोग स्वतः को पूर्णतः भूलकर कार्य के साथ तादात्म्य नहीं पा सकते। इसीलिए वे कहते हैं, "गृहस्थ बनकर गृहस्थी तथा संघ–कार्य, इन दोनों बातों का मेल रखें और भली भाँति कार्य करते रहें। विवाहित जीवन सच्चा दायित्वपूर्ण जीवन है। उसके कारण अपना समाज-ऋण बढता है। उस ऋण को चुकाने का प्रयास न करते हुए केवल पारिवारिक सुख के लिए छटपटाना प्रत्यक्ष परमात्मा के साथ प्रतारणा करना है।"

आजकल के समाज–जीवन में अधिकारों की भाषा सर्वत्र सुनायी देती है और कर्तव्य की ओर लोगों का ध्यान नहीं रहा है। इस संबंध में गुरुजी कहते हैं, "हमें सभी ओर से सब तरह के प्रश्नों ने घेर रखा है। यदि उन सबको हल करना हो तो प्रत्येक अधिकार का मेल उसके अटल कर्तव्य के साथ बिठाना चाहिए। सच्ची शांति और वैभव को प्राप्त करने का यही मार्ग है। इतना ही नहीं अपितु संघ के स्वयंसेवकों को प्रत्यक्षतः निरपेक्ष और निर्हेतुक भावना से, व्यक्तिगत जीवन में मान–सम्मान और बडप्पन का जरा भी विचार न करते हुए, सेवा को ही अधिकार समझकर, समाज को ईश्वर-रूप मानते हुए कार्य करना चाहिए। संत तुकाराम के अनुसार हममें यही भाव हो कि संपदा और सम्मान न भी मिले, संसार मुझे ठुकरा दे, तो भी मैं अपने उपास्य के लिए सर्वस्वार्पण करूँगा।"

ऐसी सेवा से पूर्ण त्याग–भावना का गौरव करते हुए गुरुजी कहते हैं, "समाज–कल्याण के लिए किया गया त्याग सर्वश्रेष्ठ होता है।" सच्चे राष्ट्रभक्त का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, "सच्चा राष्ट्रभक्त वह, जो स्वतः के लिए संन्यस्त होकर राष्ट्र के

लिए दिनरात छटपटाता रहता है।" इस प्रकार की संन्यस्त वृत्ति के लिए मानवी स्वभाव के अहंकाररूपी सबसे बडे दोष को दबाने का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं, "मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो अवसर पडने पर धन दे देगा, प्राण भी त्याग देगा परंतु अहंकार का त्याग नहीं करेगा। किन्तु सर्वस्वार्पण ही संघ की सीख है। व्यक्ति–व्यक्ति में जिस एकता का निर्माण हमें करना है,उसका आधार यही भावना है। अन्यथा एकात्मता सर्वथा असंभव है। इसीलिए अहंभाव का त्याग अपरिहार्य है। स्वतः को संघटन का एक घटक मात्र जानकर इस अहंभाव का त्याग करना चाहिए कि मैं बुद्धिमान हूँ और मुझे ही सब कुछ आता है।"

अहं-त्याग के साथ ही संघटन के प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव में परिवर्तन करने की सिद्धता रखनी चाहिए। इस संबंध में गुरुजी कहते हैं, "संघटन के सभी लोगों को तेजस्वी तथा स्वाभिमानी होना चाहिए। उनमें सभी गुणों का प्रकटीकरण तो अवश्यंभावी है ही, साथ ही चार लोगों के साथ मिलकर चलने तथा सबसे सहयोग करते हुए काम करने की प्रवृत्ति भी आवश्यक है। स्वयंसेवक की प्रवृत्ति 'लोग मेरे साथ चाहें तो अपने को मिला लें, परंतु मैं स्वतः जैसा हूँ वैसा ही रहूँगा' की नहीं होनी चाहिए। मन में सदैव यह आकांक्षा रहे कि मैं अपने आपको सुयोग्य बनाऊंगा। प्रत्येक को यह तेजस्वी विचार करना चाहिए कि मुझमें जो भी दुर्गुण या संघटन-कार्य में बाधा डालनेवाली बातें हों, उन सबको प्रयत्नपूर्वक नष्ट करते हुए अपने गुणों का संघटन के लिए प्रकर्ष करूँगा। बैलों जैसे मूक जानवर को भी यदि कुछ दिन एक साथ जोता जाय, तो वे भी अपनी चाल एक दूसरे के अनुकूल बना लेते हैं। फिर क्या कारण है कि बुद्धिमान होते हुए भी हम वैसा नहीं कर सकते। जिसमें सबके साथ चलने की शक्ति नहीं, वह तो मुर्दा है, क्योंकि मुर्दा ही

दूसरों की भावनाओं के साथ समरस नहीं हो पाता। व्यक्ति कितना ही गुणवान क्यों न हो, यदि उसे सहयोगियों से मेल रखने का महत्व नहीं ज्ञात होता, तो उसके सारे गुण कौडी कीमत के भी नहीं हैं। संघटन के लिए अनुकूल गुणों का उत्कर्ष करते हुए हमें घातक बातों का नाश करते रहना चाहिए।"

अहंभाव छोडने की बात कहना सरल है, उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना अत्यंत दुष्कर है। हरे रंग के साँप जब घास में घूमते हैं, तब उन्हें पहिचानना कठिन होता है। अहंभाव भी ऐसे ही धोखे के रंग ओढकर आता है। इस संबंध में गुरुजी कहते हैं, "आत्मविश्वास और अहंभाव, ये दोनों एक दूसरे से भिन्न वस्तुएं हैं। मनुष्य में अहंकार की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। 'मैं अत्यन्त अहंशून्य तथा विनम्र हूँ'--यह भावना अहंभाव का सूक्ष्मतम रूप है।" अहंभाव तजने से होनेवाले आनंद का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, "अहंभाव मनुष्य को कुछ आनंद अवश्य प्रदान करता है परंतु उसे तज देने से प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता अवर्णनीय है।" उसे तजने का उपाय बताते हुए वे कहते हैं, "उसके लिए अखंड चिंतन ही एकमात्र उपाय है। स्वभाव-परिवर्तन को कठिन मानकर घबडाने का कोई कारण नहीं।"

गुरुजी का कहना है कि चार लोगों से मेल रखने के लिए सहिष्णु-वृत्ति पर्याप्त नहीं। वे कहते हैं, "सहिष्णुता तो अति सामान्य बात है। मैं उससे भी आगे बढकर यह अपेक्षा करता हूँ कि एक व्यक्ति दूसरे का आदर करे, उससे स्नेह करे, तभी उन दोनों तथा समाज में एकता निर्माण हो सकेगी।" संघटन पर टीका तथा निंदा के प्रहार करनेवालों के प्रति भी सौजन्य का व्यवहार करने का परामर्श देते हुए वे कहते हैं, "जिन्हें अपनी शक्ति का भरोसा हो उन्हें इधर-उधर न देखते हुए, वितंडा आदि की झंझट में न पडते हुए गंभीर व्यवहारपूर्वक चलना

चाहिए। फूत्कार तथा कटु आलोचना करना हमारे गंभीर कार्य को शोभा नहीं देता। कोई सौ गालियाँ दे तो भी उसे अपना ही जानकर हम उसके साथ वितंडा या मारपीट नहीं करेंगे अपितु प्रेमपूर्ण एवं शुद्ध निष्ठा को ही प्रकट करनेवाली वाणी का प्रयोग करेंगे।"

संघटन के व्यक्तियों को अपने चारित्र्य के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पक्ष उज्ज्वल रखने चाहिए। यह कहनेवालों से कि व्यक्तिगत रूप से हम कैसे भी क्यों न हो, राष्ट्र का कार्य तो हम करते ही हैं, वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "हमारे शास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य को अंतर्बाह्य शुद्ध एवं पवित्र रहना चाहिए। कच्ची नींव पर खडा किया गया मंदिर कितना भी सुंदर और भव्य क्यों न हो, ढहे बिना नहीं रह सकता। मनुष्य स्वभावतः ही अनेक मोहों में फँसता है। धन, स्त्री, पुत्र आदि का मोह उसे होता ही है। सबसे बडा मोह होता है प्रतिष्ठा, बडप्पन, सम्मान का। साधारण मोहों से मनुष्य स्वतः को बचा सकता है परंतु लोकेषणा के मोह से बचाना अत्यंत दुष्कर होता है। इन मोहों को जन्म देनेवाली बातों पर जिसका नियंत्रण हो, सामने कितने भी मोह खडे होने पर जिसका मन झुक न सके, ऐसे ही व्यक्ति को आदर्श मानना चाहिए।" संघटन किसका आदर्श अपने सम्मुख रखे, इस विषय में वे कहते हैं, "हौतात्म्य भले ही अति तेजस्वी हो, वह राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए अपर्याप्त होता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो हौतात्म्य को दुर्बलता का ही चिह्न मानना चाहिए। भीषण परिस्थिति के आघातों को सहना असंभव होने पर क्रोध से भभककर नष्ट हो जाना कोई महत्वपूर्ण आदर्श नहीं है।" इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि हुतात्माओं के प्रति गुरुजी के मन में आदर का भाव नहीं है। "हमारी राष्ट्रीयता" पुस्तक उन्होंने

ऐसे ही हुतात्माओं को समर्पित की है, जो अपने ही देशबंधुओं से निंदा और तिरस्कार सहकर भी सच्ची राष्ट्रीयता की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने के लिए बलिदान हो गये। हुतात्माओं का विवेचन करते हुए वे कहते हैं, "शहीद हो जाने की भावना के शिकार बने लोगों में परिस्थिति की प्रतिक्रिया के प्रवाह में बहने के बजाय उसपर सवार होने, उसका स्वामी बनने की आकांक्षा नहीं होती। शांतचित्त एवं कुशलता से कामकर, विचारपूर्वक परिस्थिति में से मार्ग निकालने की शक्ति उनमें नहीं हुआ करती।" इस दोष के कारण ही राजपूतों के पराक्रम की असफलता का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि "राजपूतों का आत्मबलिदान एक अत्यंत वीरतापूर्ण, तेजस्वी किन्तु अनुचित इच्छा को व्यक्त करनेवाली भ्रमपूर्ण भावना है। भारतीय इतिहास के वीर ग्रंथ का वह एक संस्मरणीय किन्तु दु:खदायक अध्याय है।" इससे आगे, संघटन के सभी व्यक्तियों को विजिगीष वृत्ति का होने पर बल देते हुए वे कहते हैं, "बुद्धिमान मनुष्य हृदय में सदा विजय की आकांक्षा रखता है और उसकी दृष्टि सदा अंतिम विजय पर ही केन्द्रित रहती है। इसी कारण वह प्रतिक्रियात्मक वृत्ति का शिकार न होकर परिस्थिति पर पैर रखते हुए आगे बढता है और अपने जीवन तथा भविष्य की रचना करता है। केवल मरना या मारना उसका लक्ष्य नहीं हुआ करता। अपनी प्रवृत्ति रचनात्मक होने के कारण वह विजय को ही अपना गन्तव्य मानकर उचित नीति को अपनाते हुए बिना शोर मचाये आगे बढता चला जाता है। जिन्होंने इस प्रकार का ध्येयोन्मुख जीवन बिताकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त की, वे ही हमारे आदर्श हैं। श्रीरामचंद्रजी ने इसी नीति के आधार पर सफलता पायी थी। नारी-हत्या क्षात्र-धर्म के विरुद्ध माना गया है तथा शत्रु के सामने खुले मैदान में दो–दो हाथ करना ही उनका धर्म कहा गया है। किन्तु रामचंद्रजी ने

ताडका राक्षसी का वध किया तथा वृक्ष की ओट से बालि पर तीर चलाया। आततायी स्त्री हो या पुरुष, उसे मारकर धर्मराज्य स्थापित करने के परमधर्म के कारण रामचंद्रजी ने निश्शंक होकर ये कार्य किये। भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की भी यही नीति थी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी विजिगीषु वृत्ति का उपदेश देते हुए कहा था कि 'दुष्ट अधार्मिक लोगों तथा उनका पक्ष लेनेवालों का दमन कर साधुता तथा न्याय की प्रतिष्ठा करना तुम्हारा कर्तव्य है।' यही हमारी प्राचीन सांस्कृतिक नीति है और उसी के अनुसार व्यवहार करते हुए हमें अपनी शक्ति तथा ध्यान अंतिम विजय पर केन्द्रित करना चाहिए।"

ऐसी विजिगीषु वृत्ति के श्रेष्ठ प्रतीक के रूप में श्रीगुरुजी छत्रपति शिवाजी का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं, "श्रीशिवाजी महाराज महान् नीतिज्ञ थे। युद्धनीति विजयप्राप्ति का शास्त्र होती है। इस का सम्यक् ज्ञाता चारों ओर की हलचल तथा अशांति के कारण अपनी योजना से कभी विचलित नहीं होता। किसी वस्तु की गति आजमानी हो, तो एक स्थान पर स्थिर रहकर उसकी ओर देखना पडता है। स्वतः दौडनेवाला अस्थिरचित्त व्यक्ति दूसरी गतिमान् वस्तु की गति नहीं जान सकता। शिवाजी महाराज भी ऐसे ही शांत, संयमी और स्थिरचित्त पुरुष थे। इसीलिए वे परिस्थिति की गति को ठीक परख सकने में समर्थ होते थे। विजयाकांक्षी व्यक्ति अपनी दृष्टि अंतिम विजय पर ही केन्द्रित रखता है। वह अपनी राजनीति से विचलित नहीं होता। उसे विजय का पूरा विश्वास होता है। निराशा, दुर्बलता तथा अविवेक उसके मन को स्पर्श तक नहीं कर सकते। भीषण आँधी और तूफान में भी वह हिमालय की भाँति अडिग खडा रहता है। शिवाजी महाराज ने अपनी विजयशालिनी युद्धनीति से अपने जीवन में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना कर दिखायी। यह सफल और विजयी पुरुष हमारा आदर्श है।"

इसी विजयी परंपरा के प्रतीक के रूप में संघ ने परमपवित्र भगवा ध्वज को अपना गुरु माना है। इस संबंध में श्रीगुरुजी कहते हैं, "अनादि काल से चली आरही परंपरा का यह प्रतीक है। इसके एक-एक धागे में अनंत इतिहास निहित है। इसकी एक एक दीप्ति में आत्मयज्ञ की दिव्य ज्वाला धधकती रहती है। इसकी छाया में खडे होकर हमारी असंख्य पूर्व पीढियों ने आत्मसमर्पण का पाठ सीखा है। हमारा स्फूर्तिकेन्द्र यही भगवा ध्वज है। भौतिकता को पीछे हटाकर भारतीय जीवन को विराट बनानेवाली त्यागमयी संस्कृति का स्मरण दिलानेवाले इस ध्वज की ओर हम परम श्रद्धामयी दृष्टि से देखते हैं।"

राजनीति से अलिप्त रहने में संघ की एक निश्चित भूमिका है। जीवन में आजकल राजनीति को जो महत्ता प्राप्त है, वह श्रीगुरुजी के मत में अनुचित है। वे कहते हैं, "जीवन राजनीति से कहीं अधिक उच्च और विशाल है। जीवन का प्रमुख अंग राजनीति नहीं, संस्कृति है। भारतीय जीवन में राजनीति को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक छोटा सा विभाग माना गया है। राजनीति को सर्वव्यापी मानना भारतीयता की आत्मा को ही भुला देना है।" इस कारण प्रत्येक व्यक्ति की मनोरचना चारित्र्यपूर्ण, अनुशासनबद्ध तथा राष्ट्र के लिए पोषक बनानेवाले व्यापक सांस्कृतिक कार्य को ही संघ ने अपने हाथ में लिया है। संघ का विश्वास है कि इसी कार्य से समाज एकरस तथा बलवान बनेगा और राजनीतिक क्षेत्र के दोष नष्ट होंगे। सुसंघटित समाज तथा सत्ता का पारस्परिक संबंध बताते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं, "सत्ता आकाश से नहीं टपका करती। वह मनुष्य से, जनता की सामर्थ्य से ही उदित होती है। जनता में से ही कोई सत्ता ग्रहण करता है। भारत का अभ्युदय हिन्दू संस्कृति के ही अनुसरण से होगा, यह दृष्टिकोण रखकर कोई भी शासनाधिष्ठित हो, हम

यह कहेंगे कि 'कोउ नृप होय, हमैं का हानी ।' क्या कोई जनता की अनुमति के बिना कुछ भी कर सकता है ? तो फिर सोचिये कि सत्तालोलुपता से दूर रहकर राष्ट्रसंवर्धन एवं एकता-निर्माण का कार्य कितना श्रेष्ठ है । राज्य समाज के अनुरूप ही होता है, इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा, "सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाले चंद्र की भाँति राजसत्ता को भी जनता के प्रकाश से जीवन, चैतन्य और तेज प्राप्त होता है । सूर्य की प्रभायुक्त चैतन्यमयी शक्ति की भाँति यदि हम जनता की आशा-आकांक्षा के मूर्त रूप बनते हैं, तो उस प्रकाश में विचरनेवाली सत्ता और किस प्रकाश को परावर्तित करेगी?" इसी कल्पना से संघ समाज को संघटित करना चाहता है।

गुरुजी मानते हैं कि सांस्कृतिक कार्य के लिए राजसत्ता अल्प और मर्यादित मात्रा में ही उपकारक हो सकती है । किन्तु वे यह नहीं मानते कि राजसत्ता के अनुकूल न होने से वह काम रुक जायगा । उन्हें विश्वास है कि राजसत्ता के विरोधी होने पर भी सांस्कृतिक कार्य बढ सकता है और अपने प्रभाव से राजसत्ता को भी उज्ज्वल बना सकता है । इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए वे कहते हैं, "भगवान् बुद्ध का नाम लेकर हिन्दू विचार-प्रणाली को खंडित करते हुए सब कुछ नष्ट करने का प्रयास किया गया और परिणामस्वरूप हमारी जीवन-श्रद्धा नष्ट हो गयी । किन्तु राज्यशासन बौद्ध होते हुए भी सत्ताशून्य शंकराचार्य ने संपूर्ण भारत में सांस्कृतिक अधिष्ठान पर शक्ति जाग्रत की और राज्यशासकोंसहित उनका बौद्ध संप्रदाय जडमूल से नष्ट कर दिया । श्रद्धा, बुद्धि, कार्यप्रवणता तथा दर्शन की नींव पर खडे होकर उन्होंने सफलता प्राप्त की, जिससे अंत में राजसत्ता को भी नवचैतन्य प्राप्त हुआ ।"

भारत में कम्युनिस्ट विचारधारा की छाया श्रीगुरुजी को घातक प्रतीत होती है। इन सिद्धांतों के अशुभ प्रतीत होने का कारण उनके पीछे खडा रूसी प्रभुत्ववाद है। इस विषय में वे कहते हैं कि "विदेशों में अपने गुर्गे निर्माणकर उनको डकार जाने की साम्राज्यवादी चाल बहुत दिनों से चली आ रही है। विदेशों के इन स्वदेशी गुर्गों को पंचमांगी कहा जाता है। ये लोग भारत की छीछालेदार करने में लगे हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व मुहम्मद गजनी के समय में जो हुआ, पृथ्वीराज के समय में जो हुआ, वही आज होने जा रहा है। हमारे ही लोग शत्रु के लिए भेदिये बन गये तथा उन्होंने विदेशियों को देश जिता दिया। यह परिस्थिति पुनः निर्माण हो रही है। इतना ही नहीं, अपितु अब उसे एक सैद्धांतिक भूमिका भी देने का प्रयास हो रहा है। पहले इस घटना को बेईमानी, गद्दारी आदि विशेषणों से संबोधित किया जाता था। अब उसे सैद्धांतिक आधार देकर अपनी साम्राज्यलिप्सा को छिपाने का उद्योग किया जा रहा है। प्रत्येक सजग व्यक्ति को दिखायी देगा कि यह कार्य अत्यंत योजनापूर्वक किया जा रहा है।" कम्युनिस्टों की विचार-प्रणाली और प्रचार-तंत्र भी श्रीगुरुजी को सदोष प्रतीत होते हैं। उन्हें वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत स्वीकार नहीं। वे कहते हैं, "क्या भारत में ऐसी विषमता है ? हमारे यहां के पूंजीपतियों का धन यूरोप तथा अमेरिका के पूंजीपतियों की तुलना में नगण्य है। यहां तो धनवानों से लेकर निर्धनों तक क्रमशः एक सीढी ही पायी जाती है। अतः यह कहना कि समाज में दो वर्ग हैं, सर्वसाधारण जनता को धोखे में डालना है। समाज को दो वर्गों में विभाजित करने की यह चाल है। दो वर्ग तथा उनके संघर्ष न तो अटल हैं और न ऐसे संघर्षों से वर्गविहीन समाज का निर्माण संभव है।" राजसत्ताशून्य समाज में सब सुखी होंगे, इस कम्युनिस्ट आदर्श के संबंध में गुरुजी ने कहा है कि "मनुष्य का स्वभाव

सर्वसाधारण प्राणी से अधिक चतुर है और यह सत्य नहीं कि वह अपना पेट भर लेने के बाद दूसरे की रोटी लेकर नहीं भागेगा। यह भुला देने से काम नहीं चलेगा कि मनुष्य उस कुत्ते की भांति है, जो गाय-बैलों के चारे की नांद में बैठकर न तो खुद चारा खाता है और न किसी को खाने देता है। दूसरों के सुख में हस्तक्षेप करना उसका स्वभाव है। यदि सत्ता न रही तो वह दूसरों को सताये बिना कैसे रहेगा? मनुष्य विकारों का शिकार होनेवाला प्राणी है। विकार ऐसी वस्तु हैं, जो तृप्त करने का प्रयत्न करने पर भी अधिकाधिक प्रबल ही होते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य एक दूसरे से स्नेहयुक्त व्यवहार कैसे करेगा? मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि समता निर्माण होने के पश्चात् भी वह विषमता उत्पन्न करेगा तथा पुनः क्रान्ति की आवश्यकता होगी। क्रांति तथा अखंड रक्तपात ही कम्युनिस्टों का आधार होने के कारण वे 'इन्कलाब जिंदाबाद' का नारा लगाते हैं। किन्तु हम क्या चाहते हैं—क्रान्ति चिरायु हो या शांति? सदा-सर्वदा क्रांति की घोषणा करते रहना सशस्त्र संघर्ष तथा अराजकता को निमंत्रण देना है। 'इन्कलाब जिंदाबाद' का नारा मानव को शोभा देनेवाला नहीं है।"

गुरुजी कम्युनिज्म का विरोध एक अन्य कारण से भी करते हैं। वे कहते हैं, "कम्युनिज्म एक जीवन-प्रणाली है। हमारी भी एक राष्ट्रीय जीवन–प्रणाली अस्तित्व में है तथा उसकी श्रेष्ठता सर्वसिद्ध है। राष्ट्र को अनेक शताब्दियों की महा-भयंकर आपत्तियों में से विजयी निकालने में उसी ने समर्थ बनाया तथा अपना जीवट असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है। मैं प्रयोग करने से डरता नहीं किन्तु हमारी जीवन-प्रणाली अनु-भवों से सफल सिद्ध होने के कारण अब इस ढंग के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है।"

श्रीगुरुजी की मान्यता है कि "सूखी पत्तियों की भांति राज्य के झड जाने की" कम्युनिस्ट कल्पना सफल होने योग्य नहीं परंतु भारतीय नीतिशास्त्रानुसार धर्म के कारण राज्यविहीन समाज की कल्पना अवश्य सफल हो सकती है। वे कहते हैं, "हमारे यहां कहा गया है कि--

न राज्यं न च राजासीन्न दंडो न च दांडिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

अर्थात् उस समय न राज्य रहेगा, न राजा, न राजसत्ता रहेगी, न दंडविधान रहेगा और यह धर्म के आधार पर ही संभव होगा। सभी के अभ्युदय एवं आत्मसाक्षात्कार के आधार पर ही समाज सुखी होकर नियंत्रणशून्य समाज की स्थापना होगी।" वे आगे कहते हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार हमारे पूर्वजों द्वारा व्यक्त यह विचार कि कलियुग के बाद कृतयुग आता है, संगत है। वे कहते हैं " कलियुग में सर्वत्र संघर्ष दिखायी दे रहे हैं। धर्म के अभाव में जीवन दुःख, दैन्य और अशांति से युक्त होगया है। हमारे पूर्वजों को इस स्थिति की कल्पना थी परंतु फिर भी वे निराश नहीं हुए। उन्होंने पराजय या स्वयं के प्रति हीनता की भावना का स्पर्श भी नहीं होने दिया तथा कृतयुग की कल्पना सबके सम्मुख प्रस्तुत की।

" उसे कृतयुग इसलिए कहा गया कि वह हमारे ही प्रयत्नों से निर्माण होनेवाला है। उस युग में धर्म अपने परिपूर्ण रूप में प्रकट ोगा। सबमें एकता की भावना होगी। संपूर्ण मानव समाज में समान सुख–दुःख की भावना निर्माण होगी। ऐसा मानव समाज निर्माण कर उसे सुसंस्कृत बनाना हमारा उद्देश्य है। सत्ता या बाह्य नियंत्रण के आधार पर नहीं अपितु केवल धर्मभावना से संपूर्ण समाज की एकात्मता अनुभव करना, राष्ट्र की अखंड सेवा करना तथा अपना सुख-दुःख भुलाकर

अपने बंधुओं के लिए सर्वस्वार्पण करना ही कृतयुग के निर्माण का मार्ग है। हिन्दू संस्कृति के इस चित्र को पहले हम अपने इस राष्ट्र में खडा कर दिखायेंगे, दुनिया का विचार तो बाद में किया जा सकेगा।"

गुरुजी जानते हैं कि आज भारत में अतिकठिन दरिद्रता छायी है, अतः संसार से भौतिक सुखसंपन्नता लेनी पडेगी। किन्तु लेने का यह व्यवहार करते समय यह आवश्यक होगा कि हमारे पास भी देनेयोग्य कुछ वस्तु हो। इस संबंध में वे कहते हैं, " आज की समस्त भौतिक प्रगति आत्मसात करने के साथ संसार को भारतीय सुधा से स्नान कराने के लिए पशुता से मानवता और मानवता से ईश्वरत्व की ओर ले जानेवाला अभ्युदय और निःश्रेयस् से पूर्ण समाज यहाँ निर्माण करना पडेगा।" ऐसे प्रभावी समाज के निर्माण के लिए हमारे रोम-रोम में "स्व"तंत्रता होनी चाहिए। किन्तु अंग्रेजों के चले जाने के बावजूद भी सच्ची स्वतंत्रता नहीं मिली है। सच्ची स्वतंत्रता की कसौटी बताते हुए वे कहते हैं, " क्या उन लोगों में, जो 'स्वतंत्रता मिल गयी' कहते रहते हैं, परंपरा का अभिमान तथा स्वदेश की महान् विभूतियों के आदर्श सामने रखकर आगे बढने की आकांक्षा पायी जाती है? क्या यह माना जाता है कि राष्ट्रहित ही सर्वस्व है? क्या यह इच्छा प्रकट की जाती है कि मेरा जो भी है, राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर देना चाहिए? यदि ये सारी बातें हों, तभी सच्ची स्वतंत्रता होगी। इनमें से एक भी बात कम होने पर वह स्वतंत्रता नहीं हो सकती। स्वतंत्राता-प्राप्ति के लिए जितने परिश्रम करना पडते हैं, उससे भी अधिक परिश्रम उसे सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक होते हैं। यही नहीं अपितु राष्ट्र का गौरव, मान-सम्मान और वैभव समाज के संघटन पर ही निर्भर रहता है। प्रत्येक

परिस्थिति में समाज की संघटित अवस्था अनिवार्य होती है। इसीलिए हम संघ-कार्य को परिस्थितिनिरपेक्ष कहते हैं।"

गत अनेक शताब्दियों से कोटि कोटि जनसंख्यावाले इस देश में समाजसेवार्थ आगे बढनेवाले व्यक्तियों का अकाल पडे तथा राष्ट्रीय नेताओं को "आदमी चाहिए" की पुकार लगाने की नौबत आये, यह अतीव दु:ख की बात है। समर्थ रामदास तथा स्वामी विवेकानंद जैसे महापुरुषों को कर्तृत्वसंपन्न व्यक्तियों के अभाव का रोना रहा था। स्वामी विवेकानंद ने एक भाषण में कहा था, "मुझे ऐसे लोग चाहिए, जिनके स्नायु लोहे के, ज्ञानतंतु फौलाद के और हृदय वज्र के बने हों। मुझे ऐसे नरसिंह चाहिए, जिनमें ब्राह्मणों का तेज तथा क्षत्रियों का वीर्य एकत्र हो।" लोकमान्य टिळक का अनुभव भी इससे भिन्न नहीं था। मद्यनिषेध सत्याग्रह के लिए सौ सच्ची श्रद्धा तथा वीरता के लोग उन्हें नहीं मिले। सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी के श्रीगोखले की माँग भी यही थी। सोसायटी के विधान में उन्होंने लिखा था, "व्रत लेने के समान इस कार्य को स्वीकार कर आगे बढनेवालों की संख्या पर ही इस कार्य की सफलता निर्भर है।" मनुष्यों की इस कमी को दूर करना ही गुरुजी के मत में सबसे बडा रचनात्मक कार्य है। वे कहते हैं, "आज तक हम लोगों के राज्य आदि बने किन्तु राष्ट्र के रूप में संघटन की शक्ति का प्रवाह अबाधित रूप से जारी रखने का विचार कभी नहीं किया गया। संघ ने वही विचार किया है।" श्रीगुरुजी को इस पर कतई विश्वास नहीं कि सेना निर्माण करने मात्र से राष्ट्र को निर्भय रखा जा सकता है। वे कहते हैं, "राष्ट्र को आक्रमण के भय से मुक्त होना हो, तो राष्ट्र को नित्यसिद्ध अवस्था में रहना चाहिए। किन्तु नित्यसिद्ध अवस्था का अर्थ केवल सैनिक तैयारी नहीं, अपितु संपूर्ण राष्ट्र का एकसूत्रमय,

अनुशासनबद्ध जीवन तथा संसार के सभी आक्रांताओं का माथा पैरों तले रगडकर अखंड गौरवमय राष्ट्रजीवन को खडा करने के विषय में समाज का आत्मविश्वास है। संघ का मार्ग भी यही है। राष्ट्र में शक्ति-निर्माण करने का यह कार्य सभी समस्याओं के लिए रामबाण है।" श्रीगुरुजी का यह भी कहना है कि केवल इने गिने महापुरुषों के कारण राष्ट्र बलवान नहीं बन सकता। इसके लिए तो महापुरुष और सर्वसाधारण व्यक्ति के मध्य का अंतर न्यूनतम होना चाहिए। राष्ट्र के नेता तथा जनता के मध्य कर्तृत्व, ध्येयनिष्ठा तथा चारित्र्य में आज कितना अंतर है, इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं, " समय समय पर उत्पन्न महापुरुष ताड के समान् ऊंचे थे तथा अन्य समाज झाडियों जैसा था। कबीर ने ठीक कहा है :

बडा भया तो क्या भया, जैसे ताड खजूर।
पथिकन को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥

पास–पडौस की झाडियों में वही अत्यंत ऊंचा दिखायी देता है। लेकिन इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह इन झाडियों में से ही उत्पन्न हो सकता है।" श्रीगुरुजी का विश्वास है कि व्यक्तिमात्र में श्रेष्ठता के बीज होते हैं और विशिष्ट संस्कारों से अंकुरित कर उनको महावृक्ष बनाया जा सकता है। इसी विश्वास से प्रेरित होकर वे कहते हैं, "अब पाँच–दस लोग तैयार करने से काम नहीं चलेगा। सामान्य व्यक्ति का स्तर बढाना पडेगा। यदि सामान्य व्यक्ति बडा नहीं बनता तो प्रगतिरूपी प्रवाह की गति अवरुद्ध होकर हम पर नित नये संकट आयेंगे। प्रयत्न करनेवाले चिरंजीवी नहीं होते, इसलिए राष्ट्र में ऐसे लोगों की परंपरा आवश्यक होती है। संपूर्ण समाज का स्तर ऊँचा कर उसे अखंड परंपरा द्वारा बनाये रखा, तभी भयंकर जागतिक संघर्ष के इस युग में हम टिके रह सकेंगे। इसी बात को समझकर संघ उस दिशा में प्रयत्न कर रहा है।"

राष्ट्रोन्नति का यह महाप्रयास अत्यंत दत्तचित्त से तथा सर्व–शक्ति लगाकर करना होगा। इसीलिए कार्य की अत्यावश्यकता का प्रतिपादन करते हुए गुरुजी कहते हैं, "अपने सच्चे स्वरूप की विस्मृति हो जाने के कारण हम पर लगातार आघात किये जा रहे हैं। हमारा राष्ट्रजीवन क्षत–विक्षत तथा खंडित होकर सब प्रकार से इतना अपमानित और पराभूत हो गया है कि हमें हिन्दू के नाते जीवित रहना कठिन हो गया है। इस प्रकार का दृश्य दिखायी दे रहा हो, तब इस बात की नितांत आवश्यकता है कि हम अपने इस पवित्र कार्य को अत्यंत आग्रह के साथ, अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करते हुए प्रत्येक हिन्दू के हृदय तक पहुँचा दें। इस अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य को करना रा. स्व. संघ अपना सौभाग्य समझता है।" इससे आगे वे कहते हैं, "हमें किसी भी वस्तु को बचाकर न रखते हुए समर्पण ही करना चाहिए। ऐसा करने से मन, बुद्धि, शरीर आदि भी अपने नहीं रहेंगे किन्तु उससे ही हमें अखंड प्रेरणा मिलती रहेगी और अंतःकरण के गुण प्रकट होंगे। फिर हमारे सम्मुख कोई दुष्ट शक्ति टिक नहीं सकेगी। अपने कंधों पर सारी दुनिया को उठा लेने के आत्मविश्वास एवं क्षमता से हमें " नमयतीव गतिर्धरित्रीम् " सा चलना चाहिए!" केवल यही करने से भारत का मानचित्र बदला जा सकेगा, ऐसा गुरुजी का विश्वास है। कोटि कोटि देशबंधुओं द्वारा इसी पर अपना संपूर्ण ध्यान केन्द्रित कर, शरीर के अवयव एवं मन की पारस्परिक एकात्मता के समान, स्वतः को देश का अंग–प्रत्यंग मानकर भारतीय संस्कृति के अनुसार आगे बढने के प्रयास के संबंध में वे कहते हैं कि "एक ध्येय, एक स्फूर्ति तथा एक जाग्रति से विश्वशांति का प्रदाता भारत फिर से एक बार जगद्गुरु का सम्मान प्राप्त करेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।"

गुरुजी का व्यक्तित्व

"गुरुजी" शब्द सुनते ही आँखों के सम्मुख कृश शरीर, मध्यम ऊँचाई तथा प्रसन्नचित्त व्यक्ति का चित्र आ जाता है। पीठ पर झूलनेवाले काले लंबे केश, विशाल और उन्नत भाल, तेजस्वी नेत्र, आत्मविश्वासदर्शक नासा, बिखरी हुई दाढी और उत्फुल्ल हास्य के साथ उनका व्यक्तित्व खिल उठता है। ढीला सा कुरता, साफ धोती, कंधे पर शाल या तौलिया और पैरों में चप्पलें पहने वे सदा पाये जाते हैं।

उनकी मनोरचना ऐसी है कि चार आदमियों के साथ रहा जाय। कभी कभी अपने साथियों तथा अनुयायियों के कारण उन्हें अपनी इच्छा को छोडना भी पडता है। गत कुछ वर्ष से वे ऐनक लगाने लगे हैं। एक स्थान के संघचालक ने उनसे आग्रह किया कि ऐनक का फ्रेम सोने का हो। गुरुजी ने इससे इनकार कर दिया। इस पर उस सज्जन ने दूसरी चाल चली। उसने कहा, "देखिये गुरुजी, जहाँतक ऐनक के शीशे का प्रश्न है, वह आपसे संबंधित है। इसलिए हम उसके विषय में कुछ नहीं कहेंगे। लेकिन जहाँतक उसके फ्रेम का संबंध है, वह केवल हम लोगों को दिखाई देता है। अतः वह कैसा हो, यह आपको हम पर छोडना होगा।" ऐसे ही प्रेमपूर्ण आग्रह के कारण उन्हें कभी कभी अच्छे फाउन्टेन पेन, घडियाँ तथा रेशम के वस्त्र आदि उपहार में दिये जाते हैं। आत्मीयतापूर्वक कुछ देनेवाले के हृदय को न दुखाने के लिए गुरुजी उनकी चीजों को स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु कुछ ही दिन बाद वे वस्तुएं प्रवास में मिलनेवाले कार्यकर्ताओं

के पास दिखायी देने लगती हैं । इस हाथ से लेकर उस हाथ से देना ही गुरुजी का क्रम रहता है ।

अन्य लोगों के समान ही व्यवहार करते हुए प्रेरणा देने तथा साथ ही किसी भी भाँति की अलौकिकता प्रकट न करने का संत ज्ञानेश्वर का आदर्श उन्हें प्रिय है । स्वयंसेवकों के सम्मुख भी वे इसी आदर्श को प्रस्तुत करते हैं । दाढी तथा केशों के कारण, जो सरसंघचालक बनने से पूर्व से ही उनके साथ हैं, उनके व्यक्तित्व में अलौकिकता अवश्य आ जाती है परंतु उसका कारण ऊपर बताया ही जा चुका है ।

उनकी दाढी तथा लंबे केशों के कारण कभी कभी मनोरंजक घटनाएं हो जाती हैं । सन् १९४४ में कोचीन राज्य के एर्नाकुलम नगर में नयी शाखा प्रारंभ करने में सहायता देने के लिए गुरुजी गये थे । सायंकाल आयोजित एक सभा में भाषण देने के लिए वे पैदल ही निकले तथा सभास्थल पर पहुँचे ही थे कि एक सज्जन आगे बढे और अत्यंत भक्तिभावपूर्वक हाथ जोडकर कहने लगे कि 'मेरे यहाँ आकर आप मुझे उपकृत करें ।" अपरिचित स्थान के इस आग्रह से सभी को आश्चर्य हुआ । लेकिन गुरुजी उनके यहाँ गये तथा उनका आतिथ्य स्वीकार किया । बाद में जब इस घटना के विषय में विशेष पता लगाया गया, तब ज्ञात हुआ कि वे सज्जन गुरुजी को चमत्कारी साधु समझकर पुत्रलाभ का आशीर्वाद पाने के लिए अपने घर ले गये थे । इस बात से सबका बडा मनोरंजन हुआ ।

गुरुजी आस्तिक और भावुक हैं । देश में निरंतर भ्रमण करते समय वे कार्यक्रमों से अवकाश मिलने पर विभिन्न स्थानों के मंदिरों तथा मठों में जाते हैं तथा वहाँ के पवित्र वातावरण में निमग्न होजाते हैं । मंदिरों में जाते समय वे किसी को अपने गले

में पुष्पमाला नहीं डालने देते। मदुरा के मीनाक्षी मंदिर में जब वहाँ का पुजारी उन्हें हार पहिनाने को उद्यत हुआ, तब उसे मना करते हुए गुरुजी ने कहा, "भगवान् के घर में हम मनुष्य हार पहिनने के अधिकारी नहीं हैं।" अहंभाव उनके मन में झांकता तक नहीं। बंबई में किये गये भव्य स्वागत का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि "ऊँट की लगाम के सहारे आगे चलनेवाला चूहा यदि कहे कि मैं ही ऊँटों का यह कारवाँ चला रहा हूँ, तो कितनी हास्यास्पद बात होगी। संघटन में मेरा स्थान भी वैसा ही है।" इसी मनोवृत्ति से संघटन के व्यवहार में पुष्पमालाओं तथा जयजयकारों की ओर दुर्लक्ष्य कर वे केवल कार्यवृद्धि की ही ओर ध्यान दिया करते हैं। इस संबंध में निम्नलिखित बात उनकी मनोरचना की परिचायक है। एक बार उन्होंने कहा था, "मैंने तो संकल्प किया था कि परमात्मा की प्रेरणा से भारतीय राष्ट्रजीवन की ज्योति और उसकी आत्मा—संस्कृति की सेवा करते हुए तथा उसी अधिष्ठान पर खडे हिन्दू समाज को एकसूत्र में गूंथते हुए चुपके से इस संसार से अन्तर्धान हो जाऊँ, लोगों को मेरा पता तक न चल सके।"

इसी निरपेक्ष सेवाभाव से गुरुजी के जीवन का शील उदित हुआ है। उनकी मधुर विनम्र वाणी, दूसरों के दुःखों को समझकर उन्हें दूर करने की मनोवृत्ति, सत्कारों के प्रति उदासीनता और कार्य के लिए तादात्म्यता आदि उसी शील की अभिव्यक्ति हैं। किसी भी स्थान से प्रस्थान करते तथा बडे-बूढों से मिलते समय आप उन्हें झुककर ही प्रणाम करता हुआ पायेंगे। प्रौढ या वृद्ध स्वयंसेवक जब उन्हें प्रणाम करने के लिए झुकते हैं, तब वे उन्हें " आप मुझसे बडे हैं " कहकर मना कर देते हैं। इसी बात के लिए युवकों को मना करते हुए वे विनोदपूर्वक कहते हैं " आप सब हाथ लगा लगाकर मेरे पैरों को घिस डालेंगे।"

समाज की आज की भीषण परिस्थिति देखकर वे बेचैन रहते हैं। ऐसी अवस्था में यही एक बात उनके मन को समाधान देती है कि इस परिस्थिति में आमूल परिवर्तन करनेवाले संघटन के विकास तथा वृद्धि में अपने जीवन का क्षण-क्षण तथा अपने शरीर का कण-कण लगाया जाय। विश्राम की कल्पना ही उन्हें असह्य होती है। मित्रों के आग्रह के कारण कभी कभी वे विश्राम के लिए जाते अवश्य हैं परंतु उस समय भी प्रवास के अतिरिक्त उनके अन्य सभी कार्यक्रम अविराम चलते रहते हैं। सन् १९४३ में जब उन्हें विश्राम के लिए नासिक में श्रीकेसकर के " आनंद पीठ " में रखा गया, तब स्वयंसेवकों को यह सूचना दी गयी कि कोई भी आनंदपीठ न जाय, जिससे उनके विश्राम में वाधा न पडे। शाम को जब एक कार्यकर्ता नगर से डेढ मील दूर स्थित इस बंगले में उनके स्वास्थ्य की जानकारी लेने पहुंचे, तब गुरुजी ने कहा, " यहाँ मुझे जल से निकाली गयी मछली की भांति रख दिया गया है। मछली को विश्राम देने का क्या यही तरीका है ?" भक्ति की कसौटी यह है कि ध्येय का विस्मरण मात्र होने से व्याकुलता आ जाती है। गुरुजी का जीवन ऐसी ही अनन्य तथा उत्कट भक्ति से बना है। उन्हें विश्वास है कि समाज के लक्ष-लक्ष बंधु यदि समाज के सुख-दु:खों के साथ एकात्म हो जाते हैं तो देश की सभी समस्याओं का हल किया जा सकेगा। ऐसी एकात्मता का प्रतिपादन करते हुए एक बार उन्होंने कहा था, "प्रत्येक हिन्दू मेरा अपना है, इसी एक वाक्य में सारा स्पष्टीकरण समाया है। यदि इस अनुभूति से कि वह भूखा हो तो मुझे भी अन्न नहीं रुचेगा, सारे प्रश्न हल न होनेवाले हों तो अन्य किसी भी उपाय से वे हल नहीं हो सकेंगे। मेरे समाज के भूखे बंधु जबतक सुखी नहीं हो जाते, तब तक मुझे संतोष नहीं होगा—मन की यह भावना निर्माण होने से ही कार्य होगा। तादात्म्यता ही सभी प्रश्नों का एकमेव उत्तर है।"

इसी तादात्म्यता के कारण गुरुजी अपने जीवन को कभी नहीं दुलारते। घोडे को खिला-पिलाकर उसकी मालिश करनेवाला सईस उनका आदर्श नहीं है। उनका आदर्श तो उस पर सवार होकर सैकडों मील की दौड लगवानेवाले रईस का है तथा इस कारण वे देशकार्यार्थ अपने शरीर से अधिकाधिक श्रम करा लेने को तत्पर रहते हैं। उनकी कथनी और करनी सदा यही बताती रहती है कि "शरीर नश्वर है। हमारा शरीर उस वृक्ष जैसा है, जो बढता है, सूखता है तथा जिसे लोग अंत में जला डालते हैं। हमें उसका सदुपयोग करना चाहिए। अपने शरीर को सत्कार्यार्थ गला डालने में ही उसकी चरितार्थता है। शरीर केवल चिता पर भस्म हो जाने के लिए नहीं है। समाज का कार्य करते हुए ही उसे क्रमश: जला डालने में उसकी महानता है। ऐसा करने में ही शरीर तथा मन की धन्यता है।"

गुरुजी की भक्ति बुद्धिजीवी की भक्ति है। उसमें सरलता है, परंतु अंधता नहीं। तर्क तथा अनुभव से मेल न रखनेवाली बात वे कभी स्वीकार नहीं करते। "पुराना सो सोना" या "नया सो भला" जैसे किसी भी नारे के वे शिकार नहीं बनते। उचित तथा हितकर होने पर वे नया हो या पुराना, सभी को स्वीकार कर लेते हैं। वे कहा करते हैं, "जिस समय मैं किसी पुरानी बात को ग्रहण करता हूँ, उसे 'पुराअपि नवम्' अर्थात् पुराना होने पर भी नूतन जान लेने के बाद ही स्वीकार करता हूँ।" हर पुरानी बात को हेय माननेवालों से वे पूछा करते हैं, "क्या केवल इसलिए कि सूर्य पुरातन है, उसके स्थान पर नवनिर्मित ट्यूब लाईट लानी ही होगी?" इसी प्रकार पुराने को ही सर्वस्व मानना भी उन्हें अस्वीकार है। वे रहते हैं, "हवाई जहाज देखकर लोग कहते हैं कि यह तो वेदों में भी है। मैं ऐसा नहीं कहता। अन्य विचारों को लेकर हम हिन्दू संस्कृति को बडी बताना नहीं चाहते।"

पथप्रदर्शक हो हमें......'

किसी भी प्रकार के विरोध में भी आप उन्हें अविचल पायेंगे। यह मानकर कि केवल सत्कार्य होने के कारण हमारा कोई विरोध नहीं करेगा, वे शंकराचार्य, ईसामसीह, तुकाराम, आदि महापुरुषों को दिये गये कष्टों के उदाहरण देकर बताया करते हैं कि " समाज का भला चाहनेवालों के मार्ग में भी कष्ट ही आया करते हैं। डूबते को बचाने के लिए जानेवाले व्यक्ति को कभी कभी डूबनेवाला ही अपने साथ ले बैठता है।" इसी मनोवृत्ति के कारण घोर संकट में भी गुरुजी का मुख मलिन नहीं होता। एक बार उ. प्रदेश के गोसाईंगंज नामक स्टेशन पर उनका भाषण हो रहा था कि बीच में ही कुछ लोगों ने पथराव आरंभ कर दिया। गुरुजी के माथे पर एक पत्थर आकर लगा, फिर भी विरोधियों के बारे में एक शब्द भी न बोलते हुए उन्होंने शांतचित्त से " एकता का संदेश " दिया। सन् १९४९ में कोल्हापुर स्टेशन पर हुए सत्कार के अवसर पर भी कुछ लोगों ने उन पर पथराव किया था। उस समय उन्होंने स्वयंसेवकों को हाथ न उठाने का ही आदेश दिया तथा मोटर में बैठने से पूर्व इस विषय में पूछताछ कर ली कि महिलाओं तथा बच्चों को घरों तक पहुंचाने की समुचित व्यवस्था है या नहीं। उसी दिन श्रीभालजी पेंढारकर के स्टुडियो को घेरकर विरोधियों ने गाली-गलौज की तथा पत्थर फेंके। उस समय, कार्यक्रम प्रारंभ होने में समय होने के कारण, गुरुजी शांतचित्त से लो. टिळक का " गीता रहस्य " पढने में लगे थे। ऐसे अवसरों पर वे संयम और धैर्य ही प्रकट करते हैं। नेपोलियन कहा करता था कि अनुयायियों के लिए नेता के घबडा जाने जैसी निरुत्साह की बात दूसरी नहीं हो सकती। सौभाग्य से संघ को हिमालय से भी अधिक अडिग् नेतृत्व प्राप्त हुआ है। इंदौर में जब कुछ लोग "गुरुजी मुर्दाबाद" के नारे लगा रहे थे, गुरुजी ने अपने समीप बैठे कार्यकर्ता से विनोद में कहा, "ये लोग कह रहे हैं

कि मेरा मुर्दा भी आबाद होगा।" महाराष्ट्र के दावणागिरी स्टेशन की घटना भी ऐसी ही रोचक है। दो-चार विरोधी जब "संघी गुंडे हैं" का नारा लगाते हुए डिब्बे के समीप आये, तब गुरुजी ने कहा, "मुझे संतोष है कि दावणागिरी के लोग राष्ट्रभाषा का एक वाक्य तो बोल लेते हैं।"

इस सम्बन्ध में गुरुजी कहा करते हैं, "मुझे क्रोधित करने का प्रयास अनेकों ने किया, किन्तु मुझे किसी के प्रति द्वेष नहीं है। कोई भी व्यक्ति मेरा इतना नुकसान नहीं कर सकता कि मैं उससे द्वेष करूँ।" संघ के विरोधियों पर भी अपने प्रेम-कुसुमों की वर्षा करने की उदारता गुरुजी को अपने आत्मविश्वास से ही प्राप्त हुई है। एक बार उन्होंने कहा था, "अनेक लोग संघ का विरोध करने के लिए ही संघ जैसा संघटन बनाने का प्रयास करते हैं। मैं उनका हितचिंतक हूँ। विरोध के आवेश में यदि कोई मुझसे यह भी कहे कि 'तुम रौरव नरक में पडो' तो मैं उनसे कहूँगा कि 'आप मेरी शुभ कामनाएं लेकर स्वर्ग जाइये।"

गुरुजी ने आजतक अनेक बार संपूर्ण भारतवर्ष की यात्रा की है। इसीलिए वे कहा करते हैं, "रेल का डिब्बा ही मेरा घर है।" इसी प्रकार वे यात्रा के कष्टों की किंचित् भी परवा नहीं करते फिर भी स्वास्थ्यविषयक प्रश्न पूछनेवालों से वे यही कहा करते हैं, "यात्रा में मेरा स्वास्थ्य सर्वोत्तम रहता है।" उन्हें इन दौरों में बैलगाडी से लेकर हवाई जहाज तक सभी वाहन काम में लाना पडते हैं। समय बचाने के लिए वे रात में दौरा करना पसंद करते हैं। पहले कुछ वर्ष तक वे तृतीय श्रेणी में ही यात्रा किया करते थे, किन्तु युद्धकाल में ठसाठस भरे डिब्बों में उनके सोने के लिए स्थान किया जाना उन्हें ठीक नहीं लगता था। वे कहते, "अन्य सहयात्रियों के कष्ट में अपने को नींद कैसे आ सकती है ?" इस कारण उनके स्वास्थ्य की दृष्टि

से कार्यकर्ताओं ने उन्हें तृतीय श्रेणी छोडने के लिए बाध्य किया। वे सदा इस बात की दक्षता बरतते हैं कि अपनी कोई चीज खो न जाय। एक बार उनकी एक पेटी खो गयी, जिसमें स्वामी विवेकानंद की स्मृति में रखा चाकू भी चला गया। इस घटना से वे बहुत दु:खित हुए। इसी प्रकार एक बार उनकी तौलिया गुम हो गयी। इसका उन्हें खेद हुआ। साथ के लोग तौलिया के बडी क्षुद्र वस्तु होने की बात कहकर उन्हें सांत्वना देने लगे, जिस पर उन्होंने कहा, "मैं जानता हूँ कि तौलिया बडी मूल्यवान वस्तु नही है परंतु मेरी अदक्षता से वह गुम हो गया, इसी का मुझे खेद है। अदक्षता जीवन का एक दोष है और इसीलिए मैं चिंतित हूँ कि अभी भी मुझ में वह दोष शेष है।" यात्रा में गुरुजी अकारण ही किसी से बातें नही करते। वे पठन या मनन करते हैं अथवा निसर्ग की सुंदरता देखने में तल्लीन हो जाते हैं। फिर भी किसी भी वस्तु के लिए उनमें मोह या आतुरता नहीं पायी जाती। उनकी प्रथम विमान-यात्रा का वर्णन करते हुए एक कार्यकर्ता ने, जो उनके साथ थे, बताया, "यद्यपि यह उनकी पहली विमान-यात्रा थी, उन्होंने अन्य व्यक्तियों के समान नीचे का दृश्य देखने के लिए खटपट नहीं की। मै इसे 'समत्वं योगमुच्यते' के अनुसार योग की अवस्था मानता हूँ।"

इन दौरों में सहस्त्रों व्यक्तियों के साथ उनका संपर्क आता है। वे किसी भी प्रांत में जायँ, सभी के साथ ऐसी समरसता से मिलते हैं, मानो वहीं के निवासी हों। असंख्य लोगों का परिचय तथा विशेषताओं को स्मरण रखने की उनकी शक्ति असाधारण है। एक बार भी संपर्क में आये व्यक्ति को कई वर्ष बाद मिलने पर वे नाम लेकर पुकार सकते हैं। उनकी यह स्मरणशक्ति यद्यपि साधारणतया सर्वदा अनुभव की जाती है परंतु कुछ अवसरों पर तो विमूढ ही रह जाना पडता है। मद्रास की एक

घटना इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वे तिन्नेवेलि नगर में गये थे। वहाँ एक दिन प्रातःकाल वे रमणन् नामक स्वयंसेवक से भेंट करने गये। घर में वे उनके वृद्ध पिता से भी मिले। उन्होंने गुरुजी का यथोचित सत्कार किया। चायपान और बातचीत के बाद चलने के लिए तैयार होकर गुरुजी ने जब उन्हें नमस्कार किया, तब वे बोले, "आपके दर्शन से मैं धन्य होगया। आपसे मेरी यह पहली ही भेंट है, परंतु मैं कृतार्थ अनुभव करता हूँ।"

गुरुजी ने कहा 'दर्शन इत्यादि तो क्या, हम लोग अपने पवित्र कार्य के लिए ही मिलते हैं। लेकिन यह हमारी पहली भेंट तो नहीं है।"

"अर्थात् ? क्या इससे पूर्व भी हम मिले हैं ? संघ से मेरा परिचय तो पिछले वर्ष ही हुआ है और इसी वर्ष आप पहली बार यहाँ आये हैं।"

"आप नौकरी करते समय कभी नागपुर रहे हैं क्या ?"

"हाँ।"

"क्या आप कुछ दिन सरायपाली में थे ?"

"हाँ।"

"और जब आप सर्वप्रथम वहाँ गये, तो घर न मिलने के कारण एक अध्यापक के यहाँ ठहरे थे ?"

"हाँ, हाँ।" बेचारे वृद्ध सज्जन को लगा कि वह कोई ज्योतिषी हैं या जादूगर। उन्होंने फिर पूछा "पर यह सब आपको कैसे मालूम ?"

"उस समय," गुरुजी ने कहा, "उस घर में माधव नाम का एक १२–१३ वर्ष का लडका था। याद आया क्या ?"

"हाँ, हाँ, याद आया।"

"मैं वही हूँ।"

वे सज्जन दाँतों तले अंगुली दबाये देखते ही रह गये।

इसी स्मरण–शक्ति के कारण उन्होंने विभिन्न प्रांतों के असंख्य व्यक्तियों को अपने हृदय में स्थान दिया तथा उनके हृदयों में अपना स्थान बना लिया है। संपूर्ण भारतवर्ष में इतने अधिक व्यक्तियों से व्यक्तिगत परिचय रखनेवाला अन्य कोई भी नेता मिलना कठिन ही है। इसके विपरीत आज तो ऐसे नेताओं की हीं भरमार है, जो जनसाधारण से चार हाथ दूर रहकर ही संदेश तथा आदेश देने में अपने नेतृत्व की इति मान लेते हैं। एक व्यापारी स्वयंसेवक के उत्सुकतावश पूछने पर कि "आखिर आप इतने नाम कैसे याद रख पाते हैं", उन्होंने कहा, "आप व्यापारी लोग भी तो विविध वस्तुओं के भावों को, एक पाई की गड़बड़ किये बिना, बतला देते हैं, क्योंकि धन कमाने में आप तन्मय रहते हैं। इसमें विशेष बात क्या है ?"

गुरुजी अहेतुक प्रेम तथा मैत्री के भूखे हैं। उनका मित्र-परिवार संघ तक ही समित नहीं। संघ के बाहर तथा अहिन्दुओं में भी उनके स्नेह–संबंध पाये जाते हैं। अपने घनिष्ट मित्रों से मिलकर वे बडे प्रसन्न होते हैं तथा दिल खोलकर उनसे गपशप करते हैं। एक बार बहुत दिनों बाद मिले एक मित्र का आलिंगन करते हुए उन्होंने कहा था, "अरे भाई, यदि तुम लोग भी मुझे बडा मानकर दूर रहने लगोगे, तो मेरा क्या होगा ?" एक बार वे रैंग्लर श्रीरघुनाथराव परांजपे से मिलने गये थे। वहाँ उन्हें ७० वर्ष के श्रीपरांजपे की अपने मित्र, डेक्कन कॉलेज के प्राध्यापक श्रीशंकरराव साठे से "अरे–तुरे" के साथ की जानेवाली प्रेमपूर्ण बातचीत सुनने का अवसर मिला। मित्र–प्रेम की यह मधुरता उन्हें इतनी पसंद आयी कि यह घटना उन्होंने संघ की अनेक बैठकों में सुनायी। इसी मित्रता के कारण वे किसी को दवा देते, किसी की पढाई का प्रबंध करते तथा किसी की रात–रात भर

जागकर सुश्रूषा करते पाये जाते हैं। संघ के संविधान के अनुसार वे संघ के तत्ववेत्ता तथा मार्गदर्शक हैं परंतु फिर भी आप उन्हें स्वयंसेवकों तथा परिचितों को नौकरियाँ दिलाने से लेकर उनका विवाह करा देने तक की सामान्य दिखनेवाली असंख्य बातों को अत्यन्त सहजतापूर्वक करते हुए पायेंगे।

छोटे बालकों से विनोद करने में गुरुजी बहुत रस लेते हैं। चाहिए तो यह कि उनकी दाढी तथा जटाएं देखकर बच्चे उनसे भय मानें, परंतु अनुभव इसका उलटा ही होता है। गुरुजी कभी उनको गोद में उठायेंगे, कभी उन्हें चाँद और तारे दिखायेंगे तथा कभी उनके कान उमेठेंगे। बच्चे भी उनके साथ बहुत मगन रहते हैं। प्रान्त-प्रान्त में घूमते हुए गुरुजी ने उनकी भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। महाराष्ट्र हो या पंजाब, उत्तर प्रदेश हो या बंगाल तथा तमिलनाड हो या कर्नाटक, वे जहाँ भी जाते हैं तथा जिनके यहाँ ठहरते हैं, उनके बच्चे "गुरुजी आये, गुरुजी आये" या "गुरुजी बन्दिरुक्किरार, गुरुजी वन्दिरुक्किरार" कहते हुए आनंदविभोर होकर उनका स्वागत करते हैं। एक बार बंबई में जब एक ३–४ वर्ष के बच्चे को गोद में लेकर गुरुजी बात कर रहे थे, तब उसने गुरुजी की दाढी पर हाथ फेरकर पूछा—"हिन्दू होते हुए भी आप यह मुसलमानों जैसी दाढी क्यों रखते हैं ?" उसके इस नटखट–प्रश्न से गुरुजी तथा अन्य सभी व्यक्तियों का बहुत मनोरंजन हुआ।

गुरुजी यद्यपि भोजन की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, तथापि चाय उन्हें पसंद है। वे दिन में प्रायः तीन-चार बार चाय पीते हैं। चाय का यह परिमाण बढने का कारण जहां उसके प्रति उनकी थोडी सी रुचि है, वहां दौरों तथा लोकसंग्रह के कार्य में उसका प्रचलित आतिथ्य-माध्यम होना भी है।

सरसंघचालक होने के बाद से गुरुजी को अपने अखंड प्रवास में भाषणों, बैठकों तथा अन्य कार्यक्रमों में लगातार बोलना

पडता है। अपने बोलने के संबंध में भी एक बार उन्होंने कहा था, " मुझे भय है कि मैं रात को सोते समय भी बोलता होऊंगा। गृहस्थी के अभाव में मैं शब्दों का ही परिवार खडा करता रहता हूँ।" शब्दों का उनका यह परिवार अत्यंत सुव्यवस्थित तथा सज्जित होता है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, उच्चारण अत्यंत स्पष्ट तथा प्रवाह सहज होता है। उनकी वाक्यरचना यद्यपि लंबी होती है, तथापि अर्थबोध की कठिनाई कभी नहीं होती। उनका प्रतिपादन भावपूर्ण तथा शक्तिशाली होता है। उनकी आवाज में लय है तथा वह प्रायः एक समान चलती है, चढती-उतरती नहीं। विनयशीलता उनके भाषण में सोने में सुहागे का काम करती है। विपुल वाचन, मनन तथा निदिध्यासन के कारण उनका वक्तृत्व सुगंभीर तथा विविध दृष्टांतों से भरपूर होता है।

संघटन की तत्वप्रणाली का विवेचन करते हुए वे कभी कभी वेदांत का एकाध सिद्धांत इतनी उत्तमता से समझा देते हैं कि अन्तःकरण प्रसन्न हो जाता है। उनके भाषण मीठी चुटकियों तथा विनोद से भी परिपूर्ण होते हैं। राष्ट्रघातक बातों की आलोचना में वे प्रायः विनोद-शैली का प्रयोग करते हैं, जो अचूक लक्ष्यवेध करती है। ' इंडिया, देट इज भारत ' के संबंध में उन्होंने कहा था, " हम विधाता का धन्यवाद करते हैं कि उन्होंने 'इंडिया, देट इज भारत' ही कहा। यदि वे ' इंडिया, देट वाज भारत ' कहते, तो ही हम उनका क्या बिगाड सकते थे ?" गुरुजी से एक बार मुस्लिम-तुष्टीकरण नीति के समर्थक असम के एक नेता ने कहा, " असम में हिन्दू न रहें तो क्या, आदमी तो रहेंगे ?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया, " आदमी न रहें तो भी क्या, प्राणी तो रहेंगे ? और प्राणी भी न रहें तो भी क्या, जड पदार्थ तो रहेगा और जड पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता।" इसी

प्रकार भारत पर रूसी प्रभुता लानेवाले वामपंथियों (Leftists) के संबंध में उन्होंने एक बार कहा था "I think 'left' means those who have left all considerations of the Nation." विनोद तो गुरुजी के स्वभाव में ही घुल गया है। विद्वता के कारण व्यवहार में शुष्कता न आने देते हुए उन्होंने उसे अधिकाधिक मधुर तथा रोचक ही बनाया है। किन्तु विनोद के ही लिए विनोद वे कभी नहीं करते। उनका विनोद सीमा के बाहर कभी नहीं जाता, तथा वह स्वस्थ और सबल होता है।

उनका भाषण सुंदर सूक्तियों से परिपूर्ण होता है, जिनके कारण श्रोता उनके विचारों से आर्कषित होता है। "संविधान हमारा स्वामी नहीं, दास है", "वीर वही है, जो जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करे", "संघ अर्थात् सामूहिक शक्ति, विजय दिलानेवाली चैतन्यमयी तेजस्विता" आदि उन सूक्तियों के कुछ उदाहरण हैं, जिन्हें हम नित्य उनके मुख से अपरिमित संख्या में सुनते रहते हैं। संस्कृत, हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी पर उनका उत्तम अधिकार है और एक संस्कृत के अतिरिक्त अन्य तीनों भाषाओं में वे धाराप्रवाह भाषण देते हैं। उनके भाषणों में प्रकट होनेवाली निर्भीकता उनके हृदयस्थ आत्म-विश्वास की ही सूचक है।

गुरुजी की चाल अत्यंत तेज होती है। उसमें थकान का आभास भी नहीं होता। एक बार एक पत्रकार ने Saint in a hurry कहकर संत थॉमस से उनकी तुलना की थी। गुरुजी की उन्मुक्त हंसी भी उनके व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण पहलू है। लाखों युवकों को अनंत आपत्तियों का सामना करते हुए आगे ले जाने की उनमें क्षमता है। उनके संबंध में एक कवि ने कहा है :

माधव की वह मुस्कान अमर
बनकर जीवन की ज्योति-किरण
देगी जर्जर मानवता को
युग युग आशा, पौरुष, यौवन ।

उनके स्मित में दीख पडनेवाला यह दिव्य आशय वस्तुतः उनके विकासशील चारित्र्य का ही प्रभाव है। कहीं भी हों, प्रत्येक कृति करते समय वे दूसरे की मनःस्थिति की थाह लेने तथा स्वतः कष्ट सहकर भी दूसरों को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं। एक बार पूना में वे सायंकाल के समय पत्र लिख रहे थे। वे दो-तीन ही चिट्ठियाँ लिख पाये थे कि पडोस के कमरे में किसी ने रेडियो चला दिया और फिल्मी संगीत चारों ओर गूंजने लगा। पास बैठे स्वयंसेवक के मन में विचार आया कि गुरुजी के कार्य में इससे बाधा पड रही होगी, अतः भीतर जाकर रेडियो को बंद करवा दिया जाय। यह सोचकर वह उठनेवाला ही था कि गुरुजी ने उसके मन का विचार समझकर उसे रोक लिया और कहा, "अरे भाई, अभी अभी वह थका-माँदा आया होगा और संगीत से अपनी थकान मिटा रहा होगा। तुम क्यों बाधा डाल रहे हो ? मेरे लिखने में कोई कष्ट नहीं हो रहा है।" फिर वे लिखने लगे और ८-१० पत्र लिखकर ही उठे।

श्रीगुरुजी ने प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार का लोकसंग्राहक जीवन बना लिया है। उनका स्वभाव मूलतः उग्र था। किन्तु यह अनुभव करते ही कि संघटन के लिए वह हितकारी नहीं, उन्होंने विचारपूर्वक उसकी तीव्रता को कम कर लिया। उनके सामने अजातशत्रु डॉ. हेडगेवारजी का आदर्श था, जिनका क्रोध पानी के धब्बे की भाँति अल्पस्थायी होता था। उसी आदर्श के अनुकरण पर गुरुजी ने भी अपने जीवन को ढाल लिया है।

महिलाओं के विषय में उनकी भावना अत्यंत उदात्त है। पूना के टिळक मंदिर में महिलाओं ने उनका सत्कार किया था। तब अपने लिए लायी गयी पुष्पमाला उन्होंने लोकमान्य टिळक की मूर्ति को पहिनवा दी तथा कहा, "आज के समारोह को मैं माता द्वारा की गयी पुत्र की प्रशंसा मात्र मानता हूँ।" महिलाओं के संबंध में वे कहते हैं, "मैं स्त्री और पुरुष को समान नहीं मानता। पुत्र माँ की समानता कैसे कर सकता है ? मैं माता के रूप में परमात्मा को देखता हूँ।"

नागपुर में रहने पर श्रीगुरुजी दो बार घर जाते हैं तथा ताईजी के सहवास में थोडा सा समय बिताते हैं। शाम को घर पर कुछ खाकर ताईजी के हाथ की बनायी चाय पीते समय इधर–उधर की बातें होती रहती हैं। वे प्राय: ताईजी को छेडकर विनोद करते हैं। एक बार तीर्थयात्रा करके ताईजी के लौट आने के बाद गुरुजी को शरारत सूझी और उन्होंने कहा, "ताईजी, आप यात्रा के लिए जाती हैं और स्वयंसेवकों से काम करा लेती हैं। आपकी ओर ध्यान रखने के कारण बेचारों को संघ का काम करने की फुरसत ही नहीं मिलती। अत: आप तीर्थयात्रा तो जरूर करती हैं, परंतु उसका पुण्य स्वयंसेवकों को मिलता है।" जिस समय पंजाब में हत्याकांड जारी था, तब गुरुजी दौरे पर जाने की तैयारी कर रहे थे। ताई रसोई बना रही थीं और गुरुजी पूजा कर रहे थे। उस समय ताईजी ने कहा, "इस समय तू दौरे पर क्यों जा रहा है ? इस गडबड में दौरा कैसे हो सकेगा ? न जाने से काम नहीं चल सकता ?" इस बात में उनका मातृहृदय ही प्रकट हो रहा था। गुरुजी ने कहा, "यदि तुम चाहती हो कि मैं दौरे पर न जाऊँ तो तुम चौके से उठो, मैं रोटी बनाता हूँ।" ऐसे संभाषण उनके साथ रहनेवालों को जब तब सुनने को मिलते रहते हैं।

अपने व्यवहार के द्वारा उच्चतम ध्येय-साधना की प्रेरणा असंख्य व्यक्तियों को प्रदान करते हुए श्रीगुरुजी संपूर्ण राष्ट्र के जीवन को वेदांत के आदर्श में ढालते जा रहे हैं। शीघ्र ही भारत की धरती पर वह मंगल-दिवस उगेगा, जब उनका स्वप्न मूर्तिमान होकर प्रकट होगा।

शिवराज लिथो नागपूर.